

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DTATE	SIGNATURE

31318

आधुनिक
हिन्दी
कावित्त
में
विषय
और
शैली



डा० रां गे य रा घ व

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

क्रम

सूचिका	१
म-प, शिव और सुन्दर	१७
सामोप्य और संमगं के आलम्बन	५०
✓ आह्या और मून्याहन	७०
अनिन्द्यदिन और विमान	१०४
सविदना और स्वानुभूति	१४५
✓ प्रकृत धर्म और दर्शन	१६७
समाज और युग-सोमा	२०७
आत्म और लोकसंवहन	२३५
आधेय और विबोकरण	२५६
उदात्तोकरण और सानंजम्ब	२८०
✓ मानव-सम्कृति	३०६

भूमिका

काव्य में चेतना का तात्पर्य

काव्य तो चेतना का ही पर्याय है, फिर नयी और पुरानी का सघर्ष तो दूर, पहले इसे ही सोचना आवश्यक है कि उसमें फिर चेतना का प्रयोग ही किसलिए किया जाए। क्योंकि यह या तो विरोधाभास-मा लगता है या इसमें यह दृष्टि है कि जो कुछ है, हमारी ही पीढ़ी है और पहले काव्य में चेतना ही नहीं थी। इसलिए इसकी व्याख्या करना उचित है। काव्य तो सदैव से मानव-चेतना का प्रतिबिम्ब है। जब हम उसे काव्य में ढूँढते हैं, तब वह अप्रत्याश ही मिल जाती है। प्रकृति-वर्णन, लोक-वर्णन, समाज-वर्णन, व्यक्ति-वर्णन से लेकर अतः प्रकृति तक के वर्णन में वह हमें प्राप्त होती है। प्रतीको या पात्रों के माध्यम से वह ध्वनित हुआ करती है। अतः जब हम उसीपर केन्द्रित होते हैं तब समग्र सृष्टि का मानव-मस्तिष्क में चेतन-रूप जो विबीकरण है, उसे नहीं देखते, वरन् उसे देखते हैं जो मानवात्मा के उत्थान को प्रकट करनेवाली भावना है, जो उसे उदात्त बनाती है। परिपाटी का सौन्दर्य पार करके जब लेखनी नयी स्फूर्ति प्रदान करने में समर्थ होती है, तब हम उसे चेतना कहा करते हैं, क्योंकि बहुकृत्य-बहुकरणीय जीवन में कविता एक छन्द-बद्धता ही नहीं, एक सौन्दर्य है जो जीवन के प्रत्येक कार्य-व्यपार में होती है। वह सौन्दर्य ललित कलाओं के विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्ति पाता है, और लोकहित की कामना भी उसी सौन्दर्य के अतःगंत आती है। इस प्रकार जब हम काव्य में चेतना देखते हैं तो मानव उस चेतना को नहीं देखते जो मानवीय विकास का परिणाम है, वरन् उसे देखते हैं जो सर्वात्म को अपने में लीन करके उदात्त बनने की ओर प्रेरित करता है और मुदरता की अभिव्यक्ति को अपना सत्य और शिव बनाती है।

नवचेतना की व्याख्या

प्रत्येक युग अपने साथ कुछ परिवर्तन लाता है। आदिऋषि वाल्मीकि वास्तव में आदिऋषि नहीं थे। उनसे पहले उपनिषदों और उनसे भी पहले वेदों के कवि थे। किन्तु महाभारत-युग के अंत में जब लोक-काव्य के रूप में गेय महाभारत में लोक-गाथाएँ सबद्ध हुईं तब वाल्मीकि रामायण की पुरानी कथा में भी नये सबद्धन प्रारंभ हुए और क्योंकि

उसमें मानव को प्रथम बार प्रतिष्ठित किया गया, जिससे लोक में नयी चेतना आई, तो उसे आदिकाव्य कहा गया। यह 'नर राम' देवताओं से जीत चुका था। तो यह नव चेतना का ही उदाहरण है। महाभारत ग्रंथ यद्यपि पुराना है, और वर्तमान वाल्मीकि रामायण का रूप परवर्ती है, किन्तु रामकथा का युग महाभारत-युग से प्राचीन है। हो सकता है कि अपने मूल रूप में वाल्मीकि रामायण का छोटा-सा कलेवर महाभारत काव्य के रूपों से पुराना ही हो। उस दृष्टि से यह प्रथम नर-काव्य था। अतः इसे आदिकाव्य कहने का यह भी कारण हो सकता है। तो नवचेतना काव्य में प्रतिष्ठित सत्य, शिव और सुन्दर को नया रूप देने का ही नाम है। परिवर्तन का नाम 'नया' है, न कि पुराने को हेय या निन्दनीय समझना। एक समय आता है जब पुराने की उपादेयता इसलिए घट जाती है कि उसके मानदण्डों से नये युग की समस्याओं का हल नहीं हो पाता। युग-युग के साधन बदलते रहते हैं। पूर्वजों की देहलीज को लाधकर उत्तराधिकारी नये भवनों का निर्माण करता है। इसलिए नयेपन की मांग यह तो स्वीकार करती है कि पुराने की ही लकीर पीटते रहने से उसका काम नहीं चलता, परन्तु वह यह नहीं कहती कि पुराना सब व्यर्थ है, उसे तिरस्कृत करना चाहिए। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'नया' 'पुराने' की तब निंदा भी करता है, जब 'पुराना' उसे 'नया' बनने में रोकता है, उसके रास्ते में बाधाएँ उपस्थित करता है। वह बाधाओं को नहीं चाहता, क्योंकि वह परिवर्तित परिस्थिति में नये मूल्यांकन स्थापित करने की चेष्टा करता है। कालिदास ने इसीलिए कहा है कि पुराना होने से ही सब कुछ अच्छा नहीं हो जाता, न नया होने से ही ऐसा या इसके विपरीत होता है। मूल तो परम्परा पकड़े चलना है, जबकि बुद्धिमान दोनों में से सोच-समझकर रास्ता निकालता है और सारतत्त्व को ग्रहण करता है।

परंपरा से उसका तादात्म्य

एक बार एक चीनी और एक भारतीय में विवाद हो गया। भारतीय ने गर्व से कहा, "तुम्हारे देश में एक-दो महान उपदेशक हुए हैं—कल्पयुधिष्ठिर और ताओ। हमारे यहाँ कृष्ण, बुद्ध, महावीर, गानक, कबीर आदि भ्रमण हुए हैं।" यह सुनकर चीनी ने कहा, "आई, यह गर्व करने की बात नहीं, इसपर तो तुम्हें लज्जित होना चाहिए।" भारतीय ने पूछा, "ऐसा क्यों?" उसने कहा, "देखो! बार-बार गुरुओं के उपदेशों की आवश्यकता उन्हें पड़ती है, जिनका पतन क्षीण ही फिर-फिर हो जाता है। हमारे यहाँ अच्छा रास्ता एक बार बता दिया गया तो लोग उसपर चलते रहे। धर्म्यी भंडों की तरह भटके नहीं। तुम्हारे यहाँ इतनी भटकन है कि परमात्मा को तुम्हें बुद्धि देने की बार-बार गुरुओं की भंजना पड़ती है।" यह सुनकर भारतीय का गर्व लज्जित हो गया।

तो मैंने इस कथा को इसलिए सुनाया है कि समाज में बार-बार जब पतन घाता है तब परिवर्तन घाना है। चीन में कम मुधारक होने का अर्थ है, वहाँ विद्रोह कम

हुआ और भारत में अधिक होने का तात्पर्य है कि यहाँ विद्रोह अधिक हुआ। परिवर्तन की अधिक मांग रही। नया समाज बार-बार बनाने की चेष्टा हुई। मानवीय मूल्यों को बार-बार पुनरांकित करने का यत्न हुआ। यह किसलिए? इसलिए कि यहाँ मानव-वादी विचारधारा अधिक फैली, क्योंकि यहाँ समाज की व्यवस्था व्यवहार में बड़ी ही असमता पर स्थापित रही। परन्तु प्रत्येक युग में हम परिवर्तन देखते हुए भी, उसका अपने से पुराने युग से एक क्रमशः विकास देखते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता या दासता से चेतना की स्वतंत्रता या दासता नहीं मिलती। जब तुलसी-मूर का युग था, तब भारत मुगल साम्राज्य के नीचे बुरी तरह कुचला पड़ा था, किन्तु कवि-चेतना उतनी ही उद्दाम-प्रखर थी। जब बिहारी-देव के युग में मुगलों का वैभव भारतीय जनता पर इतना भयावह नहीं रहा था, तब कवि-चेतना उतनी प्रखर नहीं थी। जितना दुःख होता है, चेतना उतनी ही निखार लाती है। दासता के मध्यकालीन आठ सौ वर्षों में भक्ति के रूप में जिस मानववाद को भारत में प्रतिध्वनित कर दिया गया, वह पहले के युगों में इतना प्रचण्ड नहीं था, क्योंकि समाज तब इतना जकड़बद्ध कुरीतिपूर्ण नहीं था जितना बाद में हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि 'नये' का 'पुराने' से जो संबंध होता है वह 'भावना' का ही अधिक होता है।

उसका स्थायित्व और सार्वजनिक सत्य

तब प्रश्न यह उठता है कि युग तो बदलते ही रहते हैं, फिर साहित्य का स्थायित्व और सार्वजनिक सत्य क्या है? मानव-समाज के बाह्य परिवर्तनों की भाँति मनुष्य के भाव-जगत् में उनका परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वह मूलतः अपनी प्रवृत्तियों की नींव पर ही खड़ा होता है। अतः 'भाव' का स्थायित्व अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक है। जो साहित्य 'भाव' से सम्बन्ध रखता है, वह किसी भी वस्तु-विषय या रूप को लेकर भी, स्थायी तत्त्व अपने भीतर अधिक रखता है। मैंने इसी दृष्टि से नये काव्य को देखा है। मेरा उद्देश्य केवल उसका परिचय देना ही नहीं था, बल्कि उसकी उपलब्धियों को भी मनन के योग्य जानकर सामने लाना था, उसकी सुन्दरता को प्रकट करना था।

युग के प्रश्न बदल जाते हैं, मानव अपनी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती सांस्कृतिक परम्परा में उस एकसूत्र चेतना को देखता है, जिसमें मानव का उदात्त रूप, उसका सौन्दर्य चलना चला जाता हुआ दिखाई देता है। यह मानव का भावपक्ष ही है। उसका यथातथ चित्राकरण अपने में कोई विशेषता नहीं रखता। वह तो उसको चाहता है जो उसे आगे का पथ दिखाए, उसके सामने पथ को चौड़ा करता चला जाए। नये युग में इस कार्य की ओर जो प्रयत्न हुआ है, वही हमने यहाँ अपने विवेचन का विषय बनाया है। इसमें कितना सार्वजनिक और सार्वकालिक है, वह पाठकों के समक्ष स्पष्ट रखा गया है, और वे पढ़कर ही जान सकते हैं कि वे इसमें से कितना इस योग्य पाते हैं। इस दृष्टि से मैं समझता हूँ कि

नया काव्य हमें अधीर होने की कोई दुश्चिन्ता प्रदान नहीं करता। 'प्रतीक' पात्र आए हैं नयी समस्याओं के कारण जबकि 'लघुत्व' छोड़कर हम 'व्यापकत्व' की ओर बढ़े हैं। परन्तु अभी मैं समझता हूँ कि वह युग आने को है जब 'मनु और श्रद्धा' जैसे मानवीय प्रतीकों के बाद वे पात्र आएं जो कि प्रतीकों को अपने भीतर समेट लेने की क्षमता रखेंगे। सरस्वती के ये वरद पुत्र उसीकी चेष्टा में रत रहेंगे तो अवश्य ही 'युगवाणी' का सच्चा प्रतिध्वनित्व करके 'युग युग की वाणी' बन जाएंगे।

यही सावंधीम सत्य आज का कवि सृष्टि और मानव के उस तादात्म्य में खोज रहा है, जिसमें उसे एक नये सत्य का स्वरूप प्राप्त हो सके। स्थायी साहित्य के लिए जिसे जीवन-दर्शन और व्याख्या की आवश्यकता है, वह उसकी खोज में निरत हो गया है। मैंने नये काव्य के बहुमुखी व्यक्तित्व को एकरूप में देखा है, और एकरूप को बहुव्यक्तित्व के माध्यम से देखने की चेष्टा की है।

वस्तु और मनुष्य

वस्तु और मनुष्य-संबंध आज का नहीं, तब का है जब मनुष्य में साम्यता का भी उदय नहीं हुआ था। प्रकृति में ही मनुष्य ने अपनी आँखें खोली थीं। वह प्रारम्भ में जब बन्द-राशियों में भी रहना नहीं जानता था, तब भी प्रकृति ही ने उसे चारों ओर से घेर रखा था। वस्तुतः प्रकृति ही उसकी शिक्षक बनकर रही है। प्रारम्भ से लेकर अब तक मनुष्य प्रकृति को ही समझने का प्रयत्न करता रहा है।

प्रारम्भ का जीवन अत्यन्त कठिन था। इसीलिए मनुष्य ने देखा कि उसकी मृत्यु प्रकृति का ही एक कार्य-व्यापार थी। अतः पशुओं और जन्तुओं से लड़ने के लिए उसने सभाज का निर्माण किया। मनुष्य का समूह में रहना इसका प्रमाण है कि उसने मूथ-जीवन का आदर्श अपने से पूर्ववर्ती पशुओं से प्राप्त किया। जीवन रहने की इच्छा प्रकृति के महान क्रोध में पसती है और इसलिए उसके सहारक रूप से मनुष्य ने सघर्ष करने के लिए अपने मूथ-जीवन को निरन्तर विकसित किया।

मृत्तन, पालत और सहार—प्रकृति के ये तीन रूप हैं, जिनसे मनुष्य का संबंध है। मनुष्य ने उससे इन तीनों रूपों को परखा है और उन्हें अपने जीवन में उचित स्थान दिया है। यही कारण है कि उसने जिन तीन देवताओं के रूप में त्रिमूर्ति स्थापित की है—ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहकर जिन्हें पुकारा है उनके ग्रन्थ ऐतिहासिक कारणों के प्रति-रिक्त। एक यह भी, मनुष्य, वास्तव, है कि उन्होंने प्रकृति के समस्त रूप को अपने भीतर समेट लिया है। प्रारम्भ की टाटम अवस्था में प्रकृति की शक्तियों को इन्द्र आदि के रूप में जो मनुष्य ने अवगाहना की है वह भी अपने जीवन में ही उसका तादात्म्य बैठाने का प्रयत्न किया है। हमारे साहित्य के आदिम स्वरों में हम प्रकृति के प्रति एक मय और माय ही एक भावना के भी दर्शन होते हैं। इन दोनों ने ही हमारे साहित्य की परम्परा में

विभिन्न रूपों में विकास किया है।

प्रकृति मनुष्य के इतने पास है कि उसने उसके मन के पक्ष को छुआ है, तभी उसे निरन्तर उसके काव्य में म्यान मिलता रहा है।

प्रकृति के काव्य में रूप और साधर्म्य का विकास

प्रकृति के काव्य में अनेक रूप हैं।

प्रकृति को पहले पक्ष में उपामना के आधार के स्वरूप में लिया गया। इसलिए हमें भक्ति के स्वरो में उसका दर्शन मिलता है। इसी पक्ष का दूसरा स्वर है भय, जिसके स्तरो में हमें प्रकृति का आतंक प्रदर्शित होता है। किन्तु कालावधि व्यतीत होने पर हम ज्यों-ज्यों प्रकृति को ममकते गए और सम्यता की ओर अग्रसर होने गए, हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन होता गया।

प्रकृति एक उद्दीपन करनेवाली बस्तु बनी। और उसके माध्यम से मनुष्य अपने राग-द्वेष को घटना-बढ़ता देखने लगा। इसमें स्मृति का हाथ काफी प्रबल हो उठा। वासनाजन्य विकारों ने इसमें अपना बहुत अधिक सान्निध्य देखा।

आत्ममग्न रूप में प्रकृति को देखना दूसरा दृष्टिकोण बना।

इन दो रूपों के अनिरीकृत भी प्रकृति के काव्य में स्वरूप प्रस्तुत हुए।

प्रकृति का स्वयं में भी सौन्दर्य होता है। महाभारत के प्रकृति-चित्रण में हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें प्रकृति अपने-आपके ही लिए अन्यन्त प्रभावोत्सादक ढंग में चित्रित की गई है।

प्रकृति में अपने उगम्य को खोजता और ब्रह्मस्वरूप समझकर एकमात्र रहस्य के अन्तर्गत उसे रखकर देखना भी प्रकृति के चित्रण का एक रूप है। प्राचीन और मध्य-कालीन रहस्यवादियों का ऐसा ही दृष्टिकोण था। किन्तु अर्वाचीन काल में ब्रह्मरूप में तो कोई एकेश्वर नहीं माना गया, तथापि प्रकृति की महानता में अपनेको आत्ममान् करने की छायावादी कवियों ने चेष्टा की।

प्रकृति पलायन का भी केन्द्र-स्थल बनी। समाज की विषमता ने ऊँचे हुए मनुष्य ने प्रकृति को कमनीयता को ही अपने सामने रखा।

मध्यकाल में प्रकृति को उपदेशक के रूप में काव्य में चित्रित किया गया। यदि प्रत्यक्ष ऐसा नहीं किया गया तो प्रकृति के गुणों को तुलनात्मक रूप में मनुष्य के चरित्र से भिन्नकर प्रस्तुत किया गया। यह प्रकृति सती और भक्त कवियों में हमें मिलती है।

किन्तु प्रकृति का एक और रूप रहा है, अप्रस्तुत का मूर्तीकरण। इस रूप में प्रकृति अपने-आपमें इतना प्रभाव नहीं रखती, जितना अपने आधार की उपमा या छवि-विधान बनने में सार्थकता दिखलानी है।

समाज की रुढ़ियों में बन्द हो जाने पर भी साहित्य ने परम्परा और परिभाषा की

तीक पीटते समय भी प्रकृति की निताल उपेक्षा नहीं की। उस समय भी हमें प्रकृति के उतने ही भाग के चित्र अवश्य मिल जाते हैं, जोकि राजमहलों में उजागर हो सकते थे।

आनन्द, शोक, रश्मि, विस्मय आदि अनेक प्रकार के भावों ने प्रकृति को प्रस्तुत किया है। किन्तु यह एक ऐसा विषय है, जो कभी भी पुराना नहीं पड़ा। जिस प्रकार मूलतः मनुष्य का जीवन-यज्ञ अभी तक न बदलने के बराबर ही बदल पाया है, उसी प्रकार प्रकृति का भी प्रभाव अभी तक प्रायः वही है।

अस्तित्व और सादृश्य

इसका कारण है कि हम यद्यपि अपनी-अपनी इकाई में व्यक्ति हैं, किंतु रहते समाज में हैं, और हमारी इकाई की सायंकता तभी है, जब उसे समाज का आधार प्राप्त होता है। उसी प्रकार यह समाज भी प्रकृति से अपना सम्बन्ध रखता है।

वस्तुतः हमारे समाज के विभिन्न युगों में प्रकृति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं।

वैदिककाल में प्रकृति को मानवीय शक्तियों के रूप में अवतरित कर लिया गया था। उपनिषद्-काल में उस व्यापकता को देखा गया जिसमें मनुष्य में परे की मावैकालिक सर्वात्मता प्रकृति की मूलात्मा बन गई। उसके उपरान्त बौद्ध-जैनकाल में प्रकृति का उद्दीपन-यज्ञ समय के दमन में दबा देने की चेष्टा की गई। उसके परवर्ती युगों में प्रकृति ने अनेक धार-प्रतिधार सहे हैं। आराध्य और वैष्णव चिन्तन ने प्रकृति को लावण्यमय ही अधिक माना है।

यदि बाहरी भेदों पर ध्यान न देकर देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः प्रकृति का जो दृष्टिकोण भारत में रहा है, यूरोप भी उसमें बहुत दूर नहीं रहा है। यह और बात है कि विभिन्न युगों की विभिन्न विचारधाराओं का अलग-अलग प्रभाव पड़ा रहा है।

प्रकृति शास्त्र में समाज का एक दृढ़ आधार है, और उसके बिना वह मानो अपने को अस्तित्व में पडा हुआ अनुभव करता है। यही कारण है कि प्रकृति को मनुष्य-समाज ने अपने से प्राञ्जल ही स्वीकार किया है।

मनुष्य की बाह्य परिधि

मनुष्य प्रकृति का अंग है। जिस प्रकार पशु, पक्षी, आकाश और पृथ्वी इत्यादि प्रकृति के अंग हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी है। मनुष्य विकास-क्रम में वैज्ञानिकों के मना-नुसार पृथ्वी पर बहुत बाद में आया है। उसने इसी प्रकृति में अपना आवास बनाया है, और यद्यपि उसका यह सदैव यही कहना रहा है, कि वह अन्तों की अनेका उच्चस्तर का प्राणी है, तथापि वह प्रकृति के बहुगुणामय परिवर्तनों में से ही एक है। प्रकृति इतनी गुणवती है कि मूलतः मनुष्य का उच्चस्तरीय प्राणी होना भी उसीके एक गुण का परिणाम है।

इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि अतत मनुष्य की भी एक प्रकृति है। शुधा, पिपासा, काम, प्रजनन और मृत्यु उसके वे काम हैं जिनके प्रति वह अपने को विवश पाता। है किंतु यह तो प्राणिमात्र के धर्म हैं अतः उनको ही अतः नहीं समझना चाहिए। मनुष्य में एक और भी पक्ष है। वह उसका आन्तरिक पक्ष है। जो उसका प्रवृत्ति-पक्ष है, वह तो सर्वसाधारण है, किंतु वह पक्ष जिनमें उसकी सुख-दुःख की अनुभूति है, प्राणि-जगत् में उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से जबकि अन्य प्राणी प्रकृति के अग्रभाग हैं मनुष्य ऐसा अग्र है, जो अपने अग्रत्व को पहचानता भी है और निरंतर यह भी सोचता है कि ऐसा क्यों है? वैसा क्यों है? यह एक विचित्र बात है कि पूर्ण का अग्र अपने को पूर्ण समझकर, वस्तु के भीतर होने हुए भी, उसमें अलग-अलग अनुभव करके, फिर उसमें सामीप्य का अनुभव करता है।

यही मनुष्य का भाव-पक्ष है। इस भाव-पक्ष का आधार उसकी प्रवृत्तियों पर निर्भर है। योगी लोग अपनी प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे लोगों को लोक में असाधारण माना गया है। इसलिए भरत मुनि ने योग-पक्ष को वाच्य के अंतर्गत नहीं माना है, क्योंकि उसमें सुख-दुःख की सहज और सर्वसाधारण की सी अनुभूति नहीं होती। लोक में द्वेष और राग दोनों ही मनुष्य का संचालन करते हैं। यद्यपि प्रवृत्ति-रूप में यह सब मानव में विद्यमान है, किंतु उसके दमन की जगह, उसका उदात्तीकरण ही वाच्य का मुख्य कार्य माना गया है। एक दृष्टि से वाच्य का उद्देश्य और योग का उद्देश्य समान है, परंतु एक में भावात्मक दृष्टिकोण को अपनाया गया है, जबकि दूसरे में अभावात्मक दृष्टि को अपनाकर प्रकृति के कुछ अंश को अस्वीकार कर दिया गया है। योगी होने पर भी मनुष्य क्षुधा और पिपासा का तो निराकरण करता ही है।

मानव-धर्म और जिजीविषा

प्रकृति को जीतना ही मनुष्य का कार्य रहा है।

आदिम मानव ने जब गुहा ढूँढ़ ली थी और वर्षा में वहाँ बँठ गया था, तब यद्यपि वह भेघ देवता से डरता रहा, तथापि उसने एक प्रकार से अपने को बचाकर, प्रकृति पर जीत प्राप्त कर ली थी। अग्नि का प्रयोग सीखकर उसने अपनी सम्यक्ता को आगे बढ़ाया। अग्नि की क्या अनेक प्राचीन साहित्यों में भी इसीलिए प्राप्त होती हैं। यह एक द्रष्टव्य है कि मनुष्य ने अग्र होकर अग्नि को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। प्राचीन और मध्यकाल में मनुष्य की सम्यक्ता के जातिव्यक्तियों का प्रायः विश्वास यह था कि पृथ्वी ही सृष्टि का केन्द्र थी और मनुष्य के लिए ही यह सारी रचना हुई थी। किंतु विज्ञान के विकास ने उसकी इन धारणाओं को तोड़ दिया। इससे यद्यपि मनुष्य ने अपनी निरपेक्षता और लघुता के नये दृष्टिकोण अपनाए, परंतु उसमें जीवित रहने की इच्छा ने नये प्रकार की प्रतिस्पर्धा भर दी। इसका दूसरा फल यह भी हुआ कि

उसकी बहुत-सी कोमल बल्पनाएँ टूट गईं और उनका स्थान एक कठुता ने ले लिया। इस कठुता के फलस्वरूप प्रकृति के प्रति जो आस्था पहले मनुष्य में थी वह सदेह और भय के रूप में दृढनी गई।

भाषुनिक मानव ने विज्ञान की सहायता से यद्यपि प्रकृति की अनेक रूपों में व्याख्या की है, फिर भी वह सब मनुष्य का ही दृष्टिकोण है, और यह नहीं मान लेना चाहिए कि वही सब अन्तिम सत्य है। प्रकृति का कार्य-व्यापार महत् है और मनुष्य के साधन अभी इतने अपरिपक्व हैं कि वह उन्हें सहज समझ भी नहीं सकता। परन्तु इस सघर्ष ने उसके सामने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रकृति की शक्तियाँ एक नियमन में सब कार्य करती हैं और मनुष्य जो परिवर्तन लाकर अपने को जीवित रखता है, वह वस्तुतः अभी तक बहुत ही सतही है। पृथ्वी की लघुता का ज्ञान वास्तव में मनुष्य के महत्तर दृष्टिकोण का जागरण है और इसीलिए आज का कवि अभी तक उस विराट से वैसा तादात्म्य नहीं कर पाया है, जैसा कि पुराने कवि ने अपनी लघुता से कर लिया था। फिर एक बात यह भी है कि लघुता के कारण उस समय मनुष्य ही सबका केन्द्र बन गया था। यही बात है कि वह लघुता भी हमें अपनी प्रतीति होती है, जबकि यह विराट तत्त्व हमें अपने में विस्मय-बोध के अनिश्चित और कुछ प्रतीति नहीं होता, क्योंकि प्रकृति-पक्ष अभी तक उसमें मेल नहीं ला सका है।

सहज और भाव-पक्ष

विकास के दो पक्ष हैं।

बाह्य पक्ष में मनुष्य की सम्पत्ता है, जबकि आन्तरिक पक्ष में उसकी सृष्टि है। सम्पत्ता मनुष्य-निर्मित वस्तुओं का लेखा-जोखा है, और सृष्टि उसके हृदय-पक्ष का विवेक-पक्ष से वह सामञ्जस्य है, जिसमें नैतिकता बहुजनहिताय होकर विराजती है और उसकी मुद्रता को अधिक से अधिक उभारकर बाहर लाने की चेष्टा करती है। इसी हमरी बात ने प्राचीन काल में उन बातों और कथाओं को जन्म दिया था, जिसमें उसको पशु, पक्षी और वृक्ष भी बात करते हुए मिलने थे। सम्पत्ता ने गौरव व्याख्या की है, सृष्टि ने उस बहुरूप का एकात्म दृष्टि का संदेह ही प्रयत्न किया है, और इसीलिए व्यक्ति के विकास को भारत में भावस्वक माना गया है।

आत्मिक पक्ष यद्यपि त्याग-पक्ष में भारतीय जीवन में अधिक स्तुत्य माना गया है, परन्तु उसे नकारात्मक नहीं स्वीकार किया गया। उसे सक्रमक रूप में अभी दलाप्य माना गया है जब उसमें मनुष्य-भाव को आन्दोलित करनेवाले भावों के साथ परदा गया है।

प्रकृति और विवेक, दोनों ही मानव-शरीर में नक्षिहित होने हैं। मनुष्य अनेक कार्य करता है, किन्तु उसे उनके साथ ही सुख और सुतोष की भी भावश्यकता होती है। इसीको भाव-पक्ष में प्रकृति का तादात्म्य कहना चाहिए, क्योंकि उसीमें मनुष्य तृप्ति का

अनुभव करता है।

और आज भी जन हम विज्ञान की बात करते हैं तब वही प्रकृति से केवल प्रतिस्पर्धा दिखाई देती है। जबकि मनुष्य चाहता है सुदरता।

सुदरता अपने-आपमें कुछ भी नहीं है, वह तो प्रकृति के कार्य-व्यापारों का ही स्वरूप-भेद है। उसीको हमने बाहर से भीतर तक उतार लाने की चेष्टा की है, अपनी लघुता में उस विराट तत्त्व को समेटकर। प्राणी में सुदरता की परख समान रूप से नहीं होती। मयूर मेघ को देखकर नाचता है, जिसे देखकर लगता है कि उसको उमग आती है जब वह मेघ को देखता है। परंतु यह स्वभावजन्य भी माना जा सकता है। मनुष्य में सुदरता की अनुभूति बहुत अधिक होती है, यद्यपि सब मनुष्यों में यह भावना समान रूप से नहीं पाई जाती। बटन-से लोगों को सुदरता बहुत ही स्थूल होती है, जबकि उसकी अतिसूक्ष्मता की ओर संस्कृति निरंतर प्रेरित करती रही है।

रहस्य-भावना और व्याख्या-केन्द्र

आदिम रहस्य-भावना में प्रकृति में भय था। आज भी विज्ञान ने भय को जागरित किया है। तब अज्ञान का भय था, अब अविश्वास का भय है। तब मनुष्य समझता था कि उसके पाप-पुण्य का प्रकृति की शक्तियों से सीधा सम्पर्क है और अब वह यह समझता है कि प्रकृति उसे निरीह समझती है। विवेक ने उसे बार-बार जागरित किया है कि वह अपने को इतना अधिक महत्व न दे कि वह अपने को ही सबका केन्द्र समझे। असल में मनुष्य का ग्रह यही चाहता है कि सबपर छा जाए। वह यह स्वीकार नहीं करना चाहता कि वह अपनी सत्ता का अर्थ नहीं समझता।

विवेक के विकास द्वारा मनुष्य का सौहार्द एक ओर जहां प्रकृति के प्रति घटा है, वहां दूसरी ओर उसमें तर्क-प्रवृत्ति अधिक बढ गई है। वह अधविश्वास में केवल आसो-देखा, या परम्परा से आया सत्य स्वीकार नहीं करना चाहता। वह सहज को भी अपने सम्बन्ध में सदैव असाधारण करके देखने का आदी हो गया है। ज्यो-ज्यो वह प्रकृति की व्याख्या करता जा रहा है, त्यो-त्यो उसका ग्रह भी बढता जा रहा है। किन्तु ग्रहकार प्राणि-विकास का ही एक गुण है। वह प्राणि-मात्र में है। ग्रह, अर्थात् अपने अलगपन की अनुभूति होना, कौटुम्बिकता में भी है, तभी मृत्यु से वे भी डरते हैं। यह प्रवृत्त्यात्मक सत्य है। प्राणी ज्यो-ज्यो विकसित होता जाता है, त्यो-त्यो उसमें अपने को जीवित रखने की, मानद मनाने की प्रवृत्ति बढती जाती है।

और अब विज्ञान द्वारा हमने देखा है कि ग्रह का यह विकास जिस रूप में हुआ है वह एक सहज प्रक्रिया है। मनुष्य ने अब उसकी कुछ भलक-भर पाई है। अभी भी मनुष्य में स्वप्न-पक्ष की एक प्रकृति है, जो वह स्वयं समझ नहीं पाया है।

पुराने लोगों ने इसी 'अपनेपन' को अधिक से अधिक समझने की चेष्टा की थी।

इसलिए कि उन्हीं अच्छे लगनेवाले प्रकृति के रूप को अपने भीतर भर-भर लेना चाहता है। अनन्योक्त्या उसने प्रकृति को उसके पुराने सम्बन्ध में ही ग्रहण करने की चेष्टा की है।

नया दृष्टिकोण

यही आज का दृष्टिकोण है, जिसे हम नया कह सकते हैं।

वैदिक कवि प्रकृति की शक्तियों को मानव-रूप में अपना काम करने को बुलाता था और अपने पूर्व पुरुषों की आत्माओं को प्रकृति की शक्ति के पास कर देता था।

उपनिषद्-कालीन कवि ने प्रकृति के रम्य और भयानक रूप को 'साम' रूप के हिकार में देखा और चाहा था कि वह एकस्वरता को प्रतिष्ठापित कर सके।

महाकाव्य-युग ने उसके स्थूल सौन्दर्य को जगा दिया और मानवी सौन्दर्य को समान महत्त्व दिया।

संस्कृत क्लामिकल युग ने इस सौन्दर्य-विवेचना को स्थूल के साथ रूपक जोड़कर मूहमत्रम सौन्दर्य में परिवर्तित कर देने का प्रयत्न किया और मानवीय नैतिक मानदण्ड भी मिलाकर उसने उदात्त का रूप दिया।

मस्हन का परवर्ती युग दरवारी काव्य में डूबने लगा। तब प्रकृति को बानना ने ही अधिक बल पकड़ा क्योंकि स्थूल ही उस समय दृष्टि को पकड़ सका।

सामन्तीयकाव्य ने हिन्दी में अपनी उसी परम्परा को विकसित किया। सूफी कवियों ने प्रकृति में अपने रहस्य को प्रतिष्ठापित करके नये मानवीय मूल्य लाने का प्रयत्न किया।

मत्त और भक्त कवि प्रकृति को मानव के सन् और असन् के संघर्ष में ही देखते रहे। उनके सामने विद्युत्नावाद भी था और यौन जीवन ने भी उन्हें शृंगार के क्षेत्र में प्रेरणा दी किन्तु वे नया कुछ नहीं कह सके।

रीति और रीतिमुक्त उत्तर मध्यकालीन कवि-समाज ने प्रकृति को विशेष महत्त्व ही नहीं दिया। मेनापति ने भाषा के सौन्दर्य में मस्हन के भावों का पिष्टपेपण किया, किंतु बच यो गए कि हिन्दी में वह सब नया था।

उपादेयतावादी कवियों ने भी प्रकृति के रूप को केवल अपनी बात को पहचाने और परिपाटी के रूप में लिया। प्रकृति के प्रति आर्ये खुर्शी जय द्वायावादी कवियों ने नया जागरण लाकर प्रस्तुत किया। द्वायावादी कविगण ने प्रकृति के प्रति यूरोप से अवश्य प्रेरणा पाई किन्तु उनका दृष्टिकोण नया था, यद्यपि उसमें व्यक्तिकरण ने दुरुहता अवश्य उत्पन्न कर दी थी।

आज का कवि अपनी सारी परम्परा को जानता है और इसलिए उसमें हम विविधता पाते हैं। यह विविधता नसार के किमी भी साहित्य के लिए श्रेयस्पूर्ण हो सकती है, क्योंकि इसमें प्रकृति अपने विभिन्न स्वरूपों में आकर अपने नये मूल्यों को प्रतिष्ठापित करती है।

—रंगीय राधक

सत्य, शिव और सुन्दर

आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है। द्विवेदी-युग और उसके उपरात छायावादी युग तक को आलोचको ने अधिकांश अध्ययन से अपने मनन का विषय बनाया है। जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा छायावादी युग के प्रमुख और माने हुए कवि हैं। इनके उपरांत भी हिंदी में बहुत कविता लिखी गई है, किंतु उस कविता का कोई सहानुभूतिपूर्ण विवेचन नहीं हो सका है।

[१] हिंदी में आलोचक-वर्ग बहुधा अध्यापको के वर्ग में से आया है, और इसलिए उन्हीं विषयों पर अधिकतर लिखा जाता रहा है, जोकि परीक्षा से संबंधित हो। काव्य तो दूर की बात है, हिंदी में उपन्यास अधिक जनप्रिय हैं और उन उपन्यासों की प्रवृत्तियों तक पर निरपेक्ष दृष्टि से नहीं लिखा गया है।

[२] आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद पुराने आलोचको ने अधिकांश केवल पिष्ट-पेषण किया है। उन्होंने दोष अधिक निकाले हैं, आलोचक का मूल कर्तव्य नहीं निभाया है। और वह मूल कर्तव्य यह है कि आलोचक पाठक और लेखक के बीच की कड़ी है। दुर्भाग्य से हमारी शिक्षण-व्यवस्था में अध्यापको के प्रभुत्व के कारण आलोचक होना लेखक को गिरा देने के पर्याय के रूप में ही साहित्य में प्रचलित हो गया है। आलोचक का असली कार्य लेखक के तबीन प्रयोगों, उसके प्रथों की महिमाओं को प्रकट करते हुए, उसकी कमियों को इस ढंग से दिखाना है कि लेखक और भी अच्छा लिख सके।

[३] उठने हुए आलोचक शीघ्र प्रसिद्ध हो जाने के लिए शाब्दिक चमत्कार दिखाकर विध्वंस में जुट जाते हैं और नये कवि को फिर भी कोई आशाप्रद साथी नहीं मिलता जो व्यक्ति या संस्था के धरे, समस्त साहित्य को दृष्टि में रखकर, साहित्य की अभिवृद्धि के दृष्टिकोण से सहयोगी बन सके।

[४] वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन और यूरोप के विभिन्न वादों ने हिंदी के आलोचको का ज्ञान नई दिशा में बढ़ाया। पुराने आलोचक रस, ध्वनि, रीति, बन्धोक्ति और मूलकार में आलोचना समाप्त कर देते थे, उनके बाद आचार्य शुक्ल ने भारतीय और पारश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोणों को अपने सामने रखा। नये आलोचको ने उसके

वाद यूरोप के विभिन्न वादों की ही जीवन का समस्त तन्त्र बना लिया और मात्र प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, अस्तित्ववाद इत्यादि असत्य वाद दिखाई देने लगे। यह सत्य है कि पश्चिम का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है, परन्तु यह सत्य नहीं है कि जिस दृष्टिकोण को लेकर वाद-मार्गीय आलोचना हो रही है, वह वस्तु-सत्य का भी ठीक ही विश्लेषण करती है। मार्क्सवाद, जिसका अर्थान् वैज्ञानिक भौतिकवाद है, चिन्तन और विश्लेषण के रूप में अवश्य नया है, किन्तु वह भारत में पहले भी मौजूद था, अर्थात् मार्क्सवाद जिन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है, वे परिस्थितियाँ भारत में मार्क्स-से भी पहले मौजूद थीं और यद्यपि वे ठीक यूरोप की भाँति नहीं थीं, फिर भी वर्ग-सघर्ष मौजूद था और हमारा समाज मुक्ति के लिए सग्राम कर रहा था। पढ़े-लिखे के साहित्यिक चमत्कारों में मार्क्सवादी दलुस्थिति भारत में नहीं आई, वह तो यहाँ की जनता के सघर्षों में पहले से विद्यमान थी। उनका ठीक से विश्लेषण होना चाहिए था। परन्तु टुट-पूँजिया वर्ग के चिंतकों ने उस मार्क्सवाद को अपना मानसिक श्रेय समझा और कुत्सित समाजशास्त्र का जन्म हुआ जिम्ने दायरे बाधे और साहित्य को ऐसा स्तब्ध कर देने का प्रयत्न किया कि वह सम्पूर्ण जीवन का प्रतिनिधित्व कभी नहीं कर सके। एक ओर जब यह हो रहा था, दूसरी ओर पुराने 'कला कला के लिए' मिडान से प्रभावित लोग भी थे। इन लोगों ने वर्ग-सघर्ष के ही सत्य को भुला देना चाहा। एक ओर जहाँ कुत्सित समाजशास्त्री विश्लेषण ने कहा कि साहित्य जनता के लिए है, और उसका मूलाधार समाज-सत्य है, तो वह यह भूल गया कि साहित्य का श्रेष्ठ सामाजिक प्राणी होने हुए भी व्यक्ति है और उसका अपना एक व्यक्तित्व है, और यह व्यक्ति-मेधा ही सज्जन करती है, नो दूसरी ओर 'कला कला के लिए' वालों ने कहा कि समाज कुदृष्ट ही नहीं, व्यक्ति ही भव कुदृष्ट है, और व्यक्ति के लक्षण रूपों का अध्ययन प्रस्तुत करनेवाले वाद जो यूरोप में फायडवाद, प्रकृतवाद, अस्तित्ववाद बन कर आए, उनमें वे अपने को हार्फ लेने का प्रयत्न करने लगे। यह सब वैचल्य आशिक सत्य है कि उन वादों का हिन्दी पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है।

साहित्य में विभिन्न धाराएँ काम करती हैं। हिन्दी में ही बहुत-सी धाराएँ थीं। कबीर और जायसी का रहस्यवाद ही मूल रूप में ध्यायापाद की भावभूमि का आधार था, और उसका हमारी मस्तिष्क में अपना स्थान बना लेने का मुख्य श्रेणी कारण था। यह सच है कि जब युग और परिस्थिति बदल जानीं तब उनके अनुगाम ही अभिव्यक्ति का रूप, वाह्य और प्रत्यक्ष, दोनों ही, बदल जाते हैं। प्राधुनिक 'कला कला के लिए' की पुकार करनेवाले मूलतः मीन्द्रयों की व्याख्या न करत हुए, उमें ही पूर्ण निरपेक्ष और अनिर्वचनीय कृत्वर दरवारी मूर्खाने मस्तिष्क को ही फिर से दुःखाने की चेष्टा करते हैं।

रम'-सम्प्रदाय का जन्म सामन्त-काल के विक्रमशील युग में हुआ था, अतः दास-प्रथा के आगे होने के कारण उममें समाज का कल्याण करने की शक्ति थी। परन्तु सामन्त-काल के गतिरोधों और उच्चवर्गीय प्रभुत्व ने काव्य को, रम के विरोध में ध्वनि, रीति आदि के जाल में, अभिजात्य वधनों में बाधने की चेष्टा की, और यद्यपि वे समाज को उतना पीछे तो नहीं हटा सके कि 'रम' की प्रगति को झुठा दे, परन्तु उन्होंने काव्य के बाह्य परिवेष्टन अत्यन्त दुरुह बना दिए।

आधुनिक काल के यूरोपीयवाद मध्यवर्गीय दृष्टिपूजियों की वर्ग-व्यवस्था में से जन्म ले सके हैं। उनमें आधुनिकता का फैशन है, और वे मूलतः सामन्तीय काव्यशास्त्र के आगे नहीं ले जाते, बल्कि यां कहना उचित होगा कि सामन्तीय काव्यशास्त्र जहाँ अपने दायरे के भीतर पूर्ण है, वहाँ ये आधुनिकवाद उतने भी पूर्ण नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' में रखा था, किन्तु ये तो उतने में ही समाप्त नहीं हो जाते। छद्म वेश में ये 'रम' का पल्ला पकड़ते हैं। और यह इनका सबसे बड़ा खोखलापन है, क्योंकि मौन्दर्य के अनिर्वचनीय निरपेक्ष आनन्द की उच्च भावभूमि को तभी रम-सम्प्रदाय में उच्चतर समझा गया है, जब उसमें साधारणीकरण का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है।

यौन प्रवृत्तियाँ जो 'हाल' से चली आती हैं और पूरे रीतिकाल में सामन्तीय बन्धनों में रहीं, वे ही इन नये वादों में नये रूप लेकर उठ खड़ी हुई हैं।

इन समस्त अपरिपक्वताओं ने साहित्य पर घातक प्रहार किया है। यहाँ कवित्व को न देखकर, उसकी कविता को न देखकर, कविमात्र को ही देखा जाता रहा है। रट्म्यवादिनों द्वारा समादृत कविकुलगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही अनजाने में 'अचला-यतन' लिख गए थे, जहाँ उन्होंने जीवन के कठोर सत्यों का वर्णन करते हुए सशस्त्र विद्रोह न्यायोचित बताया था। लोकमयिटर दरबारी-युगीन कवि था, किन्तु उसकी रचनाओं में मध्यवर्ग की उठती चेतना का प्रतीक दिखाई देता है। ताल्मताथ ईसाई अहिंसावादी था, परन्तु लेनिन ने उमें आनि का दर्पण कहा है। प्रेमचन्द अहिंसावादी था, वर्गवाद उममें समन्वयवाद का स्थान लेता है, किन्तु उसने किसानों की चेतना को उठाया और राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाया।

आज भी कवियों की वाणी को देखने की सबसे बड़ी आवश्यकता है, न कि उनके बाह्यबन्धनों, गुटों, पार्टियों, आदि को ही देखकर उन्हें छोड़ दिया जाए। आगे आपको इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे, कि 'अरे, यह इसी व्यक्ति ने लिखा है।' ऐसे वाक्य तक आपके मुख से निकल जाएंगे।

[५] हमें एक और काव्य को वाद, व्यक्ति, देश, काल और वर्गभूमि के ऊपर उठ-

१. दन्तिस, 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड', ले० रामेश राय

कर देखना आवश्यक है तो दूसरी ओर यही हमारे काव्य-विश्लेषण के मूलाधार हैं। इस वाक्य को पढ़कर विभिन्न मतवाले प्रसन्न और रुष्ट हो उठेंगे जबकि यह एक सत्य है। देखने को यह नितान्त विरोधी भावों का सघट्ट जान पड़ता है, परन्तु यह कठोर और यथार्थ वस्तुस्थिति का ही परिचय है।

एक रसवादी, इसकी पढ़कर पहले भाग से असंतुष्ट होगा, जो साधारणीकरण के सिद्धांत को रसवाद का मूलाधार मानता है। जो रसवाद की परवर्ती व्याख्याओं को मानता है, वह सौन्दर्य के निरपेक्षतावाद के सिद्धांत की पुष्टि जानकर पहले भाग से प्रसन्न होगा, और वाक्य के दूसरे भाग में इसी क्रम से उल्टा प्रसर होगा। ध्वनि, वक्रोक्ति, प्रलंकार, रीति आदि का अनुयायी केवल पहले भाग को ही स्वीकार करेगा। प्रकृतवादी जो प्रकृत जीवन का ही वर्णन चाहता है और नानता ही जिसकी शक्ति का स्रोत है वह पहला भाग स्वीकार करेगा। प्रयोगवादी, प्स्तित्ववादी का भी यही हृत् होगा, जबकि यथार्थवादी, और प्रगतिवादी इस वाक्य के दूसरे भाग को ही ठीक समझेगा। इस बात को अब मैं स्पष्ट कर दूँ। कवि किसी काल-विशेष में, देश-विशेष में जन्म लेता है। वह किसी वर्ण-विशेष में पैदा होता है। और किसी 'मत', 'सिद्धांत' अथवा 'वाद'-विशेष का प्रभुत्व स्वीकार करके लिखता है, यह हो सकता है कि वह 'वाद' का प्रत्यक्ष रूप से अनुसरण करे, या कोई 'वाद' अप्रत्यक्ष रूप से उसके काव्य से परितक्षित हो। कवि व्यक्ति होता है और उसका व्यक्ति भी उसके काव्य में प्रकट होता है। अर्थात् देश, काल, वर्ण, वाद, और व्यक्ति—ये सब बातें प्रत्येक कवि में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रकट होती हैं। किन्तु कवि इतने में ही सीमित नहीं हो जाता। देश, काल, वर्ण, वाद, और व्यक्ति—ये बातें कवि में आवश्यक रूप से सम्मति ही नहीं पाती, असम्मति भी पाती हैं, अर्थात् वह आवश्यक रूप में अपने देश, काल, वर्ण, वाद और व्यक्ति के स्वार्थों को ही पोषित नहीं करता, वह विरोध में भी लिख सकता है। कोई देश आक्रांत हो, कोई वर्ण आक्रांत हो तो यह आवश्यक नहीं है कि उस आक्रांत देश का कवि आक्रांत देश की ओर से नहीं लिख सके। इसमें कुल्लिठ समाजशास्त्रियों ने तात्सनाय को अभिजात और कुलीन बहुर उमने साहित्य को भी अभिजात और कुलीन बहुर दिया था। यह उचित नहीं हुआ, क्योंकि आम-सा जनजाने तात्सनाय ने अभिजात कुलीन के समाज की अपन्यता का पर्दाफाश किया। राजभक्त मोलियर अपने नाटकों में उठते हुए व्यापारी मध्यवर्ग का मजाक उठाने-उठाने, अपने ही, उषास्य, साम्नीय, साम्नीय, की उठे बाट गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो मूलाधार हैं, वे कवि को पूर्ण रूप से बाध नहीं लेते। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि आधुनिक काव्य में जनता का पक्ष रानी ज़ोरों में प्रकट करनेवाले कवि उन टुटपूजिया वर्गों में से आते हैं जिसे 'दुलभूल' वर्ग की सजा दी गई है।

साहित्य का स्रष्टा व्यक्ति होता है और व्यक्ति के महत्व को साहित्य में राजनीति की भाँति झुठाया नहीं जा सकता। व्यक्ति राजा होने पर भी दरिद्र के दुख से दुखी होता है। और कला के क्षेत्र में, अर्थात् सत्य के क्षेत्र में, कलाकार लिखते समय, चाह कर भी, अपने को रोक नहीं सकता, उसकी कला बोलती है, और कला क्योंकि अन्य पुरुष-ग्राह्य है अतः उत्तम पुरुष का समस्त बन्धन भी भाव-माध्यम को मकोच में बाँध नहीं पाता। व्यक्ति मूल होता है, परन्तु काव्य का वृक्ष खड़ा होने पर, अपनी सत्य को परखने की तीक्ष्ण दृष्टि के सहारे से, अपनी डाले अपने-आप फैलाता है और जो फल उस वृक्ष में आते हैं, महान कलाकार निःसन्देह, उनके विषय में नहीं जानता। ऊपर दिए गए शेरसपिथर, और ताल्सताय के उदाहरण इसे स्पष्ट करने के लिए काफी हैं।

जिस प्रकार राजनीति में पार्टी के सदस्य अपने व्यक्तित्व को एक ध्येय में समर्पित करके सामूहिक नियोजन में कार्य करते हैं, उसी प्रकार लेखक नहीं कर सकता, क्योंकि लेखक की संज्ञा, कल्पना, प्रतिभा, व्यक्तिगत वस्तु हैं, और वे सामूहिक नहीं हो सकती।

कवि-व्यक्तित्व जहाँ इन बातों में बंध नहीं सकता, वहाँ वह उच्छ्वल होने का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि व्यक्ति की यह समस्त स्वतंत्रता सामूहिक जीवन के लिए है, और समूह के लिए ही कला एक माध्यम है जो जीवन को सुन्दर से सुन्दरतर बनाती है। यो दोनों एक-दूसरे पर आश्रित तथ्य हैं।

लेनिन ने साहित्य के लिए पुकार उठाई थी कि साहित्य को पार्टीजन साहित्य होना चाहिए। लेनिन को विकृत करनेवाले लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि वह पार्टी-नियमावली को ही साहित्य मानता था। यह बहुत बड़ा भ्रूट है। लेनिन स्वयं गोरकी से कहता था कि ताल्सताय से लिखना सीखो, और वह मायकोवस्की से पुश्किन को ऊँचा स्थान देता था। लेनिन का अर्थ था कि 'कला कला के लिए' वाले काव्य को दुरुह बनाते हैं, उसे जनता के लिए सीचकर लामो और स्वतन्त्र करो। रूस की तत्कालीन परिस्थिति में सशस्त्र क्रांति की भूमि तैयार थी और वह नारा भी ठीक था। किन्तु फिर रूस में बदलती परिस्थितियों में भी उम नारे को किनारे की नाव की तरह इस्तेमाल किया गया और इलिया एहरेनबर्ग ने भ्रम लेखकों की समस्या उठाई है जिन्होंने उसने स्वीकार किया है कि क्रांति के बाद के रूस में अभी महान साहित्य का सृजन नहीं हो सका है।^१

प्रसन्नियत यह है कि रूस के काव्यशास्त्र में साधारणीकरण के सिद्धांत का ज्ञान नहीं था। लेनिन ने अपने युग के अनुरूप उसीको स्थापित करने की चेष्टा की थी। उसकी गत्यात्मकता को तत्समझ सकने के कारण बाद के लेखकों ने विषय के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया। भारत एक प्राचीन देश है और इसमें अधिक मत पैदा हुए, जिन्होंने काफी भ्रम-

१ 'राष्ट्र एण्ड डिड ब्रफ्ट', इलिया एहरेनबर्ग

कास प्राप्त करने के कारण धीरे-धीरे खूब विकास किया। इसीलिए हमें एक बड़ी विरासत प्राप्त हुई है और हम उसपर सहूलियत से विचार कर सकने की परम्परा पा सके हैं। हमें इस की गलतियों से शिक्षा लेनी चाहिए, तभी हम अपने देश को इस की भांति समृद्ध बना सकते हैं।

अतः हमारा वाक्य स्पष्ट हो जाता है कि कवि अपने देश, काल, वर्ग, व्यक्तितया वाद में रहकर भी उनसे पूज्यता बधा नहीं है, तथापि वह उन्हींमें है और उच्छृंखल भी नहीं हो सकता। यह तथ्य कोई समन्वयवादी नहीं है जो समाज की आगे बढ़ने से रोकें या वर्गहीन समाज की स्थापना के सिद्धांत को काटता हो। इसमें एक ऐतिहासिक न्याय का पालन होता है कि कवि को उसकी कविता के माध्यम से जाचना चाहिए। बहुत-से लोग जो अपने को प्रयोगवादी कहते हैं, वे वस्तुतः पुरानी बातों ही को और भी सड़े-गले ढग से प्रस्तुत करते हैं। कुछ कवियों को शिकायत है कि उनको प्रगति के पथ पर नहीं माना जाता, और उनके शाश्वत सत्य के वर्णन को काव्य नहीं समझा जाता। ईमानदारी की बात तो यह है कि शाश्वत सत्य को वे नहीं जानते, न कोई जानता है। उनका कहना सत्य है कि वे बल मजदूर-किसान पर घिसी-घिसाई परिपाटी पर लिखना प्रगति नहीं है। परन्तु उनका यह कहना सत्य नहीं है कि उन्हें वेदान्त के रहस्यवाद की छूट देने में ही प्रगति है। वेदान्त का वह रहस्यवाद जिसने समाज को शक्ति दी है, समाज की रुठियों का विरोध किया है, जैसे विवेकानन्द ने किया था, वह तो सब ही प्रगति मानते हैं, परन्तु जो रहस्य की श्रुतभूति, अप्रत्यक्ष के मूर्त विधान के बिना, व्यक्ति-वैचित्र्य के गतों में ले जाती है, और किसी भी प्रकार की सुन्दरता का बोध नहीं कराती, वह किस प्रकार प्रगति कहला सकती है यह समझ में आना दुष्कर ही है। कधीर जब 'हस्ता' को 'मलकून' और 'जव-स्त' के घरे ले जाता है तब उम वर्णन के दुरुह होने पर भी, जहाँ एक ओर उसमें विस्मय और कल्पना का आनन्द है, वहाँ दूसरी ओर उसमें एक उस दर्शन का सामाजिक सत्य भी है, जो हिन्दू और मुसलमानों के शाश्वत सम्बन्ध जानेवाले देवी-देवताओं को छुड़ा करके प्रमाणित करता है कि सत्य इतने में ही सीमित नहीं हो जाता है। साधारण बोट की कल्पना के पक्ष लगाकर नये-नूले आवास में जिनका पक्षी उठता है, और चक्कर लगाकर पटफटाता है, उनमें पिष्टपेषण के शक्तिरिक्त कुछ रह नहीं जाता। काव्य जहाँ समाज-सत्य को घोषित करता है, वहाँ वह अभिव्यक्ति में मनुष्य के माधुय भाव की श्रेणी की अभिवृद्धि भी करता है। इसी अभिवृद्धि को प्रकारांतर में एंग्लिस कला की साकेतिकता (Suggestiveness) कहना था, जो निश्चय ही 'ध्वनि' की ही सापेक्ष स्वीकृति है। विचारों का तादात्म्य नहीं होने पर भी जो कभी-कभी काव्य में आनन्द आता है वह इसी साकेतिकता का शक्तिमानन्द है, जो कला का एक अंगमात्र है, संपूर्णता नहीं है। यदि नये कवि ने यहाँ बलम चलाई है जिसपर महाकवि बड़े ही अन्देरे ढग में निश्चयपूर्वक हैं तो नया कवि

प्रायः उनके सामने दीनहीन लगता है। विचारों से भेद का प्रश्न नहीं उठता, उनका तो लेखन ही ऐसे विचारों में स्वयं दृष्टि है। लेकिन जहाँ नये कवियों ने अपनी मौलिकता दिखाई है, वहाँ उन्होंने श्रेष्ठ काव्य लिखा है।

[६] हम 'वाद' का विरोध इसलिए करते हैं कि हमें आधुनिक काल का कोई भी कवि ऐसा नहीं मिला जिम्ने एक वाद में बंधी हुई कविता मिली हो। वाद हैं, परन्तु कोई कवि एक ही वाद में बद्ध कविता नहीं लिख सका है। अतः वाद-भूमि पर विवेचन करने में बहुत-से कवि परिधि के भीतर ही नहीं आते और हम दार्शनिक मूल्यांकन करने में बचिन रह जाते हैं। हमें वाद की कमीटी बनाकर उनपर कवियों को फिट नहीं करना है, बरन् पहले कवियों को देखना चाहिए, तब उनका वर्गीकरण करना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र गुप्त ने ही यह भवैज्ञानिक परिपाटी डाली थी। वे ऐसा वर्गीकरण कर गए हैं कि घनानन्द और रमलान जेमे कवि भी फुटकर कवियों में डाल दिए गए हैं। और किसी भी कवि को फुटकर कहते ही उसकी महत्ता अपने-आप कम हो जाती है।

इसीलिए आवश्यकता है एक व्यापक भूमि की। काव्य में 'वाद' की उतनी प्रमुखता नहीं होनी चाहिए, जितनी जीवन और उसके विभिन्न रूपों की।

यह सत्राति-काल है। इसमें सब कुछ बदल रहा है और नये-नये दृष्टिकोण उपस्थित हो रहे हैं। बहुत-से कवि जो पलायनवादी समझे जाते हैं उन्होंने जीवन के बहुत सुंदर मयार्य चित्रण किए हैं। अभी तक नये कवियों की निष्पक्ष आलोचना नहीं हुई है। जाने-माने रूप से कुछ दल-से बन गए हैं और उन्ही-उन्हीं लोगों के दो-दो उद्धरण देकर नाम गिना दिए जाते हैं। और वस्तु-विषय या विचारधारा का साम्य ही उनके मूल्यांकन का आधार होता है, जबकि काव्य केवल विषय-वस्तु पर निर्भर नहीं होता। उसके लिए अन्य अनेक सत्वों की आवश्यकता होती है, जो कितनी भी वर्ण्य विषय को काव्य की सजा दे सकें। आलोचकों की यह प्रवृत्ति हिन्दी के लिए दुर्भाग्यपूर्ण है। खेद है कि आचार्य रामचन्द्र गुप्त प्रभृति सभी ऐसे आलोचक हैं, जो प्रायः असफल कवि हैं और इसीलिए वे लोग यदि एक सहज आक्रोश मन ही मन रखें तो कोई ऐसा आश्चर्य भी नहीं है। मैं यह बात व्यक्ति-मूलक सधान पर आधारित नहीं करता, बरन् यह तथ्य यह प्रकट करता है कि इनमें वर्तमान के प्रति जो आस्था है, उसमें अध्यापकी लहजा है और वह इनके गौरव के लिए स्तुत्य नहीं है।

मैं यहाँ विचार में इस विषय पर नहीं लिखूंगा कि कविता क्या है? यहाँ इतना कह देना काफी है कि काव्य जीवन की सर्वांगीण स्थिति का चित्रण करनेवाली अनुभूतियों और भावों का वर्णन है। वह अपने युगानुरूप समाज की परिस्थितियों में जन्म लेता है, पनपा है और अपने युग का निर्माण करता है। व्यक्ति की वे अनुभूतियाँ जो केवल उसी

31318

आधुनिक
हिन्दी
काव्यता
में
विषय
और
शैली



डा० रांगेय राघव

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

क्रम

भूमिका १

मय, शिव और सुन्दर १७

नामोप्य और संगं के आत्मन्दन ५०

✓ आस्था और मूल्यांकन ७०

अनिव्यक्ति और विरान १०४

संवेदना और स्वानुभूति १४५

✓ प्रकृत धर्म और दर्शन १६७

समाज और युग-सीमा २०७

आत्म और लोकसंवेदन २३५

आशेय और विवोकरण २५६

उदात्तोकरण और सामंजस्य २८०

✓ मानव-संस्कृति ३०६

नहीं थी, वरन् भारत परतत्रता की बेडियो मे जकडा हुआ था। यह परतत्रता केवल राजनीतिक ही नहीं थी, इसके साथ एक सामंतीय जंजर व्यवस्था भी थी जो संपूर्णरूप से भारत की असह्य-असह्य जनता मे फैली हुई थी, क्योंकि अंग्रेजो ने मध्यवर्गीय उत्थान तथा मशीनों के साथ-साथ भारत मे पदार्पण करने पर भी यहा का सामंतीय जीवन सुरक्षित छोड दिया था। परिस्थिति के इस भेद ने वही दुरुहता पैदा की जो छायावाद मे प्रकट हुई। रोमासवाद इंग्लैंड मे जनप्रिय हुआ क्योंकि उसमे तथ्यो मे नवीनता का विकास अधिक था, शेली, कौट्स, वायरन आदि जनता में पहुंचे हुए कवि बने, जबकि प्रनाइ, एन, निराला, महादेवी आदि अपनी अभिजात व्यंजना के कारण पढ़े-लिखे लोगो तक ही सीमित रह सके। इनमे शेली, वायरन जैसा समाज-पक्ष नहीं रह सका तथा न पुदिकन जैसी जनप्रियता ही इन्हें मिल सकी, जो स्वयं स्वतन्त्रता का हामी था और जिसने रूसी क्रांति की नींव डालनेवालो में अपना स्थान बनाया था।

हिंदी का रोमांसवाद अपनी भिन्न परिस्थितियों मे बदला हुआ था। छायावाद के रूप मे प्रतिफलित यह धारा अपने उद्गम वेग से बही। इसने जो अपनी व्यंजना से लोगो को अमल्वृत किया, पुराने लोगो ने इसका घोर विरोध किया, परन्तु नये मध्यवर्गीय तत्त्वो ने इसका मुक्त कण्ठ से स्वागत भी किया। धीरे-धीरे हिंदी मे व्यंजना-त्मकता-भरी इस शैली को इतना प्राधान्य मिल गया कि इसीको छाया आज भी पीछा नहीं छोड सकी है। प्रयोगवाद इसीकी पकड़ने की चेष्टा में है, किन्तु क्योंकि प्रयोगवाद मे छायावाद का समाज-मूल नहीं है, वह केवल व्यक्ति-पक्ष को लेकर खडा होना चाहता है। प्रयोगवाद की दुरुहता शैली मे ही समाप्त नहीं हो जाती, वह भाव की भी अभिव्यक्ति को पकड़ती है और रोमांसवाद का अन्हडपन उसमे अपने नवीनतम रूप मे आता है, जो मूलतः यौनवाद है। यौनवाद, मामलवाद, आदि हिंदी मे बहुत गिने-माने जाते रहे हैं। यौनवाद और प्रकृतवाद मे भेद है। अतियथार्थवाद उसका थोडा-सा भिन्न रूप है और इन सबने अनासन्नित्व प्रयोग मे पाया है। फ्रायड का चिन्तन जिसने यौनवाद की पुष्टभूमि खडी की है, वह भी काफी हद तक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य या व्यक्ति-भिन्नात्व के रूप मे अपने-आपको इसमे बनाए रखने की चेष्टा करता रहा है। यहा हम इनका विवेचन आवश्यक समझते हैं।

[६] यूरोप मे फ्रायड के सिद्धांतो का गहरा प्रभाव पडा। फ्रायड के विषय मे हिंदी मे लिखा जा चुका है और फ्रायड का बहुत बडा प्रभाव बनाया गया है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य के जो उपचेतन मस्तिष्क होता है उसमे यौन सम्बन्धी भावनाएँ समाज के वर्जनशील नियमो के कारण समा जाती हैं और वह यौन विकृतिवादी अपने को विभिन्न रूपो मे प्रकट करती रहती हैं। फ्रायड की बहुत-सी बातों को यद्यपि एडलर और जुग ने ठीक करने की चेष्टा की, किन्तु उस सबका मूलाधार यौन विकृति ही रहा और वे सब

भूमिका

काव्य में चेतना का तात्पर्य

काव्य तो चेतना का ही पर्याय है, फिर नयी और पुरानी का सघर्ष तो दूर, पहले इसे ही सोचना आवश्यक है कि उसमें फिर चेतना का प्रयोग ही किसलिए किया जाए। क्योंकि यह या तो विरोधाभास-भा लगता है या इसमें यह दृष्टि है कि जो कुछ है, हमारी ही पीढ़ी है और पहले काव्य में चेतना ही नहीं थी। इसलिए इसकी व्याख्या करना उचित है। काव्य तो सदैव से मानव-चेतना का प्रतिबिम्ब है। जब हम उसे काव्य में ढूँढते हैं, तब वह अप्रत्याशित ही मिल जाती है। प्रकृति-वर्णन, लोक-वर्णन, समाज-वर्णन, व्यक्ति-वर्णन से लेकर अतः प्रकृति तक के वर्णन में वह हमें प्राप्त होती है। प्रतीकों या पात्रों के माध्यम से वह ध्वनित हुआ करती है। अतः जब हम उसीपर केन्द्रित होते हैं तब समग्र सृष्टि का मानव-मस्तिष्क में चेतन-रूप जो बिंबीकरण है, उसे नहीं देखते, वरन् उसे देखते हैं जो मानवात्मा के उत्थान को प्रकट करनेवाली भावना है, जो उसे उदात्त बनाती है। परिपाटी का सौन्दर्य पार करके जब लेखनी नयी स्फूर्ति प्रदान करने में समर्थ होती है, तब हम उसे चेतना कहा करते हैं, क्योंकि बहुकृत्य-बहुकरणीय जीवन में कविता एक छन्द-बद्धता ही नहीं, एक सौन्दर्य है जो जीवन के प्रत्येक कार्य-व्यापार में होती है। वह सौन्दर्य ललित बलाघो के विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्ति पाता है, और लोकहित की कामना भी उसी सौन्दर्य के अंतर्गत आती है। इस प्रकार जब हम काव्य में चेतना देखते हैं तो मानव उस चेतना को नहीं देखते जो मानवीय विकास का परिणाम है, वरन् उसे देखते हैं जो सर्वात्म को अपने में लीन करके उदात्त बनने की ओर प्रेरित करता है और मुदरता की अभिव्यक्ति को अपना सत्य और शिव बनाती है।

नवचेतना की व्याख्या

प्रत्येक युग अपने साथ कुछ परिवर्तन लाता है। आदिकवि वाल्मीकि वास्तव में आदिकवि नहीं थे। उनसे पहले उपनिषदों और उनसे भी पहले वेदों के कवि थे। किन्तु महाभारत-युग के अंत में जब लोक-काव्य के रूप में गेय महाभारत में लोक-गाथाएँ सबद्ध हुईं तब वाल्मीकि रामायण की पुरानी कथा में भी नये सबद्धन प्रारंभ हुए और क्योंकि

कवि ऐसा नहीं है, जो इन्हो वादो मे अलनहित हो जाए। अत हिन्दी मे प्रचलित इन मान्यताओ का विश्लेषण करते समय हम यदि कुछ कवियों के यहा उद्धरण देते हैं, तो उन्हीके उद्धरण हम आगे किसी दूसरे वाद के अलनगत भी दे सकते हैं।

[१०] प्रयोगवाद का एक अलकार 'प्रतीकवाद' है, जो कुछ समय पहले बहुता यत से प्रयुक्त किया जाता था। हिन्दी मे प्रतीकवाद छायावाद की शैली मे ही समाविष्ट है, जहा प्रतीकों के प्रयोग से अर्थ समझाने की चेष्टा हुई है। अत उसे बिलकुल स्वतन्त्ररूप से अलग मानना कदापि उचित नहीं है। रूस मे मायकोवस्की के प्रारम्भिक काव्य-काल मे साम्राज्यवादी सस्कृति के विरुद्ध जो 'भविष्यवाद' नाम से व्यक्तिपरक विद्रोह उठा था, वह प्रतीकों का अधिकार प्रयोग किया करता था। हिन्दी मे भविष्यवाद का कोई स्पष्ट प्रभाव दिखाई नहीं देता, किन्तु प्रतीकों का काफी असर पडा है और नये-नये प्रतीक बनाए गए हैं और बनते जा रहे हैं। प्रतीक अपने अलकार के रूप मे काव्य का गुण है, किन्तु वह स्वयं काव्य नहीं है, क्योंकि वह एक मूर्त की छाया बनकर सांकेतिक योजना बनकर ही रह जाता है, उसमे भाव को जागरित करने की शक्ति नहीं होती। वह भावानुभूति की तीव्रता को स्पष्ट करने में अवश्य लाभकारी सिद्ध हो सकता है। प्रतीक काव्य मे इसीलिए सदैव ही बनते रहेंगे। वास्तव मे प्रतीक बाह्याधार है जो युगानुरूप परिस्थितियों से प्रभावित होकर देश-काल के अनुरूप सदैव बदलता रहेगा। उसे काव्य का जीवन-स्रोत नहीं समझा जा सकता। प्रयोगवाद प्रतीक पर सबसे अधिक निर्भर है, क्योंकि प्रतीक की नवीनता ही प्रयोग को व्यजना को एकमात्र आत्मा है, उसीमें चमत्कार उत्पन्न करने की बहुला शक्ति हो सकती है।

[११] सार्थ का अस्तित्ववाद हिन्दी मे अपना सीधा प्रभाव नहीं डाल सका है। व्यक्ति जीवन रहना चाहता है और किसी प्रकार अपना अस्तित्व-मात्र बनाए रहना चाहता है—यही दम समस्त वाद का मूल है। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति अपने को समाज की घोर बीमत्सा मे पिता हुआ सोचता है। उसे न केवल अपने चारो ओर दैन्य और निराशा दिखाई देती है, वरन् वह स्वयं उसके विरुद्ध होने की कल्पना कर लेता है। इस दृष्टि से व्यक्ति अपने को निरसहाय समझता है और समाज मे अर्थ के घात-प्रतिघात को भाग्यवाद की दुर्दमनीय प्रणाली-मात्र समझने लगता है। उसकी सत्ता अपने चारो ओर परिधि सीध लेनी है और एक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व से सामरस्य नहीं दूझता, वरन् वह दायरो मे बंध जाता है और उमे यह प्रतीत होता है कि यह समार वास्तव मे उमको मिटा देने मे लगा हुआ है।

अस्तित्ववाद की स्थापना यूरोपीय प्रथम महायुद्ध के बाद को निराशा में हुई जब पूजावादी सस्कृति की विभीषिका मे व्यक्ति को लगने लगा कि वह हर ओर से अमुरक्षित है। साम्यवाद अस्तित्ववाद के दृष्टिकोण से सर्वहारा का वरं और निरक्षर अधिनाय-

हुआ और भारत में अधिक होने का तात्पर्य है कि यहाँ विद्रोह अधिक हुआ। परिवर्तन की अधिक मांग रही। नया समाज बार-बार बनाने की चेष्टा हुई। मानवीय मूल्यों को बार-बार पुनराकित करने का यत्न हुआ। यह किसलिए? इसलिए कि यहाँ मानव-वादी विचारधारा अधिक फैली, क्योंकि यहाँ समाज की व्यवस्था व्यवहार में बड़ी ही असमता पर स्थापित रही। परन्तु प्रत्येक युग में हम परिवर्तन देखते हुए भी, उसका अपने से पुराने युग से एक क्रमशः विकास देखते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता या दासता से चेतना की स्वतंत्रता या दासता नहीं मिलती। जब तुलसी-मूर का युग था, तब भारत मुगल साम्राज्य के नीचे बुरी तरह कुचला पड़ा था, किन्तु कवि-चेतना उतनी ही उद्दाम-प्रखर थी। जब बिहारी-देव के युग में मुगलों का वैभव भारतीय जनता पर इतना भयावह नहीं रहा था, तब कवि-चेतना उतनी प्रखर नहीं थी। जितना दुःख होता है, चेतना उतना ही निखार लाती है। दासता के मध्यकालीन आठ सौ वर्षों में भक्ति के रूप में जिस मानववाद को भारत में प्रतिध्वनित कर दिया गया, वह पहले के युगों में इतना प्रचण्ड नहीं था, क्योंकि समाज तब इतना जकड़बद्ध कुरीतिपूर्ण नहीं था जितना बाद में हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि 'नये' का 'पुराने' से जो संबंध होता है वह 'भावना' का ही अधिक होता है।

उसका स्थायित्व और सार्वजनिक सत्य

तब प्रश्न यह उठता है कि युग तो बदलते ही रहते हैं, फिर साहित्य का स्थायित्व और सार्वजनिक सत्य क्या है? मानव-समाज के बाह्य परिवर्तनों की भाँति मनुष्य के भाव-जगत् में उतना परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वह मूलतः अपनी प्रवृत्तियों की नींव पर ही खड़ा होता है। अतः 'भाव' का स्थायित्व अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक है। जो साहित्य 'भाव' से सम्बन्ध रखता है, वह किसी भी वस्तु-विषय या रूप को लेकर भी, स्थायी तत्त्व अपने भीतर अधिक रखता है। मैंने इसी दृष्टि से नये काव्य को देखा है। मेरा उद्देश्य केवल उसका परिचय देना ही नहीं था, बल्कि उसकी उपलब्धियों को भी मनन के योग्य जानकर सामने लाना था, उसकी सुन्दरता को प्रकट करना था।

युग के प्रश्न बदल जाते हैं, मानव अपनी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती सांस्कृतिक परम्परा में उस एकमूर्त चेतना को देखता है, जिसमें मानव का उदात्त रूप, उसका सौन्दर्य चलना चला जाता हुआ दिखाई देता है। यह मानव का भावपक्ष ही है। उसका यथातथ चित्रोत्तरण अपने में कोई विशेषता नहीं रखता। वह तो उसको चाहता है जो उसे आगे का पथ दिखाए, उसके सामने पथ को चौड़ा करता चला जाए। नये युग में इस कार्य की ओर जो प्रयत्न हुआ है, वही हमने यहाँ अपने विवेचन का विषय बनाया है। इसमें कितना सार्वजनिक और मार्गदर्शक है, वह पाठकों के समक्ष स्पष्ट रखा गया है, और वे पढ़कर ही जान सकते हैं कि वे इसमें से कितना इस योग्य पाते हैं। इस दृष्टि से मैं समझता हूँ कि

था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य की इस धारा को नहीं देख सके थे।

[१३] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय जब समाज में परिवर्तन हुए तो वे काव्य को इन अभिव्यक्तियों के समीप लाने में लगे। उनकी राय में काव्य का सहज होना अन्याय था। परन्तु द्विवेदी-काल में कविता को तनिक उठाया गया और आभिधा-प्रधान होते हुए भी यह काव्य उतना सरल नहीं था जितना भारतेन्दु-कालीन काव्य था। रीतिकाल की शृंगारपरकता कम की गई और उपादेयतावाद ने स्थान लिया। इसका कारण दयानन्द के आन्दोलन का प्रभाव था, और राष्ट्रीय सग्राम की भी उसपर छाया पड़ी थी।

किन्तु मध्यवर्ग उतने ही से मनुष्य नहीं था। छायावाद अर्थात् अभिजात शैली का उदय हुआ, जिसने काव्य को यद्यपि मुक्त तो किया किन्तु इसकी उद्धान साधारण जनता में काफी दूर हो गई। व्यञ्जना-प्रधान इस शैली ने भारतेन्दु तथा द्विवेदी-कालीन कविता को अपनी ऊँची कोटि का नहीं माना, जितनी अपनी कविता को। आज भी बहुत-से आलोचक यही मानते हैं कि छायावाद ने भाषा को जो मजाहट दी है, उसको छोड़ने में कविता का भेयार गिर जाता है। आधुनिक कविता को जनप्रिय होने से रोकने-वाला यह सबसे बड़ा कारण है। प्रयोगवादी काव्य ऐसा ही एक प्रयत्न है जो काव्य को उसी ऊँची अभिजात शैली का ध्वसावशेष बनाकर रखना चाहता है।

मैकॉले ने कहा था कि ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता है, कविता का ह्रास होता है। मैकॉले अपनी जगह ठीक था क्योंकि सभ्यता से उसका तात्पर्य पूँजीवादी संस्कृति के विकास में था। पूँजीवादी संस्कृति धन को मनुष्य के ऊपर स्थापित करती जा रही थी, व्यक्ति समाज के द्वन्द्व में आ गया था, और मशीनों का महत्त्व तथा प्रभुत्व धीरे-धीरे प्रकृति के साहचर्य को दूर कर रहा था, और हृदय-पक्ष पर हृदयहीन शोषण सवार होता जा रहा था। सामंतीय जीवन में प्रजा और राजा का सीधा सम्बन्ध था और भाग्य-वाद उस समाज की रीढ़ था। पूँजीवाद ने भाग्यवाद के दुःख भोगनेवाले भाग को तो जीवित रखा, किन्तु अब शोषण के रूप बदल गए और शोषक और शोषित का व्यक्ति-पक्ष में भी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। यह याद रखने की बात है कि काव्य का जन्म सामूहिक जीवन के उत्पादन-वितरण के सामूहिक रूप में हुआ था, और व्यक्ति के समाज में एकांतिक होते जाने के साथ, काव्य का भी ह्रास होता गया। अतएव काव्य की जीवित शक्ति, भावानुभूति का सामरस्य ही जब नष्ट होने लगा तब काव्य का दुरुह हो जाना नितान ही स्वाभाविक हो गया। इसके विरुद्ध दूसरी ओर सोवियत काव्य का जन्म हुआ, परन्तु वह अधिनाश नीतिपरक रहा और उसने अधिकांश जीवन की वीरता, करुणा आदि को ही छुड़ा, जिसके कारण जीवन का सामोपाग रूप समाज को नहीं मिला। इन दो दूरियों ने एक खाई पैदा की। सोवियत रूस ने क्रांति की और वहाँ छुलाग लगाई गई

विभिन्न रूपों में विकास किया है।

प्रकृति मनुष्य के इतने पास है कि उसने उसके मन के पक्ष को छुआ है, तभी उसे निरन्तर उसके काव्य में म्यान मिलता रहा है।

प्रकृति के काव्य में रूप और साधर्म्य का विकास

प्रकृति के काव्य में अनेक रूप हैं।

प्रकृति को पहले पक्ष में उपामना के आधार के स्वरूप में लिया गया। इसलिए हमें भक्ति के स्वरों में उसका दर्शन मिलता है। इसी पक्ष का दूसरा स्वर है भय, जिसके स्वरों में हमें प्रकृति का भ्रान्तक प्रदर्शन होता है। किन्तु कालावधि व्यतीत होने पर हम ज्यों-ज्यों प्रकृति को समझते गए और सम्यता की ओर अग्रसर होते गए, हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन होता गया।

प्रकृति एक उद्दीपन करनेवाली बस्तु बनी। और उसके माध्यम से मनुष्य अपने राग-द्वेष को घटना-बढ़ता देखने लगा। इसमें स्मृति का हाथ काफी प्रबल हो उठा। वासनाजग्य विकारों ने इसमें अपना बहुत अधिक साग्निष्य देखा।

आत्मम्वन रूप में प्रकृति को देवता दूसरा दृष्टिकोण बना।

इन दो रूपों के अनिरीकित भी प्रकृति के काव्य में स्वरूप प्रस्तुत हुए।

प्रकृति का स्वयं में भी सौन्दर्य होता है। महाभारत के प्रकृति-चित्रण में हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें प्रकृति अपने-आपके ही लिए अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग में चित्रित की गई है।

प्रकृति में अपने उपास्य को खोजना और ब्रह्मस्वरूप समझकर एकमात्र रहस्य के अन्तर्गत उसे रखकर देखना भी प्रकृति के चित्रण का एक रूप है। प्राचीन और मध्य-कालीन रहस्यवादियों का ऐसा ही दृष्टिकोण था। किन्तु अर्वाचीन काल में ब्रह्मरूप में तो कोई एकेश्वर नहीं माना गया, तथापि प्रकृति की महानता में अपनेको आत्मसान् करने की छायावादी कवियों ने चेष्टा की।

प्रकृति पलायन का भी केन्द्र-स्थल बनी। समाज की विपमता में ऊँचे हुए मनुष्य ने प्रकृति की कमनीयता को ही अपने सामने रखा।

मध्यकाल में प्रकृति को उपदेशक के रूप में काव्य में चित्रित किया गया। यदि प्रत्यक्ष ऐसा नहीं किया गया तो प्रकृति के गुणों को तुलनात्मक रूप में मनुष्य के चरित्र से मिलाकर प्रस्तुत किया गया। यह प्रवृत्ति सती और भक्त कवियों में हमें मिलती है।

किन्तु प्रकृति का एक और रूप रहा है, अस्तुत वा मूर्तीकरण। इस रूप में प्रकृति अपने-आपमें इतना प्रभाव नहीं रखती, जितना अपने आधार की उपमा या छवि-विधान बनने में सार्यरुता दिखलाती है।

समाज की रुढ़ियों में बन्द हो जाने पर भी साहित्य ने परम्परा और परिपाटी की

छापेखाने के प्रयोग ने कवि को जनता से अलग किया । और लिखने, छपवाने की प्रवृत्ति ने काव्य को जनता के प्रति नये युग में सीधा उत्तरदायित्व नहीं दिया । रीतिकाल की समस्त मुक्तक कविता वास्तव में राधाकृष्ण की प्रचलित कथा पर आधारित है, इसलिए उसे भी समझने में जनता को, जो भी उसके निकट आ सकी, उतना कष्ट नहीं हुआ, जितना नई कविता को समझने में होता है, क्योंकि भवकी धार के मुक्तक काव्य ने जनता में प्रचलित किसी आधार को नहीं लिया है । नये मुक्तक के उपमान, तथ्य आदि सब ही नये हैं, और उनकी पृष्ठभूमि अभी तक बत नहीं सकी है । प्रयोगवाद में तो यह शैली तथा भावगत दुरुहता है और प्रगतिवादी काव्य की अडचन दूसरी है । वह अभी नये समाज की नई नीति को स्थापना कर रहा है । अभी उस नये समाज की कल्पना पूरी तरह से जनता में उतर नहीं पाई है, क्योंकि व्यक्तिवादी ढंग से प्रचलित आधुनिक प्रगतिवादी कविता ने मध्यवर्गीय शैली में विकास किया है, उसने जनता में प्रचलित काव्य-माध्यमों से अपना नाता नहीं जोड़ा है और जनता अभी काव्य को भानती है, जब उसका अपना जीवन उसमें प्रतिबिम्बित होता है ।

प्रयोग के विषय में जो हमने बताया था कि उसने अपनी ही परम्परा में मौजूद स्थानों में आश्रय बनाया था उसमें एक यह ही है जिसने काव्य को बढने से रोका है ।

[१४] इनके प्रतिरिक्त प्रयोगवाद के आश्रयस्थल रहस्यवाद और पलायनवाद हैं, जो अभी तक हिन्दी काव्य में बचे हुए हैं । इनका प्रभाव भारत में दो कारणों से है, एक तो दर्शन की परम्परा और दूसरी योग-मार्गों की परम्परा । दर्शन का प्रश्न भारत में बहुत पुराना है और शताब्दियों में उसका प्रभाव जनता तक गहरा उतर गया है, जिसका कारण है यहाँ के जीवन की प्रायः एकरसता । खेतिहर प्रणाली इसका मूलाधार है । वह भाग्यवाद को जन्म देती है क्योंकि परिस्थितियाँ आकाश के बादलों पर निर्भर होती हैं । जल नहीं बरसा, अनाज पड़ गया । बरस गया, खेती हो गई । सृष्टि की प्राकृतिक क्रियाओं के ऊपर निर्भरता, मनुष्य को लघुता की ओर प्रेरित करती है और फिर वह सृष्टि के रहस्यों को जान लेने की चेष्टा करता है और यही रहस्यवाद का मूल उद्गम है, क्योंकि जानने में लगा हुआ व्यक्ति जब अमली तथ्य की व्याख्या नहीं कर पाता, तब अज्ञान को अव्यक्तरूप में अनुभव करने का प्रयत्न करता है । यही रहस्यवादी भावना जब समाज में पुरे हित-वर्ग के रुढ़िवाद के विरुद्ध उठ खड़ी हुई थी, तब उसने लघुता में महानता की ओर प्रेरित किया था, किन्तु उसके बावजूद अपनी वस्तुस्थिति में वह अभावपूर्ण ही रहा योग-मार्गों की परम्परा जब रहस्यात्मक जीवन की साधनापरक पद्धति से खोजने का यत्न करती है तब वह व्यक्तिमूलक हो जाती है । मध्यकालीन साहित्य तक हम कह सकते हैं कि अज्ञानोत्पत्ता इनके रूप काव्य में प्रतिबिम्बित हुए थे, किन्तु आधुनिक काल में द्वाया-वाद ने जिस रहस्य की छाया देखी, वह यद्यपि पुरानी धारा का ही प्रतिफलन था, किन्तु

इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि अतत मनुष्य की भी एक प्रकृति है। धुषा, पिपासा, काम, प्रजनन और मृत्यु उसके वे काम हैं जिनके प्रति वह अपने को विद्यमान मानता है। किंतु यह तो प्राणिमात्र के धर्म हैं अतः उनको ही धर्म नहीं समझना चाहिए। मनुष्य में एक और भी पक्ष है। वह उसका आन्तरिक पक्ष है। जो उसका प्रवृत्ति-पक्ष है, वह तो सर्वसाधारण है, किंतु वह पक्ष जिनमें उसकी सुख-दुःख की अनुभूति है, प्राणि-जगत् में उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से जबकि अन्य प्राणी प्रकृति के अगभात्र हैं मनुष्य ऐसा अग है, जो अपने अगत्व को पहचानता भी है और निरंतर यह भी सोचता है कि ऐसा क्यों है? वैसा क्यों है? यह एक विचित्र बात है कि पूर्ण का अग अपने को पूर्ण समझकर, वस्तु के भीतर होने हुए भी, उमने अगगात्र अनुभव करके, फिर उममें सामीप्य का अनुभव करता है।

यही मनुष्य का भाव-पक्ष है। इस भाव-पक्ष का आधार उसकी प्रवृत्तियों पर निर्भर है। योगी लोग अपनी प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे लोगों को लोक में असाधारण माना गया है। इसलिए भरत मुनि ने योग-पक्ष को काव्य के अंतर्गत नहीं माना है, क्योंकि उममें सुख-दुःख की सहज और सर्वसाधारण की ही अनुभूति नहीं होती। लोक में द्वेष और राग दोनों ही मनुष्य का संचालन करते हैं। यद्यपि प्रवृत्ति-रूप में यह सब मानव में विद्यमान है, किंतु उमके दमन की अगह, उमका उदात्तीकरण ही काव्य का मुख्य कार्य माना गया है। एक दृष्टि से काव्य का उद्देश्य और योग का उद्देश्य समान है, परंतु एक में भावात्मक दृष्टिकोण को अपनाया गया है, जबकि दूसरे में अभावात्मक अग को अपनाकर प्रकृति के कुछ अग को अन्वोकार कर दिया गया है। योगी होने पर भी मनुष्य धुषा और पिपासा का तो निराकरण करता ही है।

मानव-धर्म और जिजीविषा

प्रकृति को जीतना ही मनुष्य का कार्य रहा है।

आदिम मानव ने जब गुहा ढूँढ ली थी और वर्षा में बहा बँठ गया था, तब यद्यपि वह मेघ देवता से डरता रहा, तथापि उमने एक प्रकार से अपने को बचाकर, प्रकृति पर जीत प्राप्त कर ली थी। अग्नि का प्रयोग सीखकर उसने अपनी सम्यक्ता को आगे बढ़ाया। अग्नि की कथा अनेक प्राचीन साहित्यों में भी इसीलिए प्राप्त होती है। यह एक द्रष्ट है कि मनुष्य ने अग होकर अगी को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। प्राचीन और मध्यकाल में मनुष्य की सम्यक् जातियों का प्रायः विश्वास यह था कि पृथ्वी ही सृष्टि का केन्द्र थी और मनुष्य के लिए ही यह सारी रचना हुई थी। किंतु विज्ञान के विकास ने उमकी इन धारणा को तोड़ दिया। इससे यद्यपि मनुष्य ने अपनी निरपेक्षता और लक्ष्मणा के नये दृष्टिकोण अपनाए, परन्तु उसमें जीवित रहने की इच्छा ने नये प्रकार की प्रतिस्पर्धा भर दी। इसका दूसरा फल यह भी हुआ कि

हैं। मार्क्सवाद ने इस दृष्टिकोण को तोड़ा और 'नया 'मानववाद' प्रस्तुत किया जिसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सच्ची व्याख्या थी। किन्तु दुर्भाग्य से वह प्रतिष्ठापना ऐसी नहीं हो सकी कि जनमघर्षों में से अपना विक्रम करती, वह बौद्धिक रही, और उसने समस्त पुरानी परम्परा को आत्मसात् करके छोड़ने के स्थान पर, उसपर एकदम प्रहार किया और सबको चौंका दिया और वह अपना अलग रास्ता बनाने लगी। इसका कारण था सकीर्णतावाद जिसने सामाजिक विवेचन करते समय रुढ़िवाद का पल्ला पकड़ा। मार्क्स ने जिन परिणामों को यूरोप के इतिहास का अध्ययन करके निकाला था उन्हें भारतीय परिस्थिति पर लागू किया गया, जबकि मार्क्स के परिणामों को नहीं उसके सिद्धान्तों को भारतीय परिस्थिति पर लागू करने की आवश्यकता थी, उसके लिए इस देश के इतिहास, संस्कृति और परिस्थिति को अपने अध्ययन का विषय बनाने की आवश्यकता थी। इस प्रकार यथार्थ के नाम पर सकुचित राजनीतिक दृष्टि-भर रखी गई और जीवन के ग्रन्थ क्षेत्रों को छोड़ दिया गया, जबकि मार्क्सवाद केवल राजनीति नहीं है, वह जीवन के मूल्यों का नया निर्धारण है जो व्यक्ति, समाज और संस्कृति के मूल प्रश्नों को उठाता है और उनमें द्वन्द्व नहीं समन्वय स्थापित करना चाहता है, जो मानव-मानव के पारस्परिक द्वन्द्व को मिटाकर द्वन्द्व को मानव और प्रकृति के बीच में पैदा करने की योजना बनाता है, और प्रकृति और मानव का द्वन्द्व वह ऐसे पैदा करता है कि मानव 'अप्राकृतिक' नहीं हो जाए, वरन् प्रकृति को अधिक से अधिक अपने लक्ष्य के लिए प्रयुक्त कर सके, क्योंकि मानव अतत्त्वोत्पत्ता प्रकृति का एक भाग ही है, और वह प्रकृति का प्रयोग कर सकता है, उसको बदल नहीं सकता। 'रहस्य' और 'शाश्वत' का वह कोई परम्परागत समाधान नहीं करता।

[१६] द्विवेदीयुगीन काव्य की उपादेयतावादी चिन्तना के विरुद्ध छायावाद ने अपना सफल स्थान बनाया, किन्तु शीघ्र ही लोग उससे ऊब उठे क्योंकि युग की मांग आगे बढ़ने की चेष्टा कर रही थी। इस आगे बढ़ने की चेष्टा को मध्यवर्गीय कला ने ईमानदारी से देखा और बौद्धिक दृष्टिकोण ने 'ग्राम्या', 'युगवाणी' का सिरजन किया, जिसमें 'होना चाहिए' की पद्धति अपनाई गई और इसीलिए कवि ने उस काव्य को 'गद्य-नीति' कहा। प्रगतिशील काव्य की यह बुनियाद बुद्धिवादी रही। बजाय जन-जीवन में उतरने के, दूर से उसपर विवेचन किया गया और प्रगतिशील कवियों में यही परम्परा चल पड़ी।

दूसरी ओर छायावादी परम्परा तरुण कवियों द्वारा तोड़ी गई। हालांकि व्यक्ति की मस्ती का प्रतीक बनकर आया, जिसने समाज की रुढ़ियों पर प्रहार किया। अराजकतावाद, सधर्षवाद, अतिशक्तिवाद और विद्रोहवाद फूट निकला, जो पुराने को पसन्द नहीं करता था, जिसकी मुजाए फड़कती थी, जो प्रचलित पलायनवाद और निराशावाद को उखाड़ फेंकना चाहता था, परन्तु व्यक्ति का आक्रोश उसकी शक्ति थी, उसका कोई सामाजिक आधार नहीं था। यह आवाज साम्राज्यवाद के भी विरुद्ध थी। इसने पुरानी

अनुभव करता है।

और धाज भी जन हम विज्ञान की बात करते हैं तब वही प्रकृति में केवल प्रतिस्पर्धा दिखाई देती है। जबकि मनुष्य चाहता है सुदरता।

सुदरता अपने-आपमें कुछ भी नहीं है, वह तो प्रकृति के कार्य-व्यापारों का ही स्वरूप-भेद है। उसीको हमने बाहर से भीतर तक उतार लाने की चेष्टा की है, अपनी लघुता में उस विराट तत्त्व को समेटकर। प्राणी में सुदरता की परख समान रूप से नहीं होती। ममूर मेघ को देखकर नाचता है, जिसे देखकर लगता है कि उसको उमग आती है जब वह मेघ को देखता है। परंतु यह स्वभावजन्य भी माना जा सकता है। मनुष्य में सुदरता की अनुभूति बहुत अधिक होती है, यद्यपि सब मनुष्यों में यह भावना समान रूप से नहीं पाई जाती। बहून-से लोगों की सुदरता बहुत ही स्थूल होती है, जबकि उसकी प्रतिभूषिता की ओर संस्कृति निरंतर प्रेरित करती रही है।

रहस्य-भावना और व्याख्या-केन्द्र

आदिम रहस्य-भावना में प्रकृति में भय था। प्राज भी विज्ञान ने भय को जागरित किया है। तब अज्ञान का भय था, अब अविश्वास का भय है। तब मनुष्य समझता था कि उसके पाप-पुण्य का प्रकृति की दक्षिण्ये से सीधा सम्पर्क है और अब वह यह समझता है कि प्रकृति उसे निरीह समझती है। विवेक ने उसे बार-बार जागरित किया है कि वह अपने को इतना अधिक महत्त्व न दे कि वह अपने को ही सबका केन्द्र समझे। असल में मनुष्य का अहं यही चाहता है कि सबपर छा जाए। वह यह स्वीकार नहीं करना चाहता कि वह अपनी सत्ता का अर्थ नहीं समझता।

विवेक के विकास द्वारा मनुष्य का सौहार्द एक घोर जहा प्रकृति के प्रति घटा है, वही दूसरी ओर उसमें तर्क-प्रवृत्ति अधिक बढ गई है। वह अधविश्वास में केवल आसो-देता, या परम्परा से आया सत्य स्वीकार नहीं करना चाहता। वह सहज को भी अपने सम्बन्ध में सदैव असाधारण करके देखने का आदी हो गया है। ज्यो-ज्यो वह प्रकृति की व्याख्या करता जा रहा है, त्यो-त्यो उसका अहं भी बढता जा रहा है। किन्तु अहंकार प्राणि-विकास का ही एक गुण है। वह प्राणि-मात्र में है। अहं, अर्थात् अपने अलगपन की अनुभूति होना, कौटम्बतगो में भी है, तभी मृत्यु से वे भी डरते हैं। यह प्रवृत्त्यात्मक सत्य है। प्राणी ज्यो-ज्यो विकसित होता जाता है, त्यो-त्यो उसमें अपने को जीवित रखने की, मानद मनाने की प्रवृत्ति बढती जाती है।

और अब विज्ञान द्वारा हमने देखा है कि अहं का यह विकास जिस रूप में हुआ है वह एक सहज प्रक्रिया है। मनुष्य ने अब उसकी कुछ भलक-भर पाई है। अभी भी मनुष्य में स्वप्न-पक्ष की एक प्रकृति है, जो वह स्वयं समझ नहीं पाया है।

पुराने लोगों ने इसी 'अपनेपन' को अधिक से अधिक समझने की चेष्टा की थी।

प्रगतिशील चिंतन पर विवेचन करना अब आवश्यक है। 'प्रगतिशील साहित्य के मानडण्ड' में हम इसपर विवेचन कर चुके हैं, परन्तु वहाँ जो बातें रह गई थी, उनको यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। काव्य क्या है यह हम स्पष्ट कर चुके हैं। यहाँ हिन्दी की समस्याओं पर ही विचार करेंगे।

पहली बात यह है कि व्यक्ति की किसी भी अवस्था में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें व्यक्ति के विवेक अथवा न्यायबुद्धि को समाज के सम्बन्धों में निरपेक्ष भाव में मुक्त करके देखा जा सके। दूसरी बात यह है कि व्यक्ति जब समाज के तादात्म्य में अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्र सम्झी जानेवाली उन वृत्तियों का परिमार्जन करता है, जो उसके दैनिक-सामाजिक सम्बन्धों में बाह्य वस्तुओं का नियंत्रण करती हैं, अथवा जो कहें कि एक-दूसरे को हानि-लाभ पहुंचानेवाली आदान-प्रदान, वितरण, क्रय-विक्रय करनेवाली वे स्थिति का माध्यम बनती हैं, तब वह अपने व्यक्तित्व का हनन नहीं कर देता वह समाज में मशीन का अंग बनकर नहीं रह जाता। जिस प्रकार समाज-रूपी शरीर में आत्म-रूपी व्यक्ति अपने स्थान पर नियत है, पर अपनी शक्ति से दूर-दूर तक को देखने के लिए स्वतन्त्र है, उसी प्रकार व्यक्ति की भेषा भी समाज में कुण्ठित नहीं हो जाती। मार्क्स ने यूरोप की तत्कालीन परिस्थिति में इसी सत्य को देखा था। गड़ड़ा देखकर भी यदि आत्म गड़ड़े में शरीर को ले जाना चाहे, अथवा शरीर के मरने पर आत्म जीवित रहना चाहे, तो जिस प्रकार आत्म के माध्यम से मस्तिष्क परिचालित होकर भी अपना भला-बुरा नियंत्रित करता है, तथा शरीर के मरने पर आत्म को भोजन मिलना बन्द होकर आत्म का काम समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति सारे समाज में ऐसी अन्य भी शक्तियाँ प्राप्त करता है, जो उसपर नियंत्रण करती हैं और समाज के न होने पर व्यक्ति भी जीवित नहीं रहना। व्यक्ति अपनी भाषा, अपना चिन्तन, सब सामूहिक रूप से ही सीखता-सम-झता है। ये दो बातें समस्त गणपं को स्पष्ट करती हैं। 'ऊर्ध्वचेतन' की और विकास-क्रम में आगे ले जाने की जो बात योगी श्री अरविन्द ने कही है वह व्यक्ति की चेतना को समाजगत करके नहीं देखती, जबकि अरविन्द ने एमीबा से अपने विकास को प्रारम्भ किया है।

यह सत्य है कि मनुष्य का विकास करोड़ों वर्षों में हो जाएगा, परन्तु उसका कोई विचाम व्यक्तिवादी ढंग से समाजगत रूप को छोड़कर नहीं हो सकता। यहाँ कोइस्लर की बात या जाती है, जिसने कहा है कि योगी और कमिसार दोनों का सम्बन्ध ही विकास की मंगली मजिल है। अर्थात् व्यक्ति और समाज का यह आत्मोन्नति और समाज-जोन्नति की और उन्मुख रूप ही भौतिक और आध्यात्मिक रूप का चरम मिलन है। परन्तु यहाँ दोनों रूपों को द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। योग का अर्थ शरीर और मन की शक्तियों का नियोजन-मात्र है। 'योग' का विकास भारतीय इतिहास में समाज-

प्रतिभाका स्वसं दिया और अमर काव्यो की सृष्टि की। पुश्किन ने अवश्य 'यूजीन ओनिगिन' ऐसा पद्योपन्यास लिखा जिसकी कथा उसने अपने-आप बनाई थी। यह प्रकट करना है कि शास्त्रीय पद्धति से, अथवा किसी भी प्रकार के चित्रण-सौन्दर्य-मात्र से, कोई भी कथानक, युग पर प्रभाव नहीं डालता, जब तक कि उसके भीतर युगव्यापी कोई विषय नहीं हो। युगानुरूप होने का यह तथ्य यह भी प्रमाणित करना है कि कवि अपनी कथा भी गढ़ सकता है, उसमें यदि शक्ति होगी तो वह युग को प्रभावित कर सकेगा।

प्रबन्धकाव्य को यद्यपि निभाना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उसमें वर्णन-चित्रण के लिए हाथ-पाव खुले रहते हैं। दिनकर का 'कुसुमेश्वर' एक खण्डकाव्य है और ग्रेज के दृष्टिकोण से यह सफल है। परन्तु इतना पुराना विषय भी युगानुरूप होने के कारण ही लोकप्रियता प्राप्त कर सका है, जबकि प० द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णादन' उतना स्थान प्राप्त नहीं कर सका, हालांकि चित्रण की दृष्टि में मिश्रजी का काव्य कहीं अधिक उत्कृष्ट है। यद्यपि लोकप्रियता ही काव्य के उद्घुष्ट और श्रेष्ठ होने का परिचायक नहीं है, तथापि यह निस्सन्देह सत्य है कि कलाकृति अपने मूल्य के युग में अपने युग की अपेक्षा करती है और कालान्तर में वह उन्हीं मानकीय मूल्यों और अनुभूतियों तथा चित्रण के बल पर जीवित रहती है, जिनमें वह अपने युग का सत्य प्रतिपादित करके भविष्य का मार्गप्रदर्शन करती है।

किन्तु गीतिकाव्य में यह सरलता नहीं होती। पुराने मानदण्डों के अनुसार इसको यो रखा जा सकता है। भाव, विभाव, अनुभाव, सचारी, व्यभिचारी आदि की वर्णन-स्वतन्त्रता तथा गुजायश से प्रबन्धकाव्य में तो रस की निष्पत्ति हो जाती है, परन्तु गीतिकाव्य में एक गीत में एक ही भाव का वर्णन होना है, अतः यहाँ उतने फूल फूटने का अवसर ही नहीं मिलता। पुराने आचार्यों ने गीत में 'ध्वनि' को प्रमुख माना था। वह भी ऐकान्तिक है। गीत भाव पर ही आश्रित होता है, जिसका प्रवृत्ति में सबध है, जो मनुष्य-मात्र में सहज और साधारण है, सामान्य है। वही गीत का हृदय से तादात्म्य कराती है, वही मुलम बनाती है। पुराने और नये गीतिकाव्य में बहुत बड़ा अन्तर है। पुराने मुक्तक राधाकृष्ण-सबधो, या प्रार्थनापरक रहे। जयदेव का गीतगोविंद, विद्यापति की पदावली, रीतिकाल के सर्वेये और कवित्त तथा मूर के पद, सब ही राधाकृष्ण के जीवन पर अवलंबित थे। इसलिए एक भी पद या छन्द दाम्भ्य में स्वतंत्र नहीं था। उसकी भावभूमि आश्रय में राधाकृष्ण की कथा के रूप में पहले से विद्यमान थी। वह मुक्तक उस विद्यमान प्रबधवत् भूमि में एक विशेष फूल बनकर खिल जाता था। अतः वह आज के मुक्तक में भिन्न था। दूसरी ओर मिट्टी, नाथो और कबीर के गीत हैं, जिनकी रसात्मकता का पूरा प्रचलित दार्शनिक चिंतन ही आधार था। अतः वे प्रचलित हो गए। आज के गीत व्यक्ति-विवेचन-भूमि पर बने हैं और यदि वे सहज ग्राह्य नहीं होंगे, तो उनमें लोगो को रस नहीं मिलता, विशेषतया तब जब उनके लिए नयी दृष्टि में काम नहीं लिया जाता। मैं प्रयोगवादियों की बात नहीं कर रहा

सत्य, शिव और सुन्दर

आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है। द्विवेदी-युग और उसके उपरात छायावादी युग तक को आलोचकों ने अधिकांश अध्ययन से अपने मनन का विषय बनाया है। जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पंत, मूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा छायावादी युग के प्रमुख और माने हुए कवि हैं। इनके उपरांत भी हिंदी में बहुत कविता लिखी गई है, किंतु उस कविता का कोई सहातुभूतिपूर्ण विवेचन नहीं हो सका है।

[१] हिंदी में आलोचक-वर्ग बहुधा अध्यापकों के वर्ग में से आया है, और इसलिए उन्हीं विषयों पर अधिकतर लिखा जाता रहा है, जोकि परीक्षा से संबंधित हो। काव्य तो दूर की बात है, हिंदी में उपन्यास अधिक जनप्रिय हैं और उन उपन्यासों की प्रवृत्तियों तक पर निरपेक्ष दृष्टि से नहीं लिखा गया है।

[२] आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद पुराने आलोचकों ने अधिकांश केवल पिष्ट-पेषण किया है। उन्होंने दोष अधिक निकाले हैं, आलोचक का मूल कर्तव्य नहीं निभाया है। और वह मूल कर्तव्य यह है कि आलोचक पाठक और लेखक के बीच की कड़ी है। दुर्भाग्य से हमारी शिक्षण-व्यवस्था में अध्यापकों के प्रभुत्व के कारण आलोचक होना लेखक को गिरा देने के पर्याय के रूप में ही साहित्य में प्रचलित हो गया है। आलोचक का असली कार्य लेखक के नवीन प्रयोगों, उसके प्रयोगों की महिमाओं को प्रकट करते हुए, उसकी कमियों को इस ढंग से दिखाना है कि लेखक और भी अच्छा लिख सके।

[३] उठने हुए आलोचक शीघ्र प्रसिद्ध हो जाने के लिए शब्दिक चमत्कार दिखाकर विध्वंस में जुट जाते हैं और नये कवि को फिर भी कोई आशाप्रद साथी नहीं मिलता जो व्यक्ति या सस्था के परे, समस्त साहित्य को दृष्टि में रखकर, साहित्य की अभिवृद्धि के दृष्टिकोण से सहयोगी बन सके।

[४] वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन और यूरोप के विभिन्नवादों ने हिंदी के आलोचकों का ज्ञान नई दिशा में बढ़ाया। पुराने आलोचक रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलंकार में आलोचना समाप्त कर देते थे, उनके बाद आचार्य शुक्ल ने भारतीय और पश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोणों को अपने सामने रखा। नये आलोचकों ने उसके

इकाई उमका व्यक्ति है, उसी प्रकार समाजवस्तु-काव्य की अनुभूति व्यक्ति में होती है। जिस प्रकार मनुष्य के लिए समाज और व्यक्ति अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार काव्य के लिए लोकोपक्ष और व्यक्तिपक्ष अन्योन्याश्रित है। जिस प्रकार मनुष्य का मगल व्यक्ति-परक नहीं है, उसी प्रकार काव्य का मगल व्यक्तिपरक नहीं है। दोनों की अवस्था और आस्था सामूहिक जीवन के मूलाधार तथा आदान-प्रदानरूपी शब्द-व्यवस्था पर आधारित है। अतः काव्य के अंगों के रूप में ध्वनि, रीति, अलंकार और वक्रोक्ति मान्य हैं; परन्तु वे ही सत्र कुछ नहीं हैं। पुरानी परम्परा का सर्वश्रेष्ठ स्वीकार लेने पर प्रगति संकुचित नहीं रहती। वह जीवन की सर्वांगीण चेतना का विकास है। वह समाज-पक्ष में लोकोपक्ष में प्रेम-भावना का पक्ष लेकर चलती है और अभिव्यक्ति में मनुष्य की कल्पना को समृद्ध बनाने का है। सौन्दर्य सापेक्ष है अतः वह नयी अभिव्यक्तियों को स्वीकार करता है। प्रेम, वासना आदि जीवन के प्रति अधिक सजीव अनुभूति पैदा करनेवाली अनुभूतियाँ काव्य का आवश्यक अंग हैं। वैराग्य की वह सीमा जो चेतना को व्यापक बनाकर, परानुभूति के प्रति उन्मुख बनाकर, केवल ऐंद्रियपरकता रोकती है, श्रेष्ठ है। यूरोप में आए हुए विभिन्न वाद निम्नमध्यवर्गीय गतिरोगों में पैदा हुए पलायन हैं। उनके प्रयोग सौंदर्य-अभिव्यक्ति तक मान्य हैं। प्रतीकों का मूजन काव्य के लिए आवश्यक है। केवल मजदूर-किमानों पर लिखी कविता, घिसी-पिटी नारेबाजी, राजनीतिक कार्यक्रमों की तुकबन्दी, और व्यक्ति-वैचित्र्य की अनिकुष्ठा कविता नहीं है। न उपादेयता के नाम पर उपदेशात्मकता श्रेय है, न आत्माभिव्यक्ति के लिए द्रविड प्राणायामी कल्पना। काव्य में तो 'काता उपदेशवत् सरमता' होनी चाहिए।

भरतमुनि का रस-सिद्धांत दास-प्रथावाले समाज के ह्रामकाल में जन्मा था। तब सामन्तवाद दासों को मुक्त करके भूमिबद्ध किसानों को पहले की तुलना में अधिक स्वतंत्रता दे रहा था। तब यह स्वीकार किया गया कि काव्य केवल पुरोहितों के लिए नहीं, न देवताओं के लिए है। वह तो मनुष्य के लिए समान रूप में प्राण्य है। तब साधारणीकरण के माध्यम से भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के योग में होनेवाली रस-निष्पत्ति का सिद्धांत बना जो समाज-पक्ष को स्वीकार करता था। ज्यो-ज्यो सामन्तीय समाज का प्रगति-तत्त्व घटा, वह शोषणकर्ता बना, उच्च वर्गों ने रस-सम्प्रदाय पर हमला किया और आज के प्रयोगवाद, तथा अन्य पलायनवादीवादों की भाँति, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि, अलंकार आदि ने दरबारों में सिर उठाकर रसवाद को घटाना चाहा। परन्तु आगे बढ़ा हुआ इतिहास नहीं लौट सका। भरत के सिद्धांत-निर्माण के समय शोषण मिटा नहीं था, उसने रूप बदला था। अतः युगानुरूप बन्धन सिद्धांत पर आए। व्यक्ति-मात्र विवेचन का आधार बना और दरबारी नायक—धीरोदात्त की कल्पना हुई। समाज के ह्रास ने काव्य को दरबारों तक सीमित कर दिया। काव्य में वह जो कि मनुष्य-मात्र के लिए थी—'रति'

रम'सम्प्रदाय का जन्म सामन्त-काल के विक्रमशील युग में हुआ था, अतः दास-प्रथा के आगे होने के कारण उसमें समाज का कल्याण करने की शक्ति थी। परन्तु सामन्त-काल के गतिरोधों और उच्चवर्गीय प्रभुत्व ने काव्य को, रम के विरोध में ध्वनि, रीति आदि के जाल में, अभिजात्य बंधनों में बाधने की चेष्टा की, और यद्यपि वे समाज को उतना पीछे तो नहीं हटा सके कि 'रम' की प्रगति को झुंटा दे, परन्तु उन्होंने काव्य के बाह्य परिवेष्टन अदृश्य दुरूह बना दिए।

आधुनिक काल के यूरोपीयवाद मध्यवर्गीय टुटपूजियों की वर्ग-व्यवस्था में से जन्म ले सके हैं। उनमें आधुनिकता का फैशन है, और वे मूलतः सामन्तीय काव्यशास्त्र के आगे नहीं ले जाते, बल्कि यों कहना उचित होगा कि सामन्तीय काव्यशास्त्र जहाँ अपने दायरो के भीतर पूर्ण है, वहाँ वे आधुनिकवाद उतने भी पूर्ण नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' में रखा था, किन्तु ये तो उसने में ही समाप्त नहीं हो जाते। छद्म वैश्व में ये 'रम' का पल्ला पकड़ने हैं। और यह इनका सबसे बड़ा खोखलापन है, क्योंकि मीन्द्रयों के अनिर्वचनीय निरपेक्ष आनन्द की उच्च भावभूमि को तभी रम-सम्प्रदाय में उच्चतर समझा गया है, जब उसमें साधारणीकरण का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है।

यौन प्रवृत्तियाँ जो 'हाल' से चली आती हैं और पूरे रीतिकाल में सामन्तीय बन्धनों में रहीं, वे ही इन नये वादों में नये रूप लेकर उठ खड़ी हुई हैं।

इन समस्त अपरिपक्वताओं ने साहित्य पर घातक प्रहार किया है। यहाँ कवित्व को न देखकर, उसकी कविता को न देखकर, कविमान को ही देखा जाता रहा है। रहस्यवादियों द्वारा समादृत कविकुलगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही अनजाने में 'अचला-यतन' लिख गए थे, जहाँ उन्होंने जीवन के कठोर सत्यों का वर्णन करते हुए सशस्त्र विद्रोह न्यायोचित बताया था। शेक्सपियर दरबारी-युगौन कवि था, किन्तु उसकी रचनाओं में मध्यवर्ग की उठती चेतना का प्रतीक दिखाई देता है। ताल्मताय ईसाई अहिंसावादी था, परन्तु लेनिन ने उसे क्रांति का दर्पण कहा है। प्रेमचन्द अहिंसावादी था, वर्गवाद उसमें समन्वयवाद का स्थान लेता है, किन्तु उसने किसानों की चेतना को उठाया और राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाया।

आज भी कवियों की वाणी को देखने की सबसे बड़ी आवश्यकता है, न कि उनके बाह्यबन्धनों, गुटों, पार्टियों, आदि को ही देखकर उन्हें छोड़ दिया जाए। आगे आपको इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे, कि 'अरे, यह इसी व्यक्ति ने लिखा है।' ऐसे वाक्य तक आपके मुख से निकल जाएँ।

[५] हमें एक और काव्य को वाद, व्यक्ति, देश, काल और वर्गभूमि के ऊपर उठ-

१. दक्षिण, 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड', ले० रागेय राव

साहित्य का स्रष्टा व्यक्ति होता है और व्यक्ति के महत्व को साहित्य में राजनीति की भाँति भुंटाया नहीं जा सकता। व्यक्ति राजा होने पर भी दरिद्र के दुःख से दुःखी होता है। और कला के क्षेत्र में, अर्थात् सत्य के क्षेत्र में, कलाकार लिखते समय, चाह कर भी, अपने को रोक नहीं सकता, उसकी कला बोलती है, और कला क्योंकि अन्य पुरुष-शाह्य है अतः उत्तम पुरुष का समस्त बन्धन भी भाव-माध्यम को मकोच में बाध नहीं पाता। व्यक्ति मूल होता है, परन्तु काव्य का वृक्ष खड़ा होने पर, अपनी सत्य को परखने की तीक्ष्ण दृष्टि के सहारे से, अपनी डाले अपने-आप फैलाता है और जो फल उस वृक्ष में आते हैं, महान कलाकार निःसन्देह, उनके विषय में नहीं जानता। ऊपर दिए गए शेरसपियर, और तात्सताय के उदाहरण इसे स्पष्ट करने के लिए काफी हैं।

जिस प्रकार राजनीति में पार्टी के सदस्य अपने व्यक्तित्व को एक ध्येय में समर्पित करके सामूहिक नियोजन में कार्य करते हैं, उसी प्रकार लेखक नहीं कर सकता, क्योंकि लेखक की शैली, कल्पना, प्रतिभा, व्यक्तिगत वस्तु हैं, और वे सामूहिक नहीं हो सकती।

कवि-व्यक्तित्व जहाँ इन बातों में बाध नहीं सकता, वहाँ वह उन्मुख होने का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि व्यक्ति की यह समस्त स्वतंत्रता सामूहिक जीवन के लिए है, और समूह के लिए ही कला एक माध्यम है जो जीवन को सुन्दर से सुन्दरतर बनाती है। यो दोनों एक-दूसरे पर आश्रित तथ्य हैं।

लेनिन ने साहित्य के लिए पुकार उठाई थी कि साहित्य को पार्टी-जन साहित्य होना चाहिए। लेनिन को विकृत करनेवाले लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि वह पार्टी-नियमावली की ही साहित्य मानता था। यह बहुत बड़ा भ्रूट है। लेनिन स्वयं गौर्की से कहता था कि तात्सताय से लिखना सीखो, और वह मायकोवस्की से पुश्किन को ऊँचा स्थान देता था। लेनिन का अर्थ था कि 'कला कला के लिए' वाले काव्य को दुरुह बनाते हैं, उसे जनता के लिए सींचकर लाभो और स्वतन्त्र करो। रूस की तत्कालीन परिस्थिति में सत्तत्र क्रांति की भूमि तैयार थी और वह नारा भी ठीक था। किन्तु फिर रूस में बदलती परिस्थितियों में भी उम नारे को किनारे की नाव की तरह इस्तेमाल किया गया और इलिया एहरेनबर्ग ने अब लेखकों की समस्या उठाई है जिसमें उसने स्वीकार किया है कि क्रांति के बाद के रूस में अभी महान साहित्य का सृजन नहीं हो सका है।^१

अभिलिखत यह है कि रूस के काव्यशास्त्र में साधारणीकरण के सिद्धांत का ज्ञान नहीं था। लेनिन ने अपने युग के अनुरूप उसीको स्थापित करने की चेष्टा की थी। उसकी गत्यात्मकता को न समझ सकने के कारण बाद के लेखकों ने विषय के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया। भारत एक प्राचीन देश है और इसमें अधिक मत पैदा हुए, जिन्होंने काफी प्रब-

१ 'राष्ट्र एण्ड हिंद अफ़्टर', इलिया एहरेनबर्ग

महादेवी वर्मा ने अपने छायावाद की व्याख्या करने की चेष्टा की है। परन्तु वह कोई महत्व की बात नहीं है। वस्तुतः आधुनिक काव्य का नया ही काल-विभाजन आवश्यक है।

सामन्तीय ह्यमकाल में, १७४० ई० से १८५७ ई० तक हिन्दी में सब तरह काव्य का ह्रास हो रहा था। इस समय को अभी तक उत्तर रीतिकाल कहा जाता है, जबकि यह गलत है। इन समय जहाँ एक ओर दरबारी कविता लिखी जा रही थी, वहाँ पलटूदास, दयाबाई, सहजोबाई, दूलमदास, तुरमी साहेब इत्यादि अनेक कवि सतकाव्य की परम्परा को आगे बढ़ा रहे थे। आचार्य शुक्ल इसे नहीं देख सके थे। वे शैल निसार और नूरमुहम्मद जैसे सूफ़ी कवियों के भीतर इस युग-विशेष में आए परिवर्तन को भी नहीं पकड़ सके, क्योंकि उन्होंने तो धाराएँ पकड़ी, यह नहीं देखा कि एक ही विचार का विभिन्न परिस्थितियों में कैसा विकास होता है। यही वह काल था जब हिन्दी का फारसी-भाषित (उर्दू) काव्य दरबारों में फल-फूल रहा था। इस काल के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग आया। वहीं से सत्र आधुनिक काल मानते हैं। किन्तु भारतेन्दु का युग केवल उन्मेष-काल था। उर्दू में दाग पुरातन परम्परा को लिए हुए थे, और हाली में पुनरुत्थान की भावना थी। वही हमें प्रकारान्तर से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नाथूराम शंकर और श्रीधर पाठक में मिलती है। इसके बाद आया मुखर-युग। इस युग में हरिऔध और मँथिलीशरण गुप्त प्रमुख नेता थे। यो तो गुप्तजी अभी तक लिख रहे हैं और अञ्जना भी लिखते हैं। परन्तु उनकी विषय-वस्तु अपना रूप नहीं बदल सकी है।

इस काल के बाद हिन्दी में नया मोड़ आया। चूँकि इसे अब छायावाद कहा जाने लगा है, सुविधा के लिए मैंने भी वही नाम प्रस्तुत किया है, किन्तु वस्तुतः छायावाद-काल की जगह नाम होना चाहिए अम्युदय-काल। इसी युग के ज्योतिस्तम्भ प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी हैं। महादेवी और प्रसाद ने तो आगे नहीं लिखा है। परन्तु पन्त और निराला अभी तक लिख रहे हैं। अम्युदय-काल जिस अभिव्यञ्जना को लेकर चला था, उसकी चरमसीमा प्रसाद की 'कामायनी' में जाकर हुई। उस सीमा तक निराला, पन्त और महादेवी नहीं पहुँच सके। अवश्य ही पन्त और निराला ही हमारे आलोच्यकाल के युगप्रवर्तक कवि हैं। उन्होंने ग्राम्या और कुकुरमुत्ता आदि रचनाएँ देकर आने के मोड़ की ओर इंगित किया किन्तु उनका ही नाम गिनाना साहित्य के इतिहास के साथ अन्याय करना है। वे अपने को नये युग के लिए उपयुक्त नहीं बना सके। नयी बागडोर तो नये कवियों ने सभाली। आज की हिन्दी कविता निराला, पन्त में सीमित नहीं है। अवश्य ही यह सत्य है कि जिस क्षेत्र में एक विशेष ऊँचाई से लोग पा चुके हैं, उतनी ऊँचाई नये कवि अपने क्षेत्र में नहीं पा सके हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि आज की कविता इन दोनों के अतिरिक्त भी अपना एक स्वरूप रखती है।

प्रायः उनके सामने दीनहीन लगता है। विचारों से भेद का प्रश्न नहीं उठता, उनका तो लेखन ही ऐसे विचारों में स्वयं दरिद्र है। लेकिन जहाँ नये कवियों ने अपनी मौलिकता दिखाई है, वहाँ उन्होंने श्रेष्ठ काव्य लिखा है।

[६] हम 'वाद' का विरोध इसलिए करते हैं कि हमें आधुनिक काल का कोई भी कवि ऐसा नहीं मिला जिनमें एक वाद में बंधी हुई कविता लिखी हो। वाद हैं, परन्तु कोई कवि एक ही वाद में बद्ध कविता नहीं लिख सका है। अतः वाद-भूमि पर विवेचन करने में बहुत-से कवि परिधि के भीतर ही नहीं आते और हम वास्तविक मूल्यांकन करने में बचिन रह जाते हैं। हम वाद की कमीटी बनाकर उनपर कवियों को फिट नहीं करना है, बल्कि पहले कवियों को देखना चाहिए, तब उनका वर्गीकरण करना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र गुप्त ने ही यह अद्वैतान्तिक परिपाटी डाली थी। वे ऐसा वर्गीकरण कर गए हैं कि धनानन्द और रमखान जैसे कवि भी फुटकर कवियों में डाल दिए गए हैं। और किसी भी कवि को फुटकर कहते ही उसकी महत्ता अपने-आप कम हो जाती है।

इसीलिए आवश्यकता है एक व्यापक भूमि की। काव्य में 'वाद' की उतनी प्रमुखता नहीं होनी चाहिए, जितनी जीवन और उसके विभिन्न रूपों की।

यह सत्ता-काल है। हममें सब कुछ बदल रहा है और नये-नये दृष्टिकोण उपस्थित हो रहे हैं। बहुत-से कवि जो पलायनवादी समझे जाते हैं उन्होंने जीवन के बहुत सुंदर पथार्थ चित्रण किए हैं। सभी तक नये कवियों की निष्पक्ष आलोचना नहीं हुई है। जाने-माने रूप से कुछ दल-से बन गए हैं और उन्हीं-उन्हीं लोगों के दो-दो उद्धरण देकर नाम गिना दिए जाते हैं। और वस्तु-विषय या विचारधारा का साम्य ही उनके मूल्यांकन का आधार होता है, जबकि काव्य केवल विषय-वस्तु पर निर्भर नहीं होता। उसके लिए अन्य अनेक सत्वों की आवश्यकता होती है, जो कितनी भी वर्ण्य विषय को काव्य की सजा दे सकें। आलोचकों की यह प्रवृत्ति हिन्दी के लिए दुर्भाग्यपूर्ण है। खेद है कि आचार्य रामचन्द्र गुप्त प्रभृति सभी ऐसे आलोचक हैं, जो प्रायः असफल कवि हैं और इसीलिए ये लोग यदि एक सहज आक्रोश मन ही मन रखें तो कोई ऐसा आश्चर्य भी नहीं है। मैं यह बात व्यक्ति-मूलक संधान पर आधारित नहीं करता, बल्कि यह तथ्य यह प्रकट करता है कि इनमें वर्तमान के प्रति जो आस्था है, उसमें अध्यापकी सहजा है और वह इनके गौरव के लिए स्तुत्य नहीं है।

मैं यहाँ विस्तार में इस विषय पर नहीं लिखूँगा कि कविता क्या है? यहाँ इतना कह देना काफी है कि काव्य जीवन की सर्वांगीण स्थिति का चित्रण करनेवाली अनुभूतियों और भावों का वर्णन है। वह अपने युगानुरूप समाज की परिस्थितियों में जन्म लेता है, पमता है और अपने युग का निर्माण करता है। व्यक्ति की वे अनुभूतियाँ जो केवल उसी

उसे देखना बहुत आवश्यक है।

अभिव्यक्ति के माध्यम के कोण का बदल जाना यह प्रकट नहीं करता कि उससे 'श्रेय' बरत जाना है, परन्तु काव्य के इतिहास के बदलते रूपों में उसका अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। गुणजी और पत, निराला आदि पर हिन्दी में तो भी कुछ विखा जा चुका है। उनके बाद के युगों का अध्ययन तो बहुत ही अनर्थपूर्ण हुआ है, क्योंकि आलोचकों ने आचार्य युक्त की सरल अध्यापकीय प्रवृत्ति अपनाकर बाद-भूमि पर काव्य का सखित अध्ययन किया है और नये स्वरों की पूर्णतया नहीं देखा है।

यहाँ हम उसीका अध्ययन करेंगे।

[२६] आगे बड़ने से पहले मैं यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। किसी भी युग का कवि अपने सामने एक ध्येय रखता है। इसमें उसके भीतर एक मरणा सत्य जन्म लेना है। यह युग और व्यक्ति का परम्पराश्रित सत्य होता है। इसमें व्यक्ति की लघुता और महत्ता, दोनों ही रहती हैं। इसके साथ एक सत्य युग-युग का होता है। वह युग-युग का सत्य क्या है? वह 'कला कला के लिए' नहीं है। वह किसी समाज-निरपेक्षता में नहीं है, वह है मानव के अस्तित्व पर सत्य। एक समय या जब राजाओं के बंधन का अज्ञान, उनकी वीरता की स्तुति कवि का युग-सत्य था। एक और समय आया जब देवता की स्तुति उसका ध्येय बनी। एक बार और उमने परमात्म की धुन छेड़ी। एक बार और ही रूप बदला और वह स्त्री के सौन्दर्य में डूब गया। युग और देग के विशेष यथनों में मनुष्य ने विभिन्न सत्वों का साधारणकार किया। निन्तु हम अब प्रत्येक रूपना का मूल्यांकन उस युग की सीमा और उस युग की परिधि के भीतर नहीं करते। हम काव्य की विरासत को सौन्दर्य के विकास के रूप में लेते हैं। आचार्य युक्त ने कीर्वाक्य को तो इसी दृष्टि से देखा। किन्तु रीतिकान्य की सुन्दरता को वे मानववाद की स्थापक भूमि पर कसने की बजाय, रीतिकान्य की सीमाओं के भीतर ही खोजते रहे। यह उनकी अध्यापकीय मनोवृत्ति थी।

युग के परिवर्तन ने हिन्दी-काव्य को नये रूप दिए। भारतेन्दु में पुरातन और नवीन का मिलन हुआ और फिर हम नवीनता की ओर अधिक तिव्र चले। हिन्दी के आलोचकों ने इन समस्त युगों को प्रायः ही मानववाद की भावभूमि पर देखने की चेष्टा की। परन्तु वे पूर्ण न्याय नहीं कर सके, क्योंकि उन्होंने 'दायावाद' शब्द को पकड़ा, उसके 'अभ्युदय' को नहीं लिया। प्रताप, पत, निराला और महादेवी भारतीय सत्कृति में एक नये अभ्युदय हैं। यह सत्य किसी आलोचक ने स्वीकार नहीं किया। जिसे धरेंगी में रिखा कहते हैं, वह इन्हींका लाया हुआ है। इन्हीं लोगों ने कवि के सत्य को युग के सत्य से एकाकार करने के भीम प्रयत्न में सफलता पाई और इसीलिए इन्होंने महाकवि होने का भी गौरव पाया। फिर भी इनमें एक कमी रह गई कि वे कवि जनता तक नहीं

का 'दर्मिला', प्रभात की 'ऋतवरा' इसी ऊंचाई की ओर को सकेत है। आज के युग में कवि अभी एक पूर्ण जीवन-स्वप्न नहीं खोज पाए हैं, तभी वे ऊंची चोटी तक पहुँच नहीं पाए हैं। कौन पहुँचेगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। एक नीम-आसोचक ने इसे बौनों का युग कहा था। मैं इसे कुत्मा कहता हूँ। कहनेवाला स्वयं बौना है। बौनों के हाथ निरंतर आगे और ऊपर उठने हुए नहीं दिखाई देते। हमारे यहाँ यदि व्यक्ति रूप से अभी पूर्ण उपनधि नहीं भी हुई तो भी क्या डर है। जहाँ तक युग का प्रश्न है, जितना सत्वाव्य इन युग में जन्मा है, उतना पुराने युगों में नहीं मिलता। और फिर कवि निरंतर बढ़ रहे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तुलसी ने साठ वर्ष की उम्र में 'मानस' लिखा था और अस्सी वर्ष की आयु में गेटे 'फॉस्ट' की रचना कर सका था। नयी कविता व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का गहरा विश्लेषण ही नहीं है, वह व्यक्तित्व के विकास की भी जबलत कहानी है। अभी उससे आनाएँ हैं और वे अवश्य ही फलवती होंगी। प्रगति, प्रयोग इत्यादि को हम सहज ही ध्वनि, वक्रोक्ति इत्यादि के नये रूपांतर कह सकते हैं। हम किसी भी कवि की रचना देखते हैं तो वह अपने 'कथ्य' के अनुरूप नहीं उतरता।

नहीं थी, वरन् भारत परतत्रता की बेडियो मे जकडा हुआ था। यह परतत्रता केवल राजनीतिक ही नहीं थी, इसके साथ एक सामंतीय जर्जर व्यवस्था भी थी जो संपूर्णरूप से भारत की असह्य-असह्य जनता मे फैली हुई थी, क्योंकि अंग्रेजो ने मध्यवर्गीय उत्थान तथा मशीनों के साथ-साथ भारत मे पदार्पण करने पर भी यहां का सामंतीय जीवन सुरक्षित छोड दिया था। परिस्थिति के इस भेद ने वही दुरुहता पैदा की जो छायावाद मे प्रकट हुई। रोमांसवाद इंग्लैंड मे जनप्रिय हुआ क्योंकि उसमे तथ्यो मे नवीनता का विकास अधिक था, शेली, कौट्स, बायरन आदि जनता में पहुंचे हुए कवि बने, जबकि प्रनाद, पन, निराला, महादेवी आदि अपनी अभिजात व्यञ्जना के कारण पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रह सके। इनमें शेली, बायरन जैसा समाज-पक्ष नहीं रह सका तथा न पुश्तकन जैसी जनप्रियता ही इन्हें मिल सकी, जो स्वयं स्वतन्त्रता का हामी था और जिसने हमी काति की नींव डालनेवालो में अपना स्थान बनाया था।

हिन्दी का रोमांसवाद अपनी भिन्न परिस्थितियों मे बदला हुआ था। छायावाद के रूप में प्रतिफलित यह धारा अपने उद्गम वेग से बही। इसने जो अपनी व्यञ्जना से लोगों को चमत्कृत किया, पुराने लोगों ने इसका घोर विरोध किया, परन्तु नये मध्यवर्गीय तत्त्वो ने इसका मुक्त कण्ठ से स्वागत भी किया। धीरे-धीरे हिंदो में व्यञ्जनात्मकता-भरी इस नीची वो इतना प्राधान्य मिल गया कि इसीकी छाया आज भी पीछा नहीं छोड सकी है। प्रयोगवाद इसीकी पकडने की चेष्टा में है, किन्तु क्योंकि प्रयोगवाद मे छायावाद का समाज-पक्ष नहीं है, वह केवल व्यक्ति-पक्ष को लेकर बड़ा होना चाहता है। प्रयोगवाद की दुरुहता शैली मे ही समाप्त नहीं हो जाती, वह भाव की भी अभिव्यक्ति को पकडती है और रोमांसवाद का अन्हूठपन उसमे अपने नवीनतम रूप मे आता है, जो मूलतः यौनवाद है। यौनवाद, मामलवाद, आदि हिंदी मे बहुत गिने-माने जाते रहे हैं। यौनवाद और प्रकृतवाद मे भेद है। अतियथार्थवाद उसका थोडा-सा भिन्न रूप है और इन सबने अपना सन्निवेश प्रयोग मे पाया है। फ्रायड का चिन्तन जिसने यौनवाद की पुण्ड्रभूमि खडी की है, वह भी काफी हद तक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य या व्यक्ति-भिन्नत्व के रूप मे अपने-आपको इसमे बचाए रखने की चेष्टा करता रहा है। यहा हम इनका विवेचन आवश्यक समझते हैं।

[६] यूरोप मे फ्रायड के सिद्धान्तो का गहरा प्रभाव पडा। फ्रायड के विषय मे हिन्दी मे लिखा जा चुका है और फ्रायड का बहुत बडा प्रभाव बनाया गया है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य के जो उपचेतन सस्तिष्क होता है उसमे यौन सम्बन्धी भावनाएं समाज के वर्जनशील नियमो के कारण समा जाती हैं और वह यौन विकृतियां अपने को विभिन्न रूपो मे प्रकट करती रहती हैं। फ्रायड की बहुत-सी बातों को यद्यपि एडतर और जुग ने ठीक करने की चेष्टा की, किन्तु उस सबका मूलधार यौन विकृति ही रहा और वे सब

ज्योति-सी उर से निकल घौ' ज्योति-सी उर से प्रकृति के
मिल भवानक,क्षण चकित कर लीन होतो किस गगन में ?
प्राज मेरे प्राण पर धो प्राण ! डालो स्निग्ध छाया
भयद उस सौन्दर्य-शशि की अयक अपार अगाध माया
प्राज मेरे प्राण उमडे मानते ना स्थूल बन्धन
ज्योति में मित्र को मिटाकर ही मिलेंगे क्या छिपे कन ?

—राजेन

सवेदना का जागरण होता है प्रकृति के आवाहन में । मनुष्य उसे प्राप्त कर लेना चाहता है, किन्तु उसे फिर भी यही लगता है कि वस्तु को वह पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर सका है, उसमें एक आकुलता बची ही रह जाती है, उसके भीतर भी एक ज्योति है, जो समग्र की ज्योति से मिल जाती है, किन्तु वह अततोगतवा कहा जाकर लीन हो जाती है, यह वह नहीं जान पाता । तभी वह चाहता है कि सौंदर्य का अवाक् कर देनेवाला, मन में एक आशका उत्पन्न कर देनेवाला, विस्मय से विमूढ कर देनेवाला मायावी स्वरूप किसी प्रकार उसके सामने प्रकट हो जाए । उसकी चेतना स्थूल के बन्धन में ही सीमित नहीं रह जाना चाहती । वह तो ज्योति बनना चाहता है । किन्तु फिर भी वह सदेह से सोचना है कि जब ज्योति में ज्योति मिल जाएगी तब फिर छिपा हुआ गोपन रूप रह ही क्या जाएगा ? क्या गोपन की खोज में अपने को मिटा ही देना होगा ?

'सावन मेघ' के रूप में कवि इसी प्रश्न को स्थूल दृष्टिकोण में देखता है और मानवी सौन्दर्य के प्रति उसकी दृष्टि अंधक दिखाई देती है । वह अपनी वासना में ही प्रकृति को आकृता है

घिर गया नभ, उमड आए मेघ काले

भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा

विशद, श्वासाहत, चिरातुर द्या गया इन्द्र का नील वक्ष—

धन्त्र-सा, यदि लडित से झुलसा हुआ-सा ।

प्राह, मेरा श्वास है उत्तप्त—

घमनियों में उमड घाई है तह्र की धार

—अधेय

उन्माद की भांति, सन्मयता की वासना भी तीव्र होती है

में हरित वन की बामुरी हू । श्याम के मधुमय अघर की वाष्णी पीकर बावरी
हो चुकी हू । सापना में स्वप्न-सा गलकर, वेदना की अग्नि में जलकर प्रेम की लोहित
दानाका से कौमल मर्म में छिद्र कर मैं मृत्यु में जीवन छिपाकर नागरी बन गई हू । मेरे
नाभिसर में अमरता की माधुरी है ।

कवि ऐसा नहीं है, जो इन्हीं वादों में अन्तर्निहित हो जाए। अतः हिन्दी में प्रचलित इन मान्यताओं का विस्तार करते समय हम यदि कुछ कवियों के यहाँ उद्धरण देते हैं, तो उन्हींके उद्धरण हम आगे किसी दूसरे वाद के अन्तर्गत भी दे सकते हैं।

[१०] प्रयोगवाद का एक अलंकार 'प्रतीकवाद' है, जो कुछ समय पहले बहुतायत से प्रयुक्त किया जाता था। हिन्दी में प्रतीकवाद छायावाद की शैली में ही समाविष्ट है, जहाँ प्रतीकों के प्रयोग से अर्थ समझाने की चेष्टा हुई है। अतः उसे बिल्कुल स्वतन्त्ररूप से अलग मानना कदापि उचित नहीं है। रूस में मायकोवस्की के प्रारम्भिक काव्य-काल में साम्राज्यवादी सस्कृति के विरुद्ध जो 'भविष्यवाद' नाम से व्यक्तिपरक विद्रोह उठा था, वह प्रतीकों का अधिकान्त प्रयोग किया करता था। हिन्दी में भविष्यवाद का कोई स्पष्ट प्रभाव दिखाई नहीं देता, किन्तु प्रतीकों का काफी असर पड़ा है और नये-नये प्रतीक बनाए गए हैं और बनने जा रहे हैं। प्रतीक अपने अलंकार के रूप में काव्य का गुण है, किन्तु वह स्वयं काव्य नहीं है, क्योंकि वह एक मूर्त की छाया बनकर सांकेतिक योजना बनकर ही रह जाता है, उसमें भाव को जागरित करने की शक्ति नहीं होती। वह भावानुभूति की तीव्रता को स्पष्ट करने में अवश्य लाभकारी सिद्ध हो सकता है। प्रतीक काव्य में इसीलिए सदैव ही बनते रहेंगे। वास्तव में प्रतीक बाह्यचार है जो युगानुरूप परिस्थितियों से प्रभावित होकर देश-काल के अनुरूप सदैव बदलता रहेगा। उसे काव्य का जीवन-श्रोत नहीं समझा जा सकता। प्रयोगवाद प्रतीक पर सबसे अधिक निर्भर है, क्योंकि प्रतीक की नवीनता ही प्रयोग की व्यञ्जना की एकमात्र आत्मा है, उसीमें चमत्कार उत्पन्न करने की बहुतायत शक्ति हो सकती है।

[११] सार्थ का अस्तित्ववाद हिन्दी में अपना सीधा प्रभाव नहीं डाल सका है। व्यक्ति जीवित रहना चाहता है और किसी प्रकार अपना अस्तित्व-मात्र बनाए रहना चाहता है—यही इस समस्त वाद का मूल है। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति अपने को समाज की घोर बीमत्ता में पिसा हुआ सोचता है। उसे न केवल अपने चारों ओर दैन्य और निराशा दिखाई देती है, वरन् वह स्वयं उसके विरुद्ध होने की कल्पना कर लेता है। इस दृष्टि में व्यक्ति अपने को निस्महाय समझता है और समाज में अर्थ के घात-प्रतिघात को भाग्यवाद की दुर्दमनीय प्रणाली-मात्र समझने लगता है। उसकी सत्ता अपने चारों ओर परिधि सींच लेनी है और एक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व से सामरस्य नहीं दूझता, वरन् वह दायरो में बंध जाता है और उसे यह प्रतीत होता है कि यह समार वास्तव में उसको मिटा देने में लगा हुआ है।

अस्तित्ववाद की स्थापना यूरोपीय प्रथम महायुद्ध के बाद की निराशा में हुई जब पूँजीवादी सभ्यता की विभीषिका में व्यक्ति को लगने लगा कि वह हर ओर से घमुराईत है। साम्यवाद अस्तित्ववाद के दृष्टिकोण से सर्वहारा का बँवर और निरंकुश अधिनाय-

पलकें रोटी बुनें, उन्हें ऐसी फिरकनी बना जा रो !
निदिषा रो तू घाजा रो !

—राजनारायण विनारिया

यहा कवि प्रकृति को मानवीय यातावरण मे भी उतार लाता है। सोरी प्राय-
ही पलायन के सौन्दर्य को अकृत करती है। सोरु-गीतों मे यद्यपि तोत जीवन प्रतिबिंबित
होता है, जैसे दक्षिण भारत की कन्नड की एक सोरी है—भरे ! देतो ! नारियल का
व्यापारी आ गया ! वह नीले समुद्र के किनारे से अपना जहाज लाता है इत्यादि। किंतु
इस प्रकार के गीतों मे भी एक स्वप्नित द्वाया-सी व्याप्त रहती है। मजदूरिन की मान-
सिक भूमि इनकी व्यापक नहीं है। उसने अपने जीवन के सघर्ष को भी इस सौन्दर्य-वेला
मे एकरस कर दिया है। पलकों के रोटी बुनने की कल्पना वास्तव मे अनूठी है। ऐसे
विषय मूलतः प्रकृति की परिचल्पना मे लिखे जाते हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध अपने सौविक
जीवन से जोड़कर उन्हें भावपश के अधिक समीप बनाया जाता है। इससे पहले समूर्ण
मे मूर्त को प्रस्तुत किया गया था, और इसने उसकी उल्टी बात दिलाई देनी है।

प्रकृति के वे विषय जो उसे मानवीय रूप मे प्रस्तुत करते हैं, वे अभिञ्जना के
क्षेत्र मे अपनी रंगीनी को अधिक प्रसार देते हैं। इसीके साथ जब किसी मत-विशेष को
भी कलात्मक रूप देकर रखा जाता है, तो मत से अधिक हम विषय मे ही उतारते हैं :

भित्तिज-स्तोर से आ रही है उतरती
बढ़ती सुनहरे चरण
कतल शीत पर स्थणं का ले सकुचती
पहनकर सिबूरी घसन
सितारे गगन के दिपे दूर जाकर कहीं
गये तो निशा के मधुर स्वप्न जाकर कहीं
नहीं शेष पथ पर रही धब तिमिर को घटा
थिरकने लगी पूर्व में एक स्थगिक दृष्टा
भरे वह उषा का नवस भागमन है
कि जो सा रहा जागरण
अमर एवं है आज नवयवता का भरे
सभी के हृदय हृय की भाषना से भरे
न जाये पुण्य देश की अर्चना के
कहीं ये सलोने सुमन
उठा राष्ट्र का ध्वज, बढ़ा पांव दो साथ
छटा द्वार खोले विजन

था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य की इस धारा को नहीं देख सके थे।

[१३] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय जब समाज में परिवर्तन हुए तो वे काव्य को इन अभिव्यक्तियों के समीप लाने में लगे। उनकी राय में काव्य का सहज होना अन्याय आवश्यक था। परन्तु द्विवेदी-काल में कविता को तनिक उठाया गया और अभिधा-प्रधान होते हुए भी यह काव्य उतना सरस नहीं था जितना भारतेन्दु-कालीन काव्य था। रीतिकाल की शृंगारपरकता कम की गई और उपादेयतावाद ने स्थान लिया। इसका कारण दयानन्द के आन्दोलन का प्रभाव था, और राष्ट्रीय सपना की भी उसपर छाया पड़ी थी।

किन्तु मध्यवर्ग उतने ही से मनुष्य नहीं था। छायावाद अर्थात् अभिजात शैली का उदय हुआ, जिसने काव्य को यद्यपि मुक्त तो किया किन्तु इसकी उड़ान साधारण जनता में काफी दूर हो गई। व्यञ्जना-प्रधान इस शैली ने भारतेन्दु तथा द्विवेदी-कालीन कविता को अपनी ऊँची कोटि का नहीं माना, जिनकी अपनी कविता को। आज भी बहुत-से आलोचक यही मानते हैं कि छायावाद ने भाषा को जो मजाहट दी है, उसको छोड़ने में कविता का मेयार गिर जाता है। आधुनिक कविता को जनप्रिय होने से रोकने-वाला यह सबसे बड़ा कारण है। प्रयोगवादी काव्य ऐसा ही एक प्रयत्न है जो काव्य को उसी ऊँची अभिजात शैली का ध्वसावशेष बनाकर रखना चाहता है।

मैकॉले ने कहा था कि ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता है, कविता का ह्रास होता है। मैकॉले अपनी जगह ठीक था क्योंकि सभ्यता से उसका तात्पर्य पूँजीवादी सस्कृति के विकास में था। पूँजीवादी सस्कृति धन को मनुष्य के ऊपर म्यापित करती जा रही थी, व्यक्ति समाज के द्वन्द्व में आ गया था, और मशीनों का महत्त्व तथा प्रभुत्व धीरे-धीरे प्रकृति के साहचर्य को दूर कर रहा था, और हृदय-पक्ष पर हृदयहीन शोषणसंचार होता जा रहा था। सामंतीय जीवन में प्रजा और राजा का सीधा सम्बन्ध था और भाग्य-वाद उस समाज की रीढ़ था। पूँजीवाद ने भाग्यवाद के दुःख भोगनेवाले भाग को तो जीवित रखा, किन्तु अब शोषण के रूप बदल गए और शोषक और शोषित का व्यक्ति-पक्ष में भी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। यह याद रखने की बात है कि काव्य का जन्म सामूहिक जीवन के उत्पादन-वितरण के सामूहिक रूप में हुआ था, और व्यक्ति के समाज में एकांतिक होते जाने के साथ, काव्य का भी ह्रास होता गया। अतएव काव्य की जीवित शक्ति, भावानुभूति का सामरस्य ही जब नष्ट होने लगा तब काव्य का दुःख हो जाना नितान्त ही स्वाभाविक हो गया। इसके विरुद्ध दूसरी ओर सोवियत काव्य का जन्म हुआ, परन्तु वह अधिमान नीतिपरक रहा और उसने अधिकांश जीवन की बीरता, करुणा आदि को ही छुआ, जिसके कारण जीवन का सामोपाग रूप समाज को नहीं मिला। इन दो धारियों ने एक खाई पैदा की। सोवियत रूस ने क्रांति की और वहाँ छलाग लगाई गई

छापेखाने के प्रयोग ने कवि को जनता से अलग किया । और लिखने, छपवाने की प्रवृत्ति ने काव्य को जनता के प्रति नये युग में सीधा उत्तरदायित्व नहीं दिया । रीतिकाल की समस्त मुक्तक कविता वास्तव में राधाकृष्ण की प्रचलित कथा पर आधारित है, इसलिए उसे भी समझने में जनता को, जो भी उसके निकट आ सकी, उतना कष्ट नहीं हुआ, जितना नई कविता को समझने में होता है, क्योंकि अबकी धार के मुक्तक काव्य ने जनता में प्रचलित किसी आधार को नहीं लिया है । नये मुक्तक के उपमान, तथ्य आदि सब ही नये हैं, और उनकी पृष्ठभूमि अभी तक बन नहीं सकी है । प्रयोगवाद में तो यह शैली तथा भावगत दुरुहता है और प्रगतिवादी काव्य की अडचन दूसरी है । वह अभी नये समाज की नई नीति को स्थापना कर रहा है । अभी उमर नये समाज की कल्पना पूरी तरह से जनता में उतर नहीं पाई है, क्योंकि व्यक्तिवादी ढंग से प्रचलित आधुनिक प्रगतिवादी कविता ने मध्यवर्गीय शैली में विकास किया है, उसने जनता में प्रचलित काव्य-माध्यमों से अपना नाता नहीं जोड़ा है और जनता तभी काव्य को मानती है, जब उसका अपना जीवन उसमें प्रतिबिम्बित होता है ।

प्रयोग के विषय में जो हमने बताया था कि उसने अपनी ही परम्परा में मौजूद स्थानों में आश्रय बनाया था उसमें एक यह ही है जिसने काव्य को बढ़ने से रोका है ।

[१४] इनके प्रतिरिक्त प्रयोगवाद के आश्रयस्थल रहस्यवाद और पलायनवाद हैं, जो अभी तक हिन्दी काव्य में बचे हुए हैं । इनका प्रभाव भारत में दो कारणों से है, एक तो दर्शन की परम्परा और दूसरी योग-मार्गों की परम्परा । दर्शन का प्रश्न भारत में बहुत पुराना है और शताब्दियों में उसका प्रभाव जनता तक गहरा उतर गया है, जिसका कारण है यहाँ के जीवन की प्रायः एकरसता । खेतिहर प्रणाली इसका मूलाधार है । वह मायवाद को जन्म देती है क्योंकि परिस्थितियाँ आकाश के बादलों पर निर्भर होती हैं । जल नहीं बरसा, अनाज पड़ गया । बरस गया, खेती हो गई । सृष्टि की प्राकृतिक क्रियाओं के ऊपर निर्भरता, मनुष्य को लघुता की ओर प्रेरित करती है और फिर वह सृष्टि के रहस्यों को जान लेने की चेष्टा करता है और यही रहस्यवाद का मूल उद्गम है, क्योंकि जानने में सगा हुआ व्यक्ति जब अमली लघ्य की व्याख्या नहीं कर पाता, तब अज्ञात को अव्यक्तरूप में अनुभव करने का प्रयत्न करता है । यही रहस्यवादी भावना जब समाज में पुरोहितवर्ग के रुढ़िवाद के विरुद्ध उठ खड़ी हुई थी, तब उसने लघुता में महानता की ओर प्रेरित किया था, किन्तु उसके बावजूद अपनी वस्तुस्थिति में वह अभाववादी ही रहा । योग-मार्ग की परम्परा जब रहस्यात्मक जीवन की साधनापरक पद्धति से स्त्रोत्रों का यत्न करती है तब वह व्यक्तिमूलक हो जाती है । मध्यकालीन साहित्य तक हम कह सकते हैं कि अज्ञातगत्वा इमीकें रूप काव्य में प्रतिबिम्बित हुए थे, किन्तु आधुनिक काल में छायावाद ने जिस रहस्य की छाया देखी, वह यद्यपि पुरानी धारा का ही प्रतिफलन था, किंतु

ही केन्द्र से उदय होनी हैं। अतः यह वैविध्य हमारी जाग्रतता का प्रमाण है।

शरद के वर्णन में ऐसी विविधता के दर्शन हमें मिलते हैं। नदी सिमट गई, तो उसमें चमक आ गई, क्योंकि विस्तार की भावना निखार नहीं लाती

सिमट गई फिर नदी, सिमटने में चमक आयी
गगन में, वदन में फिर नयी एक दमक आयी
दीप कोजागरी वाले कि फिर भावें वियोगी सब
ढोलको से उछाह और उमग की गमक आयी।
बादलो के चुम्बनो से खिल आयानी हरिपाली
शरद की धूप में न्हा-निलरकर हो गई है मतवाली
भुण्ड कोरी के अनेको फबलियर कसते मँडरते
भर रही है प्रान्तर में चुपचाप लजीली शेफाली।

×

साँझ, सुने नील में,
ढोले है कोजागरी का दिया।
हार का प्रतीक— 'दिया सो दिया,
भुला दिया जो किया।'
किन्तु—शरद चाँदनी का साक्ष्य—
यह सकेत जय का है—
प्यार जो किया सो जिया,
घबक रहा है हिया, पिया।

—अश्वेय

कही पास ही है, शायद नगले में ढोलको की आवाज आ रही है। अयानी हरिपाली बादलो के चुम्बन से खिल गई है। हरिपाली का खिलना एक बड़ा सार्थक प्रयोग है, जिसमें उसकी चमक और ताजगी प्रतिबिम्बित होते हैं। 'दिया सो दिया, भुला दिया जो किया', लोकगीतों की-सी सहज कोमलता लिए हुए है। और कवि को शरद की चाँदनी एक जय का सकेत जैसी दिखाई देती है। किन्तु तृष्णा भी तो है, सो हृदय में प्यार करके अभिमान भी है, और जलन भी। प्रकृति के मन से ऐसे ही तो तारतम्य हैं। जब वह व्यक्ति-यज्ञ शान्त है तब फिर लोकरजन ही मामने रहता है

दूर-दूर कनक-धूलि,
सुरों से उडाती हुई,
घाती है साँझ कजरी,
गाय-सो रँभाती हुई।

हैं। मार्क्सवाद ने इस दृष्टिकोण को तोड़ा और 'नया 'मानववाद' प्रस्तुत किया जिसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सच्ची व्याख्या थी। किन्तु दुर्भाग्य से वह प्रतिष्ठापना ऐसी नहीं हो सकी कि जनमघपों में से अपना विकाम करती, वह बौद्धिक रही, और उसने समस्त पुरानी परम्परा को आत्मसात् करके छोड़ने के स्थान पर, उसपर एकदम प्रहार किया और सबको धोका दिया और वह अपना अलग रास्ता बनाने लगी। इसका कारण था सक्वीर्णतावाद जिसने सामाजिक विवेचन करते समय रुढ़िवाद का पल्ला पकड़ा। मार्क्स ने जिन परिणामों को यूरोप के इतिहास का अध्ययन करके निकाला था उन्हें भारतीय परिस्थिति पर लागू किया गया, जबकि मार्क्स के परिणामों को नहीं उसके सिद्धान्तों को भारतीय परिस्थिति पर लागू करने की आवश्यकता थी, उसके लिए इस देश के इतिहास, संस्कृति और परिस्थिति को अपने अध्ययन का विषय बनाने की आवश्यकता थी। इस प्रकार यथार्थ के नाम पर सकुचित राजनीतिक दृष्टि-भर रखी गई और जीवन के ग्रन्थ क्षेत्रों को छोड़ दिया गया, जबकि मार्क्सवाद केवल राजनीति नहीं है, वह जीवन के मूल्यों का नया निर्धारण है जो व्यक्ति, समाज और संस्कृति के मूल प्रश्नों को उठाता है और उनमें द्वन्द्व नहीं समन्वय स्थापित करना चाहता है, जो मानव-मानव के पारस्परिक द्वन्द्व को मिटाकर द्वन्द्व को मानव और प्रकृति के बीच में पैदा करने की योजना बनाता है, और प्रकृति और मानव का द्वन्द्व वह ऐसे पैदा करता है कि मानव 'अप्राकृतिक' नहीं हो जाए, वरन् प्रकृति को अधिक से अधिक अपने लाभ के लिए प्रयुक्त कर सके, क्योंकि मानव अतत्त्वोत्त्वा प्रकृति का एक भाग ही है, और वह प्रकृति का प्रयोग कर सकता है, उसको बदल नहीं सकता। 'रुहस्य' और 'शाश्वत' का वह कोई परम्परागत समाधान नहीं करता।

【१६】 द्विवेदीयुगीन काव्य की उपादेयतावादी चिन्ता के विरुद्ध छायावाद ने अपना सफल स्थान बनाया, किन्तु शीघ्र ही लोग उससे ऊब उठे क्योंकि युग की भांग आगे बढ़ने की चेष्टा कर रही थी। इस आगे बढ़ने की चेष्टा को मध्यवर्गीय कला ने ईमानदारी से देखा और बौद्धिक दृष्टिकोण ने 'ग्राम्या', 'युगवाणी' का सिरजन किया, जिसमें 'होना चाहिए' की पद्धति अपनाई गई और इसीलिए कवि ने उस काव्य को 'गद्य-गीत' कहा। प्रगतिशील काव्य की यह बुनियाद बुद्धिवादी रही। बजाय जन-जीवन में उतरने के, दूर से उसपर विवेचन किया गया और प्रगतिशील कवियों में यही परम्परा चल पड़ी।

दूसरी ओर छायावादी परम्परा तरुण कवियों द्वारा तोड़ी गई। हास्यवाद व्यक्ति की मस्ती का प्रतीक बनकर आया, जिसने समाज की रुढ़ियों पर प्रहार किया। अराजकतावाद, सघर्षवाद, अतिजातिवाद और विद्रोहवाद फूट निकला, जो पुराने को पसन्द नहीं करता था, जिसकी भुजाएँ फड़कती थी, जो प्रचलित पलायनवाद और निराशावाद को उखाड़ फेंकना चाहता था, परन्तु व्यक्ति का आक्रोश उसकी शक्ति थी, उसका कोई सामाजिक आधार नहीं था। यह आवाज साम्राज्यवाद के भी विरुद्ध थी। इसने पुरानी

वह व्यापकता की जगह हमे समाज की तीखी गन्ध हर श्वास में मिलती है
 है रेंभा रही बड़बड़े ने बिटुडी एक गाय,
 यन भारी है, दुखते भी है !
 आता गजनेरी मांड भटकता सडको पर, चलता मठार,
 क्या वही दवे उसके भी है ?
 जा रही किसी घर के जूठे बरतन मलकर
 बबचलन कहारी पकी हुई,
 चौका-बासन, संना-बैनी में बिता चुकी यौवन के दिन
 काटनी उसे पर उमर अभी तो पकी हुई !
 बज रहे कहीं डप-डोल-भांभ, पर बहुत दूर
 गा रही सग मदमस्त मजूरों की टोली
 कल काम-धाम करना सबको पर नौद कहीं—
 है एक वर्ष में एक बार आती होली !
 इस भांग-स्वाग से दूर, बन्द कमरे में, चिन्ता में डूबा
 दार्शनिक एकरस एकाकी
 है सोच रहा यह जीवन क्या,
 में क्या, मेरी यह आत्मा क्या ?
 सब कुछ खोजा, उत्तर न मिला,
 कुछ भी न बचा मथकर बाकी !

वह दूर और ससार दूर, सब विशृङ्खल, सब धाया-छल,
 है बिटुड परस्पर सुबक रहीं बोनो निधन आत्मा-काया !
 रोए शृगाल, बोला उल्लू, हिल गई डाल, चौका कुत्ता
 जो भूंक उठा ध्रुव देख स्वयं अपनी धाया !

—नरेन्द्र

नगर के एक मुहल्ले का है यह चित्र । ग्राम से अलग है इसकी घुटन । फिर भी
 दलित जीवन में अपना ही उल्लास है । होली आ गई है । बहुत ही बोभीला है यह वर्णन ।
 दार्शनिक एकाकी सोच रहा है । उसे कोई उत्तर नहीं मिला । सब कुछ कसकता है ।
 उल्लू बोलता है, शृगाल रोने है । दुःख कुछ बीभत्स हो उठता है, जब कुत्ता अपनी धाया
 देखकर स्वयं ही रो उठता है । चादनी का उल्लेख भी नहीं है, जबकि कुत्ते का अपनी
 धाया होली के दिन देख पाना उसीकी ओर इंगित करता है ।

एक ही कवि विभिन्न परिस्थितियों में पडकर कैसे दो चित्र देता है । नरेन्द्र
 कुशल कलाकार है । उसने अनेक नये प्रतीक दिए हैं । उसके गजनेरी साड जैसे दिलकुल

प्रगतिशील चिंतन पर विवेचन करना अब आवश्यक है। 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' में हम इसपर विवेचन कर चुके हैं, परन्तु वहाँ जो बातें रह गई थी, उनको यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। काव्य क्या है यह हम स्पष्ट कर चुके हैं। यहाँ हिन्दी की समस्याओं पर ही विचार करेंगे।

पहली बात यह है कि व्यक्ति की किसी भी अवस्था में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें व्यक्ति के विवेक अथवा न्यायबुद्धि को समाज के सम्बन्धों में निरपेक्ष भाव में मुक्त करके देखा जा सके। दूसरी बात यह है कि व्यक्ति अब समाज के तादात्म्य में अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्र समझी जानेवाली उन वृत्तियों का परिमार्जन करता है, जो उसके दैनिक-सामाजिक सम्बन्धों में बाह्य वस्तुओं का नियंत्रण करती हैं, अथवा यों कहें कि एक-दूसरे को हानि-लाभ पहुँचानेवाली आदान-प्रदान, वितरण, क्रय-विक्रय करनेवाली वे स्थिति का माध्यम बनती हैं, तब वह अपने व्यक्तित्व का हनन नहीं कर देता वह समाज में मसीन का अंग बनकर नहीं रह जाता। जिस प्रकार समाज-रूपी शरीर में आत्मा-रूपी व्यक्ति अपने स्थान पर नियत है, पर अपनी शक्ति से दूर-दूर तक को देखने के लिए स्वतन्त्र है, उसी प्रकार व्यक्ति की मेधा भी समाज में कुण्ठित नहीं हो जाती। मार्क्स ने यूरोप की तत्कालीन परिस्थिति में इसी सत्य को देखा था। गड़ड़ा देखकर भी यदि आत्मा गड़ड़े में शरीर को ले जाना चाहे, अथवा शरीर के मरने पर आत्मा जीवित रहना चाहे, तो जिस प्रकार आत्मा के माध्यम से मस्तिष्क परिचालित होकर भी अपना भला-बुरा नियंत्रित करता है, तथा शरीर के मरने पर आत्मा को भोजन मिलना बन्द होकर आत्मा का काम समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति सारे समाज में ऐसी ग्रन्थ भी शक्तियाँ प्राप्त करता है, जो उसपर नियंत्रण करती हैं और समाज के न होने पर व्यक्ति भी जीवित नहीं रहता। व्यक्ति अपनी भाषा, अपना चिन्तन, सब सामूहिक रूप से ही सीखता-समझता है। ये दो बातें समस्त मर्षण को स्पष्ट करती हैं। 'ऊर्ध्वचेतन' की और विकास-क्रम में आगे ले जाने की जो बात योगी श्री अरविन्द ने कही है वह व्यक्ति की चेतना को समाजगत करके नहीं देखती, जबकि अरविन्द ने एसीबा से अपने विकास को प्रारम्भ किया है।

यह सत्य है कि मनुष्य का विकास करोड़ों वर्षों में हो जाएगा, परन्तु उसका कोई विकास व्यक्तिवादी ढंग से समाजगत रूप को छोड़कर नहीं हो सकता। यहाँ कोइस्तर की बात या जाती है, जिसने कहा है कि योगी और कमिष्मर दोनों का सम्बन्ध ही विकास की अगली मजिल है। अर्थात् व्यक्ति और समाज का यह आत्मोन्नति और समाज-उन्नति की और उन्मुख रूप ही भौतिक और आध्यात्मिक रूप का चरम मिलन है। परन्तु यहाँ दोनों रूपों को द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। योग का अर्थ शरीर और मन की शक्तियों का नियोजन-मात्र है। 'योग' का विकास भारतीय इतिहास में समाज-

यह वसुधरा, कभी न लगती इतनी प्रियकर
 लता-कुज-द्रुम लगते, केवल मूक, तुच्छतर।
 यदि न विद्व की बनी में सुर का सरगम भर
 छन्द बजाते समुच्छ्वसित क्षम मधुर महत्तर।

पृथ्वी की सुन्दरता बिना पक्षियों के कभी इतनी सुघर नहीं बनती, जितनी कि उनके सपर्क में लगती है। हम, जो गावों में रहते हैं, इसका सारतत्त्व समझते हैं और इसे छायावादियों ने भी केवल सौन्दर्यप्रियता के कारण समझा था।

वर्षा का वर्णन करते हुए कवि कहता है

बह रही वायु सर्-सर् सर्-सर्
 बरसते मेघ भर-भर भर-भर
 कांपते पत्र धर्-धर् धर्-धर्

तो आज सजा है घासमान
 धरती पर जीवन भासमान
 लघु-लघु धाराएँ धावमान
 जर्मिल, द्रुततर, मनहर, सुन्दर
 बहुवर्ण धरा, बहुरूप धरा
 हो गई नवल जन-मनोहरा

यह परम पुरातन वसुधरा
 गतिशील पवन ज्यों जीवन-स्वर
 हो गया चित्रपट पूर्ण गगन
 छविरूप वर्णमय चंचल घन
 पल में कुछ पल में कुछ बन-बन
 क्षण-क्षण में प्रियतर सुदरतर

तो उठे भूमि से हरिताकुर
 शोभित है ग्राम-ग्राम पुर-पुर
 हो छाया शीतल मानव-उर
 नव सृष्टि करेगा हो तत्पर
 पाकर पावस का पावन क्षण
 करती स्वल्प का परिवर्तन
 तन से मन से बनती नूतन
 यह प्रकृति सदा नव जीवन धर

प्रतिभाका स्वयं शिवा और अमर काव्यों की सृष्टि की। पुस्तिक ने अवश्य 'यूजीन ओनिगिन' ऐसा पद्योपन्यास लिखा जिसको कथा उसने अपने-आप बनाई थी। यह प्रकट करना है कि शास्त्रीय पद्धति से, अथवा किसी भी प्रकार के चित्रण-सौन्दर्य-मात्र से, कोई भी क्यानक, युग पर प्रभाव नहीं डालता, जब तक कि उसके भीतर युगव्यापी कोई विषय नहीं हो। युगानुरूप होने का यह तथ्य यह भी प्रमाणित करता है कि कवि अपनी कथा भी गढ़ सकता है, उसमें यदि शक्ति होगी तो वह युग को प्रभावित कर सकेगा।

प्रबन्धकाव्य को यद्यपि निम्नाना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उसमें वर्णन-चित्रण के लिए हाथ-पाव खुले रहते हैं। दिनकर का 'कुशेत्र' एक सण्डकाव्य है और श्रोज के दृष्टिकोण से यह सफल है। परन्तु इनका पुराना विषय भी युगानुरूप होने के कारण ही लोकप्रियता प्राप्त कर सका है, जबकि ५० द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णासन' उतना स्थान प्राप्त नहीं कर सका, हालांकि चित्रण की दृष्टि में मिश्रजी का काव्य कहीं अधिक उत्कृष्ट है। यद्यपि लोकप्रियता ही काव्य के उद्घुष्ट और श्रेष्ठ होने का परिचायक नहीं है, तथापि यह निस्मदेह सत्य है कि कलाकृति अपने मूलज के युग में अपने युग की अपेक्षा करती है और कालान्तर में वह उन्हीं मानवीय मूल्यों और अनुभूतियों तथा चित्रण के बल पर जीवित रहती है, जिनमें वह अपने युग का सत्य प्रतिपादित करके भविष्य का मार्गप्रदर्शन करती है।

किन्तु गीतिकाव्य में यह सरलता नहीं होती। पुराने मानदण्डों के अनुसार इसको यो रखा जा सकता है। भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी, व्यभिचारी आदि की वर्णन-स्वतंत्रता तथा गुजायश से प्रबन्धकाव्य में तो रस की निष्पत्ति हो जाती है, परन्तु गीतिकाव्य में एक गीत में एक ही भाव का वर्णन होना है, अतः यहाँ उतने फूल फूटने का अवसर ही नहीं मिलता। पुराने आचार्यों ने गीत में 'ध्वनि' को प्रमुख माना था। वह भी ऐकान्तिक है। गीत भाव पर ही आश्रित होता है, जिसका प्रवृत्ति में सबध है, जो मनुष्य-मात्र में सहज और साधारण है, सामान्य है। वही गीत का हृदय से तादात्म्य कराती है, वही मुलम बनाती है। पुराने और नये गीतिकाव्य में बहुत बड़ा अन्तर है। पुराने मुक्तक राधाकृष्ण-सबधी, या प्रार्थनापरक रहे। जयदेव का गीतगोविंद, विद्यापति की पदावली, रीतिकाल के सर्वेये और कवित्त तथा मूर के पद, सब ही राधाकृष्ण के जीवन पर अवलंबित थे। इसलिए एक भी पद या छन्द दाम्भ्य में स्वतंत्र नहीं था। उसकी भावभूमि आश्रय में राधाकृष्ण की कथा के रूप में पहले से विद्यमान थी। वह मुक्तक उस विद्यमान प्रबधवत् भूमि में एक विशेष फूल बनकर खिल जाता था। अतः वह आज के मुक्तक में भिन्न था। दूसरी ओर मिद्धो, नाथो और कबीर के गीत हैं, जिनकी रसात्मकता का पूरा अचलित दार्शनिक चिंतन ही आधार था। अतः वे प्रचलित हो गए। आज के गीत व्यक्ति-विवेचन-भूमि पर बने हैं और यदि वे सहज ग्राह्य नहीं होने, तो उनमें लोगों को रस नहीं मिलता, बिनापतया तब जब उनके लिए नयी दृष्टि में काम नहीं लिया जाता। मैं प्रयोगवादियों की बात नहीं कर रहा

कहना है -

सुहागिन उठी,
 चलो, यह धूप,
 हमारा रूप !
 इसीसे छून हमारा गरम,
 इसीसे बोल हमारे नरम,
 इसीसे मन में प्राण
 इसीसे गान कि जो वर्षा में गूँजेंगे,
 इसीसे कजली, कदम, हिंडोल
 इसीसे मुरज, पलावज, ढोल ;
 इसीसे हास, इसीसे रास,
 इसीसे धरती पर आकारा
 सुहागिन उठी,
 छोड़ लो धूप,
 निखारो अपना-अपना रूप !
 धूप पर हँसो,
 कड़ोटा कसो,
 खेन पर चलो समुन्नत भाल
 कांस खोदो, फाटो जजरल ।
 बेर के बड़े
 जला दो आगे होकर खड़े ।
 पसीने की धारा बलवती
 धरा जिससे बनती फलवती,
 नहाओ दूधो, पूतो फलो,
 सुहागिन, चलो, खेत पर चलो ।
 'घर का परम सुहाग'
 गगन की आग
 आय-बबूला सहित मुखे सूरज
 खेत रहा है काग !!

—भवानीप्रसाद मिश्र

धूप का यह वर्णन बिलकूल नया है। सारा जीवन सूर्य के ही कारण चल रहा है। इस धूप को छोड़ लो। इसपर हसो। बाघामो को हटा दो। यह धूप तुम्हें समझि देगी।

इकाई उमका व्यक्ति है, उसी प्रकार समाजवस्तु-काव्य की अनुभूति व्यक्ति में होती है। जिस प्रकार मनुष्य के लिए समाज और व्यक्ति अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार काव्य के लिए लोकपक्ष और व्यक्तिपक्ष अन्योन्याश्रित है। जिस प्रकार मनुष्य का मंगल व्यक्तिपरक नहीं है, उसी प्रकार काव्य का मंगल व्यक्तिपरक नहीं है। दोनों की अवस्था और अस्था सामूहिक जीवन के मूलाधार तथा आशान-प्रदानरूपी शब्द-व्यवस्था पर आधारित है। अतः काव्य के अंगों के रूप में ध्वनि, रीति, अलंकार और वक्रोक्ति मान्य हैं; परन्तु वे ही मात्र कुछ नहीं हैं। पुरानी परम्परा का सर्वश्रेष्ठ स्वीकार लेने पर प्रगति सञ्चित नहीं रहती। वह जीवन की सर्वांगीण चेतना का विकास है। वह समाज-पक्ष में लोक-व्यपन्न में प्रेम-भावना का पक्ष लेकर चलती है और अभिव्यक्ति में मनुष्य की कल्पना को समृद्ध बनानी है। सौन्दर्य सापेक्ष है अतः वह नयी अभिव्यक्तियों को स्वीकार करना है। प्रेम, वासना आदि जीवन के प्रति अधिक सजीव अनुरक्ति पैदा करनेवाली अनुभूतियाँ काव्य का आवश्यक अंग हैं। वैराग्य की वह सीमा जो चेतना को व्यापक बनाकर, परानुभूति के प्रति उन्मुख बनाकर, केवल ऐंद्रियपरकता रोकती है, श्रेष्ठ है। यूरोप में आए हुए विभिन्न षाढ़ निम्नमध्यवर्गीय गतिरोगों में पैदा हुए पलायन हैं। उनके प्रयोग शैली-अभिव्यक्ति तक मान्य हैं। प्रतीकों का मूजन काव्य के लिए आवश्यक है। केवल मजदूर-किमानों पर लिखी कविता, घिसी-पिटी नारेबाजी, राजनीतिक कार्यक्रमों की तुकबन्दी, और व्यक्ति-वैचित्र्य की अतिक्रिष्ठा कविता नहीं है। न उपादेयता के नाम पर उपदेशात्मकता श्रेय है, न आत्माभिव्यक्ति के लिए द्रविड प्राणायामी कल्पना। काव्य में तो 'काता उपदेशवत् सरमता' होनी चाहिए।

भरतमुनि का रस-सिद्धांत दास-प्रथावाले समाज के हामकाल में जन्मा था। तब सामन्तवाद दासों को मुक्त करके भूमिबद्ध किसानों को पहले की तुलना में अधिक स्वतन्त्रता दे रहा था। तब यह स्वीकार किया गया कि काव्य केवल पुरोहितों के लिए नहीं, न देवताओं के लिए है। वह तो मनुष्य के लिए समान रूप में ग्राह्य है। तब साधारणीकरण के माध्यम से भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के योग में होनेवाली रस-निष्पत्ति का सिद्धांत बना जो समाज-पक्ष को स्वीकार करता था। ज्यों-ज्यों सामन्तीय समाज का प्रगति-तत्त्व घटा, वह शोषणकर्ता बना, उच्च वर्गों ने रस-सम्प्रदाय पर हमला किया और आज के प्रयोगवाद, तथा अन्य पलायनवादीवादों की भाँति, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि, अलंकार आदि ने दरबारों में सिर उठाकर रसवाद को घटाना चाहा। परन्तु आगे बढ़ा हुआ इतिहास नहीं लौट सका। भरत के सिद्धांत-निर्माण के समय शोषण मिटा नहीं था, उसने रूप बदला था। अतः युगानुरूप बन्धन सिद्धांत पर आए। व्यक्ति-मात्र विवेचन का आधार बना और दरबारी नायक—धीरोदात्त की कल्पना हुई। समाज के ह्रास ने काव्य को दरबारों तक सीमित कर दिया। काव्य में वह जो कि मनुष्य-मात्र के लिए थी—'रति'

मानवण्ड युग-भेद से बदल जाने पर भी वस्तु-सादृश्य में भेद नहीं कर सकते, यो अपने ग्रह-कार की नृप्ति में हंसों की जगह ऊटों की सृष्टि करनेवाले विश्वामिनो को तो दूर ही में प्रणाम करना श्रेयस्कर होता है। हमें काव्य के स्थायी तत्त्व की प्रतिष्ठा करने के लिए प्रवश्य ही ऐसी भूमि चाहिए जो सार्वजनीन हो। मूर के बाल-वर्णन, तुलसी के रामराज्य-वर्णन, कबीर के जाति-मानि-विरोधी वर्णन, कालिदास के काम-कला विभूषित वर्णन और मायकावस्की के क्रांति-वर्णन के विभेदों के एकत्व को न देखकर जो उनके रसमूल एकत्व को विभेद करके देखते हैं, वे घोषे की ही सीप कहनेवाले लोग हैं। वे छायावाद को भाषा ढाली के लिए एक दिनमात्र समझते हैं, और कुछ अधिक नहीं। प्रकृति के विषय में लिखी निम्न कविता का उनके सम्मुख कुछ भी मूल्य नहीं है

मेघमाता-सो मुदित मन के लिये,
रगशाला-सो रसिक जन के लिये
मूक हाला-सो प्रणय की चेतना
प्राण, ज्वाला-सो हृदय की वेचना
कह सकूँगा क्या, भला मैं कौन हूँ ?
तुम उदार बनो सुहृद मैं मौन हूँ ।

—श्यामसिंहारी शुभ्र 'परल'

चिन्तु यदि इसे सचाई से देखा जाए तो इसमें हमें जीवन की एक गहरी अनुभूति मिलती है। इसमें लौकिक को अलौकिक रूप में रखा गया है और मानस के अनेक सकार यहा वेदना की अनुभूति बनकर प्रस्तुत करते हैं और देखने में तो निराशा, परन्तु वस्तुतः दार्शनिक तत्त्व से भरकर पूर्यते हैं कि मनुष्य को अपनी सत्ता क्या है, बल्कि है ही क्या ?

परन्तु ऐसे चित्र नये युग में बहुत कम मिलते हैं, क्योंकि इनमें दृष्टि का प्रसार नहीं है, गहराई अवरय है।

काव्य में इतनी क्षमता है कि वह अपने एक ही स्वर से अनेक स्वर चबित्त कर सकता है। ऐसी ही नरेन्द्र की एक कविता है जिसमें वह वर्णन तो बसत का करता है, चिन्तु नवयुग के जागरण की पूरी तस्वीर उसमें उतर आती है। और एक-एक शब्द एक-एक कोश बनता हुआ हमारे सामने खुलता है। मैं विहारी का दोहा नहीं बना रहा हूँ यहा, बल्कि इस अदृष्ट को देख रहा हूँ कि कितना लाघव मौजूद है, परन्तु आलोचक उसे देख नहीं रहे हैं। लाल पलाश क्रांति का प्रतीक है। वह जागरण है। वह मस्कृति का राग-तत्त्व है। यह आलोक की पूर्णभूत सफलता है, तभी ही वह घपना जंझा बनाने की क्षमता अपने भीतर रखती है। प्रकृति का 'लाल लाल है पलाश' वाला चित्र इस रूप में कौता लगता है

और शीश पर बांधे फेटा
स्वेद-धूँड टपटप कर गिरतो
डोंगी खाती लहर-चपेटा
काले स्याह हस्त-युग मेरे
यहाँ निरंतर डाँड हिलाते
यक-यक, रुक-रुक कभी बीच में
'साथी' धी' 'में' दोनो गाते

—रामभ

'साथी' का प्रायः प्रयोग मुद्र की ललकार के लिए किया जाता है। यहाँ वह सग मेहनत करनेवाले से स्नेह के लिए आया है। अपने यहाँ ऐसी रचनाएँ सचमुच कम हैं। किन्तु भविष्य में वे और और आएँगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। काले हाथों का डाँड हिलाना न केवल चित्रात्मक है, न केवल उसमें धम की ध्वनि है, वरन् उसमें है जीवन का वह मनपक विस्वास जो कि इसकी सारी शक्ति है। दरिद्रता रोकनेवाली चिंता है, परन्तु यहाँ लहर-चपेटा खाकर भी जीवन की मौज लेने निकली हुई डोंगी रुकती नहीं। थक भी जाए, रुक-रुककर भी चले, तब भी गीत नहीं रुकता, वह बीच के व्यवधानों को पार करने का सबल दिए चलता है। और छोटा सा साथी जीवन के कोमल स्वप्नों की याद करता है कि यहाँ से 'पिककूजन' दूर है। कमलों के वन का अभाव अन्त में जाकर पूरा हो जाता है।

केसरी ने अपने 'चकोरी' में एक बहुत ही स्थायी रचना साहित्य को दी है।

कवि-सत्य के रूप में यह प्रवाद चला आ रहा है कि चकोरी एक ऐसी चिड़िया है जो चन्द्रमा को देखनी रहती है और उसके अगार चुगती है। हिम से अगार ! चकोरी कहती है कि मैं तुम्हारे हिम में से अगारे चुगती हूँ, चुगती हूँ चिनगारी कि प्राणों में कभी न बुझनेवाली प्यास जल उठे ! कौसी विभोर सर्जना है। इसमें कितनी शक्ति और कितना प्राण है ! नयन हास पीते हैं, मुख अग्नि !

चुगती चिनगारी कि जले प्राणों में ऐसी प्यास पिया
युग-युग बुझे न, युग पीवे शाश्वत तेरा हिम-हास पिया
हिय पीवे अगार नयन में चुएँ अभिय-रसपार पिया
होख प्राण-पानी की रे कहता जग जिसको प्यार किया
जाना प्राप्य-अप्राप्य, न जाना तुमको केवल एक पिया
प्राह ! न लूंगी मैं विवेक देकर अपनी यह टुक पिया
भून-भून झूली पर जोते-जो ईशा होना सीखा
एकप्रता मैं सती-मुहागिन चिता-सेज सोना सीखा

महादेवी वर्मा ने अपने छायावाद की व्याख्या करने की चेष्टा की है। परन्तु वह कोई महत्व की बात नहीं है। वस्तुतः आधुनिक काव्य का नया ही काल-विभाजन आवश्यक है।

सामन्तीय हामकाल में, १७४० ई० में १८५७ ई० तक हिन्दी में सब तरह काव्य का हास हो रहा था। इस समय को अभी तक उत्तर रीतिकाल कहा जाता है, जबकि यह गलत है। इन समय जहाँ एक ओर दरबारी कविता लिखी जा रही थी, वहाँ पलटूबास, दयाबाई, सहजोबाई, हुलमदास, तुरप्पी साहेब इत्यादि अनेक कवि सतकाव्य की परम्परा को आगे बढ़ा रहे थे। आचार्य शुक्ल इसे नहीं देख सके थे। वे शेर निसार और नूरमुहम्मद जैसे सूफ़ी कवियों के भीतर इस युग-विशेष में आए परिवर्तन को भी नहीं पकड़ सके, क्योंकि उन्होंने तो धाराएँ पकड़ी, यह नहीं देखा कि एक ही विचार का विभिन्न परिस्थितियों में कौसा विकास होता है। यही वह कास था जब हिन्दी का फारसी-गर्भित (उर्दू) काव्य दरबारों में फल-फूल रहा था। इस काल के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग आया। वहीं से सब आधुनिक काल मानते हैं। किन्तु भारतेन्दु का युग केवल उन्मेष-काल था। उर्दू में दाग पुरातन परम्परा को लिए हुए थे, और हानों में पुनस्त्यान की भावना थी। वहीं हमें प्रकारान्तर से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नायराम शंकर और श्रीधर पाठक में मिलती है। इसके बाद आया मुबार-युग। इस युग में हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त प्रमुख नेता थे। यो तो गुप्तजी अभी तक लिख रहे हैं और अचञ्छा भी लिखते हैं। परन्तु उनकी विषय-वस्तु अपना रूप नहीं बदल सकी है।

इस काल के बाद हिन्दी में नया मोड़ आया। चूँकि इसे अब छायावाद कहा जाने लगा है, सुविधा के लिए मैंने भी वही नाम प्रस्तुत किया है, किन्तु वस्तुतः छायावाद-काल की जगह नाम होना चाहिए अम्युदय-काल। इसी युग के उयोनिस्तम्भ प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी हैं। महादेवी और प्रसाद ने तो आगे नहीं लिखा है। परन्तु पन्त और निराला अभी तक लिख रहे हैं। अम्युदय-काल जिस अभिव्यजना को लेकर चला था, उसकी चरमसीमा प्रसाद की 'कामायनी' में जाकर हुई। उस सीमा तक निराला, पन्त और महादेवी नहीं पहुँच सके। अवश्य ही पन्त और निराला ही हमारे आलोच्यकाल के युगप्रवर्तक कवि हैं। उन्होंने ग्राम्या और बुकुरमुत्ता आदि रचनाएँ देकर आगे के मोड़ की ओर इगित किया किन्तु उनका ही नाम गिनाना साहित्य के इतिहास के साथ अन्याय करना है। वे अपने को नये युग के लिए उपयुक्त नहीं बना सके। नयी बागडोर तो नये कवियों ने सभाली। आज की हिन्दी कविता निराला, पन्त में सीमित नहीं है। अवश्य ही यह सत्य है कि जिस क्षेत्र में एक विशेष ऊँचाई से लोग पा चुके हैं, उतनी ऊँचाई नये कवि अपने क्षेत्र में नहीं पा सके हैं, परन्तु यह भी मत्य है कि आज की कविता इन दोनों के अतिरिक्त भी अपना एक स्वरूप रखती है।

(४) व्यक्तिगत वासना अपने स्वरूप में ही प्रायः प्रकट हुई है।

(५) भाषा की दृष्टि से सहज को ही अधिकतर अपनाया गया है। पदावली प्रायः ही कोमलतम बनाने का प्रयत्न मिलता है।

(६) नये क्षेत्र में नवीनता का ही लाघव नहीं है, उसका राग-तत्त्व स्थायी भावों को लेकर ही चलता है।

अतः में इस विषय को हम एक और उद्धरण देकर समाप्त करते हैं, जिसमें कम-नीयता और गति का छंद बहुत ही सम्यक् मनुष्य देता है

वसन्त के चपल चरण !

पिकी पुकारती रही पुकारते धरा-गगन
मगर कहीं दके नहीं वसन्त के चपल चरण !
असंख्य कांपते नयन लिए विपिन हुआ विकल
असंख्य बाहु हैं विकल कि प्राण हैं रहे मचल
असंख्य कठ खोलकर कुह-कुह पुकारती
वियोगिनो वसन्त की, दिगन्त की निहारती
वियोग का अनन्त स्वयं विकल हुआ निदाघ बन,
मगर कहीं दके नहीं वसन्त के चपल चरण !

—रामदयाल पाण्डेय

यह है वसन्त की महागति। मैं तो कहूंगा कि नये वसन्त की गति है। 'चंचल पग दीपशिखा-से धर गृह मग बन में सुलगा वसन्त,' की परंपरा और भी सुंदर चित्र लाई है। इस कविता में केवल कोमलता ही नहीं, अंज भी है और इसीलिए इसमें जो स्फुरण-शक्ति है, वह बहुत ही आकर्षक है।

यह सत्य है कि छायावादी कवियों के बाद किसी एक कवि ने अभी उतना महत्त्व नहीं पाया है, जितने की आशा थी, किंतु मैं भ्रमभङ्गा हूँ इसका एक कारण यह भी है कि बाद के कवियों को ठीक से पदा भी नहीं गया है। साहित्य में आलोचना का क्षेत्र इतना विनष्ट हो गया है कि उसमें अभी ऐसी आशा तभी होगी जब लोक में और अधिक शिक्षा फैलेगी और कवि तथा पाठक का सीधा संपर्क स्थापित होगा।

उसे देखना बहुत आवश्यक है।

अभिध्यक्षिण के माध्यम के कोप का बदल जाना यह प्रकट नहीं करता कि उससे 'श्रेय' बदल जाना है, परन्तु काव्य के इतिहास के बदलते रूपों में उसका अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। गुणजी और पत, निराला आदि पर हिन्दी में तो भी कुछ लिखा जा चुका है। उनके वाद के युगों का अध्ययन तो बहुत ही अनर्पपूर्ण हुआ है, क्योंकि आलोचकों ने आचार्यं शुक्ल की सरल अध्यापकीय प्रवृत्ति अपनाकर वाद-भूमि पर काव्य का खंडित अध्ययन किया है और नये स्वरो को पूर्णतया नहीं देखा है।

यहाँ हम उसीका अध्ययन करेंगे।

[२६] भागें बढ़ने से पहले मैं यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। किसी भी युग का कवि अपने सामने एक ध्येय रखता है। इसमें उसके भीतर एक अपना सत्य जन्म लेता है। यह युग और व्यक्ति का परस्परश्रित सत्य होता है। इसमें व्यक्ति की लघुता और महत्ता, दोनों ही रहती हैं। इसीके साथ एक सत्य युग-युग का होता है। वह युग-युग का सत्य क्या है? वह 'कला कला के लिए' नहीं है। वह किसी समाज-विरोधिता में नहीं है, वह है मानव के कल्याण का सत्य। एक समय या जब राजाओं के बंभव का यशोगान, उनकी वीरता की स्तुति कवि का युग-सत्य था। एक और समय आया जब देवता की स्तुति उसका ध्येय बनी। एक बार और उमने परमात्म की धुन छोड़ी। एक बार और हो रूप बदला और वह स्त्री के सौन्दर्य में डूब गया। युग और देग के विशेष बंधनों में मनुष्य ने विभिन्न सत्वों का साक्षात्कार किया। किन्तु हम अब प्रत्येक रचना का मूल्यांकन उस युग की सीमा और उस युग की परिधि के भीतर नहीं करते। हम काव्य की विरासत को सौन्दर्य के विकास के रूप में लेते हैं। आचार्यं शुक्ल ने वीरकाव्य को तो इसी दृष्टि से देखा। किन्तु रीतिकाव्य की सुन्दरता को वे मानववाद की व्यापक भूमि पर कसने की बजाय, रीतिकाव्य की सीमाओं के भीतर ही खोजते रहे। यह उनकी अध्यापकीय मनोवृत्ति थी।

युग के परिवर्तन ने हिन्दी-काव्य को नये रूप दिए। भारतेन्दु में पुरातन और नवीन का मिलन हुआ और फिर हम नवीनता की ओर अधिक लिख बने। हिन्दी के आलोचकों ने इन समस्त युगों को प्रायः ही मानववाद की भावभूमि पर देखने की चेष्टा की। परन्तु वे पूर्ण न्याय नहीं कर सके, क्योंकि उन्होंने 'छायावाद' शब्द को पकड़ा, उसके 'अभ्युदय' को नहीं लिया। प्रसाद, पत, निराला और महादेवी भारतीय सस्कृति में एक नये अभ्युदय हैं। यह सत्य किसी आलोचक ने स्वीकार नहीं किया। जिते भ्रष्टेजी में लिखा कहते हैं, वह इन्हींका लाया हुआ है। इन्हीं लोगों ने कवि के सत्य को युग के सत्य से एराकार करने के भीम प्रयत्न में सफलता पाई और इसीलिए इन्होंने महाकवि होने का भी गौरव पाया। फिर भी इनमें एक कमी रह गई कि ये कवि जनता तक नहीं

स्तुत किया जा रहा है।

कवि का ध्येयत्व समाज में अपने भी सुख-दुःख लिए रहता है। जब वह उन्हें महत्त्व नहीं देता तब हम उसे किसी बड़े रूप की ओर बढते हुए देखते हैं। वह कहता है

रवत से खींचा गया यह
चित्र तुमको सौंपता हूँ।

×

कर न पाया दूर
इसको एक भी क्षण के लिए हूँ,
एक पल भी सह न पाया
मे उदासी की भलक,
जो कभी इसपर आ गई है !
तब यही चाहा कि
अपने प्राण की सजीवनी को घोलकर
इस चित्र की प्रत्येक तम में फूँक दूँ मैं।
जब कि आंधी का भयानक वैद्य
अपने वज्रपग धर जगमगाती भूमि पर उन्मत्त जैसा
ध्वंस का गायन सुनाता
प्रलय बोणा की मिला लय
सबल धारासार वर्षा में किलककर
तड़ित जैसे दांत घिस निश्चित होकर धूमता या
तब समेटे बांह में इस चित्र को भेने सदा ही
शुचि हृदय के स्पंदनो के बीच में रक्षित किया है।

—राजेन्द्र शारद

वह समाज की कथा को एक भी क्षण के लिए अपने से दूर नहीं कर पाता। वह एक मृत व्यवस्था में जीवित श्वास फूँककर उसे फिर से सन्नद्ध बना देना चाहता है। आंधी का वैद्य सौपण का प्रतीक है। तड़ित जैसे दांतों का घिसना अर्द्धा चित्र है। जीवन के इस चित्र को बचि हर तरह से बचा लेना चाहता है। आंधी और पानी की उमे इतनी चिन्ता नहीं है, क्योंकि मन में कहीं न कहीं वह यह अनुभव करता है कि यह सगट स्वायी नहीं है। ये आते हैं। चले जाते हैं। किंतु यह जो पित्र है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यही तो सभ्यता और सस्कृति है। यदि यही नष्ट हो गया तो उसके पास बाद में बच ही क्या जाएगा ?

कवि का मन अत्र पुराने बघनों को छोड रहा है। यह पुरानी स्वार्थपरक या आत्म-

का 'डर्मिला', प्रभात की 'श्रुतवरा' इसी ऊर्वाई की और को सकते है। आज के युग में कवि अभी एक पूर्ण जीवन-स्वप्न नहीं खोज पाए हैं, तभी वे ऊँची चोटी तक पहुँच नहीं पाए हैं। कौन पहुँचेगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। एक नीम-आसोचक ने इन्से बीनी का युग कहा था। मैं इसे कुत्मा कहता हूँ। कहनेवाला स्वयं बीनी है। बीनी के हाथ निरतर आगे और ऊपर उठने हुए नहीं दिखाई देते। हमारे यहाँ यदि व्यक्ति रूप से अभी पूर्ण उपनब्धि नहीं भी हुई तो भी क्या डर है। जहाँ तक युग का प्रश्न है, जितना सत्वाव्य इस युग में जन्मा है, उतना पुराने युगों में नहीं मिलता। और फिर कवि निरतर बढ़ रहे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तुलसी ने साठ वर्ष की उम्र में 'मानस' लिखा था और अस्मी वर्ष की आयु में गेटे 'फॉस्ट' की रचना कर सका था। नयी कविता व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का गहरा विश्लेषण ही नहीं है, वह व्यक्तित्व के विकास की भी जबलत कहानी है। अभी उससे आशाएँ हैं और वे अवश्य ही फलवती होंगी। प्रगति, प्रयोग इत्यादि को हम सहज ही ध्वनि, बक्रोक्ति इत्यादि के नये रूपों में कह सकते हैं। हम किसी भी कवि की रचना देखते हैं तो वह अपने 'कव्य' के अनुरूप नहीं उतरता।

लेकिन आज उसका दर्प है विच्छिन्न, भ्रवणत शोश,
जल पर तैरते जलयान के थे अनगिनत लघु लण्ड
जैसे कर रहे हो महत्तम अस्तित्व पर
छिपकर भयकर व्यंग ।

×

आज पहली बार शायद जिंदगी में कर रहा महसूस मैं—
कुछ उंगलियाँ मुझपर फिरतर उठ रही हैं ।
मैं नहीं समझा कभी मेरी महत्ता का कहीं अस्तित्व भी है ।
कितु दुनिया की नजर में आज मेरा दर्प,
मेरे अहम् का विस्फोट
मेरी रागिनी की शक्ति बनकर
एक जलती चुनौती दे रहा है ।

—धनरयाम अस्थाना

व्यक्ति का स्वाभिमान भी आज स्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि उसे तो घोट देने की ओर ही प्रयत्न हो रहा है । आत्मा में हीनत्व की भावना भी अपनी कचोट के गर्व का ही परिणाम है । किन्तु कवि-हृदय की कामना इस प्रकार है

“ कवि की वाणी अमृतमय हो जाए । वह मृतको भी नव जीवन भर दे । मन में सुन्दर इच्छाएँ रखकर मानव सुख से निर्भय विचरण करे ।

“ चिर अधियारे पथ को पार करके उजियारा पथ मिले । तन, मन, जग और जीवन मंगलमय हो जाए । गुण की प्रतिनिधि कल्याणी कवि की नववाणी धन्य हो । सब उसकी जय-जय गाए । ” (तारा पाण्डे)

यह एक पल का चिन्तन है या यही कवि के व्यक्तित्व की समग्रता है ? मैं समझता हूँ कि जीवन में अनेक पक्ष होने के कारण अनुभूति समय-समय पर विभिन्न रूप से अपने को व्यक्त करती है । कभी-कभी घटना-विशेष से प्रभावित हो जाने के कारण हमें दृष्टिकोण में एक प्रकार की अति भी दिखाई दे जाती है । ऐसी रचनाओं में हमें वैयक्तिकता के अति-रिक्त लोक-प्रभाव की ऐतिहासिक घटना भी देखनी चाहिए । कवि अपने को अभावों से ग्रस्त पाता है तो वह अपने को अलगाव के नाम पर विद्रोह करता हुआ प्रकट करता है ।
तुम्हें चाहिए प्रेम, प्रेम से मेरा ध्या नाता ।

तुम सुख के सर्वस्व, और मैं दुःख का निर्माता !

कल प्रभात होते चल दूंगा, अलख गीत गाता !

मैं अपने पथ के कण-कण में अपनापन पाता !

—श्यामविशारी शुक्ल 'तरल'

ज्योति-सी उर से निकल घों ज्योति-सी उर से प्रकृति के
मिल अचानक, क्षण चकित कर लीन होती किस गगन में ?
आज मेरे प्राण पर ओ प्राण ! डालो स्निग्ध छाया
भयद उस सौन्दर्य-गणि की अथक अपार अगाध माया
आज मेरे प्राण उमड़े मानते ना स्थूल बन्धन
ज्योति में निज को मिटाकर ही मिलेंगे क्या छिपे कन ?

—राजेन

सवेदना का जागरण होता है प्रकृति के आवाहन में । मनुष्य उसे प्राप्त कर लेना चाहता है, किन्तु उसे फिर भी यही लगता है कि वस्तु को वह पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर सका है, उसमें एक आकुलता बची ही रह जाती है, उसके भीतर भी एक ज्योति है, जो समग्र की ज्योति से मिल जाती है, किन्तु वह अततो गत्वा कहा जाकर लीन हो जाती है, यह वह नहीं जान पाता । तभी वह चाहता है कि सौंदर्य का अवाक् कर देनेवाला, मन में एक आशका उत्पन्न कर देनेवाला, विस्मय से विमूढ कर देनेवाला मायावी स्वरूप किसी प्रकार उसके सामने प्रकट हो जाए । उसकी चेतना स्थूल के बन्धन में ही सीमित नहीं रह जाना चाहती । वह तो ज्योति बनना चाहता है । किन्तु फिर भी वह सदेह से सोचना है कि जब ज्योति में ज्योति मिल जाएगी तब फिर छिगा हुआ गोपन रूप रह ही क्या जाएगा ? क्या गोपन की खोज में अपने को मिटा ही देना होगा ?

'सावन मेघ' के रूप में कवि इसी प्रश्न को स्थूल दृष्टिकोण में देखता है और मानवी सौन्दर्य के प्रति उसकी दृष्टि अधिक दिखाई देती है । वह अपनी वासना में ही प्रकृति को आकृता है

घिर गया तम, उमड़ आए मेघ काले
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर छा गया इन्द्र का नील वस्त्र—
धन्त्र-सा, यदि तडित से झुलसा हुआ-सा ।
आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
घमनियों में उमड़ घाई है तह की धार

उन्माद की भाति, तन्मयता की वासना भी तीव्र होती है

में हरित वन की बासुरी हू । श्याम के मनुमय अपर की वाणी पीकर बावरी हो चुकी हू । सापना में स्वर्ण-सा गलकर, वेदना की अग्नि में जलकर प्रेम की लोहित धानाका से कोमल मर्म में छिद्र कर मैं मृत्यु में जीवन छिपाकर नागरी बन गई हू । मेरे नाभिसर में अमरता की माधुरी है ।

अपनी सीमा में घुट-घुटकर
उसे प्राण खोते देखा है !

×

मंने इन अपनी आंखों से
सोह चक्र चलता देता है !

—श्यामविहारोक्त 'तरल'

दर्शन का जीवन से गहरा संबंध है। दर्शन का विकास मानव सस्कृति का विकास है। काव्य का इसीलिए दर्शन से संबंध है। प्राचीन साहित्य का सिंहावलोकन इसे और भी स्पष्ट कर देता है। काव्यशास्त्र में दर्शन की मान्यता भाव-पक्ष के माध्यम से हुई है। हिंदी काव्य में मध्यकालीन दर्शनों का प्रभाव सतवाणी में दिखाई देता है। लघयं और अनतोप तब भी था, किंतु उसका रूप तब दूसरा था। व्यक्ति की समस्या तब प्रधान थी। नये समाज के परिवर्तन ने व्यक्ति के साथ समाज को सामने रखा। विगत समाजों के मानसिक स्तरों का परिचय हमें काव्य द्वारा ही मिलता है। आधुनिक काल में दर्शन की व्याख्या भी बदली है। प्रभावशाली विचार मानव की मुक्ति मानने का प्रतिनिधित्व करते हैं। दर्शन और व्यक्ति का दृष्टिकोण इसीलिए बदला हुआ है। हमारी परंपरा ने ही इस विकास को जन्म दिया है। नवीन दर्शन और मानवतावाद की समस्या पुरानी परंपरा की भूमि का ही विस्तार है। अब दर्शन अपना रूप अधिक सार्वभौम कर रहा है। आत्म-परमात्म का तादात्म्य अब दूसरे रूप में होना है।

बंद की श्रृंखलें, सूत्र उपनिषदों के
फाड़कर आवेष्टन जीर्ण धर्मशास्त्रों के
मचल उठे धरती पर सकार होने को।
विरस जन की आंखों के मूंदे हुए कपाटों से
व्यक्ति के अन्तर की कंदी अनुभूति रहकर
सबल शोषकों की मुट्ठियों में अब बंदी रह न सकेगा,
निखिल चराचर की समता के गायक श्रृदियों का मंत्र-दर्शन !
अब वह पिपड़, रूप, रंग, आकार लेगा
विश्व के इस विराट वस्तु-व्यापार में।
भूमा का ऐश्वर्य न रहेगा मात्र भोग-दाता बनकर
कुछ मुट्ठी-भर सत्तावातों और धनवातों की :
न रहेगा वह मात्र बौद्धिक-आध्यात्मिक चर्चा का विषय
कुछ महलों की रसीली दावतों और सुगन्धी शय्याओं पर।
श्रृदियों के श्रुत, सत् और भूमा प्रकट होंगे अब

पतके रोटी बुनें, उन्हें ऐसी फिरकनी बना जा रो !
निदिया रो तू घाजा रो !

—राजकरावण विनारिया

यहा कवि प्रकृति को मानवीय वातावरण मे भी उतार लाता है। सोरी प्राय-
ही पलायन के सौन्दर्य को अंकित करती है। सोरु-गोत्रो मे यद्यपि सोरु जीवन प्रतिबिम्बित
होता है, जैसे दक्षिण भारत की कन्नड की एक सोरी है—भरे ! देरते ! नारियल का
व्यापारी भा गया ! वह नीचे समुद्र के किनारे से अपना जहाज लाता है इत्यादि। किंतु
इस प्रकार के गीतों मे भी एक स्वप्नित दायी-सी व्याप्त रहती है। मजदूरिन की मान-
सिक भूमि इतनी व्यापक नहीं है। उसने अपने जीवन के सभर्य को भी इस सौन्दर्य-वेला
मे एकरस कर दिया है। पलको के रोटी बुनने की वाचना वास्तव मे अनूठी है। ऐसे
चित्र मूलतः प्रकृति की परिवर्तना मे लिखे जाते हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध अपने सौखिक
जीवन से जोड़कर उन्हें भावपक्ष के अधिक समीप बनाया जाता है। इनसे पहले समूर्ण
मे मूर्त को प्रस्तुत किया गया था, और इसने उत्तरी उल्टी वात दिताई देनी है।

प्रकृति के वे चित्र जो उसे मानवीय रूप मे प्रस्तुत करते हैं, वे अभिव्यञ्जना के
क्षेत्र मे अपनी रंगीनी को अधिक प्रसार देते हैं। इसीके साथ जब किसी मत-विशेष को
भी कलात्मक रूप देकर रखा जाता है, तो मत से अधिक हम चित्र मे ही उलझते हैं :

क्षितिज-सीर से भा रही है उतरती
बढ़ाती सुनहरे चरण
कतना सीरा पर स्थर्ण का ले सकुचती
पहनकर सिदूरी घसन
सितारे गगन के छिपे दूर जाकर कहीं
गये सो निशा के मयूर स्वप्न जाकर कहीं
नहीं शेष पय पर रही अब तिमिर को घटा
घिरकने लगी पूर्ण में एक स्वर्गिक दृष्टा
भरे यह उषा का नवस भागमन है
रि जो सा रहा जागरण
अमर एवं है धाज नवयदना का भरे
सभी के हृदय हर्ष की भावना से भरे
न जायें पुण्य देस की अर्चना के
कहीं ये सलोने सुमन
उठा राधु का प्यज, बढ़ा पांव दो सब
राधा द्वार खोले विजन

“जिस तूपा पर पथ का गतिरोध चल रहा था, आज कवि उस कल्पित तूपा की जड़ हिलाना चाहता है।” (शैलेश) “पथ पर मिटनेवालों का बलिदान व्यर्थ नहीं जाता। जो राही पथ पर बलि होता है वह मजिल को समीप लाता है।” (ब्रजमोहन गुप्त)

“इधर रूप की सुंदर जुल्फें सुंदरता की आग लगाती हुई, राज-अटारी में पलंगों पर भोग-बिलासों को फँलाती हैं, दिन में जो दुनिया में धर्म और सत्ता का रास रचाते हैं, वह रात में अविचारी-व्यभिचारी दानव बन जाते हैं। इसीने सुंदरता की जुल्फों की सौम्य लेकर ही परिवर्तन का लाल सितारा आज नई आग लेकर जल उठा है।” (अचल)

“पथ भले ही थके, किन्तु यह चरण अविराम चलते रहे।” (शान्ति) “पत्थों से पत्थर बंधे हैं। नित्य नभ के आमन्त्रण आते हैं। प्राण तड़पकर रह जाते हैं। अब तो कवि पाषाणों को रगड़-रगड़कर ज्वाला उपजाकर जल मरना चाहता है।” (चिरजीत) “वह भले ही रोता-सा दीप है, किन्तु जलता तो है। उसे स्नेह नहीं मिला, इसीलिए प्रतिभा का रंग नहीं खिल पाया, फिर भी यह क्या कम है कि वह ज्योति जगाता है। वह स्वयं मिटता है, परन्तु औरों को राह दिखाता है। वह नत होने को पाप समझता है। माना कि वह तम से जीत नहीं सकता, किन्तु कम से कम उसकी आँखों में सजता तो है।” (रामकुमार चतुर्वेदी) “तुपनों की अटारी के दरवाजे बन्द करके कान मत मूदो, बाहर तूफान गरज रहा है।” (भारतभूषण अप्रवाल)

जगती के विषण्ण आँगन में, अमृतपुत्र, अभिनदन ।
 माँग रही अग्र्यमाण मनुजता है तुमसे नवजीवन ।
 प्रगटे स्वर्णशस्य धरती पर, आगत मंगलमय हो ।
 नूतन युग के नव-मानव की दिशि-दिशि में जय-जय हो ।
 नई चेतना के निर्माता, करो अमर वह सज्जन ।
 माँग रही अग्र्यमाण मनुजता है तुमसे नवजीवन ।

—आनन्दनारायण शर्मा

“कवि एक पगतल में पड़ा लघु तिनका है। अभी उसका दो दिन का नया अस्तित्व है। उसे भ्रम के झोंके भुलाते रहते हैं। जीवन का पथ सदा बदलता रहता है। परन्तु तूफानों से उसकी पुरानी प्रीति है। वह गत इतिहासों का भग्नावशेष है। परन्तु वह लघु दीपक की जलती हुई जवानी है।” (श्यामबिहारी शुक्ल ‘तरल’)

“कवि का जीवन, नव आशा-रस से विकसित होकर, प्रेम-प्रीति-परिमल से सुरभित होकर, मानव-मन का मार्गण कर रहा है।” (केदारनाथ अप्रवाल)

“अब तक काम ही काम रहा, विश्राम नहीं। पथ ही को प्रिय मत समझो, श्रेय तो घाम है। किसीकी मधुर याद, किसीका बिछोह लेकर मोह से क्यों बंधे हो।” (सुधीन्द्र) “मन का दिया ज्योति नहीं देता यदि उसमें आग नहीं जलती। दुःख के दाहो से ही हमारा

वह अरमान है। यदि मङ्गधार में नाव डूब जाए तो पतवार ही बचा है। जो अगारो पर हमकर न चल सके वह प्यार नहीं है। जो मौत को सीने से लगाकर हम सके, वही जिन्दगी है। जो इमशान में भी प्राण फँक दे, वही वरदान है।" (दुष्यंतकुमार)

✓ "कवि मिटने की सीमा-रेखा पर शुरू हुआ, उसका आरम्भ हुआ रोने में, परन्तु अन्त हुआ गीतों में।" (गिरिजाकुमार माथुर)

वह नया रास्ता पकड़ना चाहता है, ताकि पुराना क्रम ही टूट जाए

नवीन पथ ग्रहण करो !

लिलो न गीत दुःख-भरे,
न वेदना विकृत करे,

विषाद के अडिग पहाड
पर मुदूढ चरण धरो !

न एक आह भी उठे
न एक दाह भी उठे

मिले समुद्र सामने
सहास संतरण करो !

मनुष्य तुम महान हो,
अजेय शक्ति प्राण ही

डरो न क्षुद्र विघ्न से
समोद अतिक्रमण करो !

—त्रिभेन्द्र कुमार

साहस के प्रति एक अदम्य प्रीति नये कवि में हमें प्राप्त होती है।

"हर दर्द स्वयं नया राग बन जाता है। सदा ही गान आहो से फूटा करता है। जीवन मुष्काता रहता है, और जीवन की परिभाषा को नूतन बनाता है।" (राजेन्द्र सक्सेना)

एक नया दृष्टिकोण मनुष्य को नवीनता के प्रति कितना जागरूक बना सकता है, यह बात हमें स्पष्ट दिखाई देती है।

"सितार के तार अलग-अलग हैं, किन्तु तान में अनेकता नहीं है। चाहे आकाश में लाखों तारे हैं, परन्तु प्रकाश में महान एकता है। सूर्यताप और चन्द्र की शीतलता जगती के भेदों को नहीं जानते। किन्तु मनुष्य जो पृथ्वी के शासक है वे अपनी समानता को नहीं मानते। क्षुद्र भी महान का प्रतीक है जैसे बीज में वृक्ष होता है। जैसे असीम वेदना के समुद्र को मैं अपने एक बूद आमू में सम्भाल लेता हूँ।" (गौरीशंकर श्रीभा)

सारी सृष्टि का कारण और मनुष्य के दुःख के कारण दोनों को ही कवि एक स्वर से सुनता है।

ही केन्द्र से उदय होती हैं। अत्र यह वैविध्य हमारी जागरूकता का प्रमाण है।

शरद के वर्णन में ऐसी विविधता के दर्शन हमें मिलते हैं। नदी सिमट गई, तो उसमें चमक छा गई, क्योंकि विस्तार की भावना निखार नहीं लाती

सिमट गई फिर नदी, सिमटने में चमक आयी
गहन में, बदन में फिर नयी एक दमक आयी
दोप कोजागरी वाले कि फिर भावें वियोगी सब
ढोलको से उद्गाह और उमग की गमक आयी।
बादलो के चुम्बनो से खिल आयानी हरियाली
शरद की धूप में रहा-निखरकर हो गई है मतवाली
भुण्ड कोरो के अनेको कबलियाँ कसते मँडरते
भर रही है प्रान्तर में चुपचाप लजीली शेफाली।

X

साँभ, सूने नील में,
ढोले है कोजागरी का दिया।
हार का प्रतीक— 'दिया सो दिया,
भुला दिया जो किया।'
किन्तु—शरद चाँदनी का साक्ष—
यह सकेत जय का है—
प्यार जो किया सो जिया,
घषक रहा है हिया, पिया।

—महेय

गाव कही पास ही है, शायद नगले में ढोलकों की आवाज आ रही है। आयानी हरियाली बादलो के चुम्बन से खिल गई है। हरियाली का खिलना एक बड़ा सार्थक प्रयोग है, जिनमें उसकी चमक और ताजगी प्रतिबिम्बित होते हैं। 'दिया सो दिया, भुला दिया जो किया', लोकगीतों की-सी सहज कोमलता लिए हुए है। और कवि को शरद की चाँदनी एक जय का सकेत जैसी दिखाई देती है। किन्तु तूष्णी भी तो है, सो हृदय में प्यार करके अभिमान भी है, और जलन भी। प्रकृति के मन से ऐसे ही तो तारतम्य हैं। जब वह व्यक्ति-पक्ष शान्त है तब फिर लोकरजन ही सामने रहता है

दूर-दूर कनक-धूलि,
धुरों से उडाती हुई,
धातो है साँभ कजरी,
गाय-सो रँभाती हुई।

स्वर्ग और मुख का वरण करेगा। नारी से ही यह मनु का वना रक्षित है, वही आदि सृष्टि की धरित्री है।" (शिवमूर्ति मिश्र)

स्त्री और पुरुष दोनों की ओर ही कवि की दृष्टि समान रूप से जाती है। नवयुग के आदि कवि से कवि कहता है, "जन्म मरण की कथा में अमर बनता है। उसे शत-शत मरण भी नहीं मिटा सकते। चिरतन पथ की छोटे-छोटे चरण नहीं छिपा सकते।" (सुधीन्द्र) "जिस जीवन में दुःख की ज्वाला है वह सोने से कुंदन बनता है। जिसका हृदय परदुःख से कानर होता है, वह अनन्तर गीत मजोता है।" (कुमुमकुमारी सिन्हा)

मिट रही है आज मानवता स्वयं
मानो कि की हाराकिरी भगवान ने
भन्द जीवन-ज्योति की रेखा सुनहली।

—महेन्द्र भटनागर

'लेखनी ही हमारा प्यार है, धरा पट है, सिन्धु भस्मिपात्र है, हम तुच्छ से तुच्छ जन की जीवनी पर भी कहानी, काव्य, रूपक, गीत आदि लिखा करते हैं।'

(नागार्जुन)

वह अपना 'नायक बदल' रहा है।

आज की मिटती चिंता पर
जस नये युग के लिए निज रक्त निष्ठापूर्ण हो
अर्पण करो, अर्पण करो
और उसका इन्किलाबी शक्ति के नारे लिए
स्वागत करो, स्वागत करो !

—महेन्द्र भटनागर

"जो धरती की धड़कन नहीं सुन सकते, वह नम का समीन क्या सुनेंगे ! थलो की नोकों में डरकर फूलों से कोई क्या प्यार करेगा ! जो यके चरण को अपनी करुण का दुलार नहीं दे सकता, वह बढते कदमों की आधी पर अधिकार नहीं कर सकता। जो प्यार अमुन्दर को सुन्दर नहीं बना सकता, उस मरे प्यार की खातिर कोई क्या हुस-हू कर मरेगा !" (गोपालकृष्ण कौन)

"वम अन्तिम साध यह है कि हम क्रान्ति के सिपाही हैं। तब तक प्यार और मुख कहा है, जब तक धरती पर गुलामी है। सोपण का दनुज नूतना धिघाड रहा है। जब तक उमका ध्वम नहीं होगा, तब तक मुख और शानि कहा मिल सकती हैं ?" (राजेन्)

बालंभावर्ग के प्रति आवेद में आकर कवि कहता है, "तुम जग-जीवन के नव-विहान हो। तुम महाक्रान्ति के अग्निगान हो। तुम करुणा की कातरं पुकार हो। तुम दरि-द्रता की प्रलय-न्तान हो। तुम साम्यवाद के विजय-गान हो।" (सोहनलाल द्विवेदी)

वहा व्यापकता की जगह हमे समाज की तीखी गन्ध हर स्वास मे मिलती है
 है रेंभा रही बड़डे से बिट्टुडी एक गाय,
 यन भारी है, दुखते भो हं !
 आता गजनेरी सांड भटकता सडको पर, चलता मठार,
 क्या वही ददं उसके भी है ?
 जा रही किसी घर के जूठे बरतन भलकर
 बबचलन कहारी थकी हुई,
 बीका-बासन, संना-बैनी में बिता चुकी योवन के दिन
 काटनी उसे पर उमर अभी तो पकी हुई !
 बज रहे कहीं डप-ढोल-भाँक, पर बहुत दूर
 गा रही सग मदमस्त मजूरो की टोली
 कल काम-धाम करना सबको पर नींद कहीं—
 है एक बर्य में एक बार आती होली !
 इस भाँग-स्वाग से दूर, बन्द कमरे में, घिन्ता में डूबा
 दार्शनिक एकरस एकाकी
 है सोच रहा यह जीवन क्या,
 में क्या, मेरी यह आत्मा क्या ?
 सब कुछ खोजा, उत्तर न मिला,
 कुछ भी न बचा मथकर बाकी !
 वह दूर और ससार दूर, सब विशृङ्खल, सब द्याया-छल,
 हं बिट्टुड परस्पर सुबक रहीं दोनों निधन आत्मा-काया !
 रोए शृगाल, बोला उल्लू, हिल गई डाल, चोका कुत्ता
 जो भूँक उठा अब देख स्वय अपनी द्याया ।

—नरेन्द्र

नगर के एक मुहल्ले का है यह चित्र । ग्राम से अलग है इसकी घुटन । फिर भी दलित जीवन मे अपना ही उल्लास है । होली आ गई है । बहुत ही बोभीला है यह वर्णन । दार्शनिक एकाकी सोच रहा है । उसे कोई उत्तर नहीं मिला । सब कुछ कसकता है । उल्लू बोचता है, शृगाल रोते है । दृश्य कुछ बीभत्स हो उठता है, जब कुत्ता अपनी द्याया देखकर स्वय ही रो उठता है । चादनी का उल्लेख भी नहीं है, जबकि कुत्ते का अपनी द्याया होली के दिन देख पाना उसीकी और इंगित करता है ।

एक ही कवि विभिन्न परिस्थितियों मे पडकर कैसे दो चित्र देता है । नरेन्द्र कुशल बत्ताकार है । उसने अनेक नये प्रतीक दिए हैं । उसके गजनेरी सांड जैसे दितकुल

जीवन को पूर्णतम बनाना प्रत्येक युग के मनुष्य की एक साध्य कामना बनी रही है।

“यति को गति के बदले कभी नहीं चुना। फिर लहरो के उत्थान-पतन कर भी क्या सकते हैं? जिसका जीवन सघर्षों का है, उसे कूल में प्यार नहीं है। इसलिए मरुभार उसे कभी भी डरा नहीं सकी। जीवन के राही को अवरोधों पर भक्ति नहीं हो सकती।”
(राजकुमारसिंह ‘कुमार’)

यह ही है उसका नये रास्ते की ओर बढ़ना। पूर्व चिन्तन उसे ले जाकर एक नई समस्या के सामने खड़ा करता है।

ये खड़ी रूढ़ियों की ऊँची दीवारें—
जीवन देनेवाले समीर को रोकें !
जस पार कंबलाने के रह जाते हैं
अलमस्त हवा के ताजे-ताजे भोके !
कुछ यत्न करो जिससे ऊँची दीवारें
बिलरें गिरकर मिल जाएँ मैदानों में !
फिर नई जिंदगी की फसलें लहराएँ
मस्ती की हस्ती भर कर इतानों में !
तो, पुली हवा के खातिर हमको-तुमको
होगा समाज की परम्परा से लडना !
बल जोड़ सकेंगे हम इतना निश्चित है
तुम जरा धीरे से मन की पीता पढ़ना ।

—शिवकुमार

रूढ़ियों से मुक्ति का सघर्ष निरन्तर बढ़ता ही जाता है।

“प्राण का इतिहास यह है कि प्यास ही अस्तित्व है, जो कभी बुझना नहीं जानती वही प्यास होती है।” (श्रीहरि)

यह प्यास ही एक नये रूप में ‘प्रगति’ बन कर आई है।

“मृत जंजर खडहर से नवयुग की साँसें जग जाए। वीते युग के पलकड से नया मधुमास उग आए। आज शोषण की मीनार डगमगा कर गिर जाए। साम्राज्यों की दीवार लडखडा उठे। जालिम की कातिल खूनी तलवार टूट जाए। युगों के बाद कारा के द्वार टूट जाए। ध्वान्तमान प्रबर में युग का नया सवेरा जाग उठे। काले मृत्यु-प्रहर से जीवन की किरणें फूट पडे। अपना सूर्य युगों के बाद निविड तिमिर से निकल आए।”

(धनरयाम अस्थाना)

एक ओर परंपरा, एक ओर प्रगति। कवि दोनों में एक तार बाधने की चेष्टा

यह वसुन्धरा, कभी न लगती इतनी प्रियकर
लता-कुज-द्रुम लगते केवल मूक, तुच्छतर ।
यदि न विश्व की वशी में सुर का सरगम भर
छन्द बजाते समच्छवसित खग मधुर महत्तर ।

पृथ्वी की सुन्दरता बिना पक्षियों के कभी इतनी सुधर नहीं बनती, जितनी कि उनके सपर्क में लगती है । हम, जो गावो मे रहते हैं, इसका सारतत्त्व समझते हैं और इसे छायावादियों ने भी केवल सौन्दर्यप्रियता के कारण समझा था ।

वर्षा का वर्णन करते हुए कवि कहता है

बह रही वायु सर्-सर् सर्-सर्
बरसते मेघ भर्-भर् भर्-भर्
काँपते पत्र थर्-थर् थर्-थर्

तो आज सजा है घासमान
घरती पर जीवन भासमान
लघु-लघु धाराएँ धावमान
जर्मल, द्रुततर, मनहर, सुन्दर
बहुवर्ण धरा, बहुल्य धरा
हो गई नवल जन-मनोहरा

यह परम पुरातन वसुन्धरा
गतिशील धवन ज्यों जीवन-स्वर
हो गया चित्रपट पूर्ण गगन
छविरूप घर्णमघ चञ्चल धन
पल में कुञ्ज पल में कुञ्ज बन-वन
क्षण-क्षण में प्रियतर सुदरतर

तो उठे भूमि से हरितगुरु
शीतल है ग्राम-ग्राम पुर-पुर
हो छाया शीतल मानव-उर
नव सृष्टि करेगा हो तत्पर
पाकर पावस का पावन क्षण
करती स्वरूप का परिवर्तन
तन से मन से बनती नूतन
यह प्रकृति सदा नव जीवन धर

मूक-सा कराह उठा। मजागत इस विभोपिका पर भी 'कला-कला की माला' जप रहा है। तब तो मेरा मानव-तन धिक् है। यह हृदय की ज्वाला निष्फन ही दग्ध है।"

(शिवमगलर्मिह 'सुमन')

यह है समाज। इसमें कवि कब तक अन्याय देखना रह सकना है?

"जिमे तुम मेरी भून कहते हो वही चिर सचित जीवन-गान है।"

(शिववहादुरर्मिह)

इसीलिए वह सब ओर देख-शास्त्रकर अत मे अपने मन मे कहता है—“आ री व्योमकुजो की परी कल्पने। भूमि को स्वर्ग पर मत ललचा। हम तेरे स्वप्न तक नहीं उड सकते, शक्ति है तो था, यही गलका बसा।” (रामधारीर्मिह 'दिनकर')

और क्योंकि उस समय रुम का विकास मानव-विकास मे एक अद्भुत वस्तु-सा दिखाई दे रहा था, कवि ने कहा

लाल सितारा हो ध्रुवतारा

शत्रु देख हहरे।

लाल ध्वजा यह मजदूरो की

लाल ध्वजा यह मजदूरो की

लाल ध्वजा यह है शूरो की

छू सकते साम्राज्य न इसको

भीर देख भहरे।

हमारी लाल ध्वजा फहरे,

तुम्हारी लाल ध्वजा फहरे।

गडे देश मे लाल पताका

रोके बूढ बेरी का नाका

चले लाल सेना का साका .

अन्यायो का सर्वनाश हो

आज न्याय ठहरे।

—मोहनजाल दिवेदी

इसके मूल मे यह भी था कि भारतीय कवि अगरेजी शासको के रूप मे सारी अगरेज जाति से घृणा नहीं करना चाहता था। वह शासको और जनता को अलग-अलग करके देखना चाहता था। यह उसकी मानववादी परंपरा का ही परिणाम था।

“कई दिन से त्रस्त जीवन है और वेश अस्तव्यस्त। मन सतप्त है। प्राणो मे निर्धूम चिंता की चिंता जल रही है। भौन-सा प्रति रोम मेरा काप रहा है और मेरी चेतना हिम-शीत जटना मे जकडकर चेष्टा से हीन निर्जीव मौन हो गई है। ऐसी विपन्न स्थिति मे

कहता है .

सुहागिन उठो,
 चलो, यह धूप,
 हमारा रूप !
 इसीसे खून हमारा गरम,
 इसीसे बोल हमारे नरम,
 इसीसे मन में प्राण
 इसीसे गान कि जो वर्षा में गूँजेंगे,
 इसीसे कजली, कदम, हिंडोल
 इसीसे मुरज, पल्लावज, ढोल ;
 इसीसे हास, इसीसे रास,
 इसीसे धरती पर आकाश
 सुहागिन उठो,
 छोड़ लो धूप,
 निखारो प्रपना-प्रपना रूप !
 धूप पर हँसो,
 कछीटा कसो,
 खैन पर चलो समुन्नत भाल
 कांस खोदो, काटो जजात ।
 बेर के दड़े
 जला दो आगे होकर थड़े ।
 पसीने की धारा बलवली
 धरा जिससे बनती कलवती,
 महाश्रो दूधो, पूतो फलो,
 सुहागिन, चलो, खेत पर चलो !
 धरा का परम सुहाग ।
 गगन की भाग
 भाग-बबूला सहत मुखें सूरज
 खेत रहा है फाग ! !

—भवानीप्रसाद मिश्र

धूप का यह वर्णन बिलकुल नया है । सारा जीवन मूर्ख के ही कारण चल रहा है । इस धूप को छोड़ लो । इसपर हसो । बापाओ को हटा दो । यह धूप तुम्हें समझि देगी ।

मानदण्ड-युग-भेद से बदल जाने पर भी वस्तु-सादृश्य में भेद नहीं कर सकते, यों अपने अहं-कार की तृप्ति में हृद्यों की अणु-अणु की मृष्टि करनेवाले विश्वामित्रों को तो दूर ही से प्रणाम करना श्रेयस्कर होता है। हमें काव्य के स्थायी तत्त्व की प्रतिष्ठा करने के लिए अवश्य ही ऐसी भूमि चाहिए जो सादृश्यहीन हो। सूर के बाल-वर्णन, तुलसी के रामराज्य-वर्णन, कवीर के जाति-पानि-विरोधी वर्णन, कालिदास के काम-कला विभूषित वर्णन और माधवीवस्ती के जाति-वर्णन के विभेदों के एकत्व को न देखकर जो उनके रसमूल एकत्व को विभेद करके देखते हैं, वे घोघे की ही सीप कहनेवाले लोग हैं। वे छायावाद को भाषा शैली के लिए एक देवमान समझते हैं, और कुछ अधिक नहीं। प्रकृति के विषय में किसी निम्न कविता का उनके सम्मुख कुछ भी भूत्य नहीं है

मेघनाला-सी मृदित मन के लिये,
रगदाला-सी रक्षिक जन के लिये
मूक हाला-सी प्रणय की चेतना
प्राण, ज्वाला-सी हृदय की वेदना
कह सकूँगा क्या, मला न कौन हूँ ?
तुम उदार बनो सुहृद मैं मौन हूँ ।

—रघुवीर्यारी शुक्ल 'उल्ल'

किन्तु यदि इन सचाई से देखा जाए तो इसमें हमें जीवन की एक गहरी अनुभूति मिलती है। इसमें लौकिक को अलौकिक रूप में रखा गया है और मानस के अनेक संस्कार यहाँ वेदना की अनुभूति बनकर प्रकट करते हैं और दोखने में तो निराशा, परन्तु वस्तुतः दार्शनिक तत्त्व में भरकर पूछते हैं कि मनुष्य की अपनी सत्ता क्या है, कल्कि है ही क्या ?

परन्तु ऐसे चित्र नये युग में बहुत कम मिलते हैं, क्योंकि इनमें दृष्टि का प्रसार नहीं है, गहराई अवश्य है।

काव्य में इतनी क्षमता है कि वह अपने एक ही स्वर से अनेक स्वर ध्वनित कर सकता है। ऐसी ही नरेन्द्र की एक कविता है जिसमें वह वर्णन तो बसत का करता है, किन्तु नवयुग के जागरण की पूरी तस्वीर उसमें उतर आती है। और एक-एक शब्द एक-एक कोश बनता हुआ हमारे सामने खुलता है। मैं विहारी का दोहा नहीं बना रहा हूँ यहाँ, बल्कि इस प्रदेसे को देख रहा हूँ कि कितना लाघव मौजूद है, परन्तु प्रालोचक उसे देख नहीं रहे हैं। लाल पलाश आति का प्रतीक है। वह जागरण है। वह मस्कृति का राग-तत्त्व है। यह आलोक की पूजनीय सफलता है, तभी तो वह अपना जैसा बनाने की क्षमता अपने भीतर रखती है। प्रकृति का 'लाल लाल है पलाश' वाला चित्र इस रूप में कैसा लगता है

उसके अस्तित्व का विकिरण है। वह चिंतन-मात्र से तो शरीर-अंश •
 उस जगह घर्म की गाठ दिखाई देती है। इसीलिए वह क्षण-भर गभीर व
 सोचता है

“दिन के मीठे घूटो को जो वचन पीता चलता है, वह क्या किमी •
 तौर पर नहीं पहुँच जाना ? जो सरिता बहती ही रहती है, वह सागर में हिल-मिलकर हसती
 है। जो चलता ही रहता है, मजिल उममें बहुत दूर नहीं रहती। न तो आगत का अंत है,
 न पतन की सीमा है। युग-पथ प्रत्येक चरण पर मृत्यु की घमकी दे रहा है। फिर भी एंडी
 जमती जाती है और पजे आगे बढ़ने जाते हैं। जो चढ़ते-चढ़ते रुक जाता है, उसे विश्राम
 नहीं समझना चाहिए। प्रत्येक चरण इस जीवन का आगे, आगे ही चलता है।”

(उदयशंकर भट्ट)

यही चिंतन जब अपने वैयक्तिक मघर्ष के पक्ष को उभार लाता है तब उसमें एक
 लीभ-सी आ जाती है। व्यापक रूप से वह सुख को देखता है। सुख वैयक्तिक-सा ही दिखाई
 देता है। उसकी लीभ बढ़ती है। नया चिंतन उसे चैन नहीं लेने देता। वह कहता है :

“मैं अपने जीवन में कैसे कहूँ कि अब इसका गति से कोई परिचय शेष नहीं
 है। इस मन को मैं कैसे भावुक कहूँ, इसे तो जड़ता में भी कोई क्लेश नहीं है। कमजोरी
 के गीत बनाकर क्या गाना ! वह कविता ही क्या जिसमें नई उठान नहीं हो। हाय मेरे
 प्राण बुझ गए, कवि भी मर गया। अब मुझे अपने पर कोई अभिमान नहीं है।”

(भारतभूषण अग्रवाल)

परंतु यह स्वर जब रूप बदलता है तो सात्वना मिलती है

“यह जड़ती बहुत भोली है, इसमें स्नेह का चपक छलक रहा है। जीवन प्रेम है,
 प्रेम जीवन है।” (कोमलसिंह सोलंकी)

प्रेम ! प्रेम की उदात्तता सिद्ध करके, प्रेम को ही व्यापक बनाया जाता है।
 क्योंकि उसे अधिक महत्त्व दिया जाता है

यह सुधा है, पी रहा हूँ
 मैं अमर बन जा रहा हूँ
 जो मुझे दुःख दे रहा हूँ
 वह हृदय की अप्सरा है,
 कौन कहता दुःख बुरा है।

शांत हूँ मैं देख जीवन
 शांत हूँ मैं सुन मरण-क्षण
 भादि जिसका, अन्त उसका
 महत्सिद्ध परम्परा है।

और शीश पर बांधे फेटा
स्वेद-धूँड टपटप कर गिरती
डोंगी खाती लहर-चपेटा
काले स्याह हस्त-युग धेरे
यहाँ निरंतर डाँड हिलाते
थक-थक, रुक-रुक कभी बीच में
'साथी' धी' 'में' दोनों गाते

—रत्नम

'साथी' का प्रायः प्रयोग गुद्ध की ललकार के लिए किया जाता है। यहाँ वह सग मेहनत करनेवाले से स्नेह के लिए आया है। अपने यहाँ ऐसी रचनाएँ सबमुच कम हैं। किन्तु भविष्य में वे और और आएँगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। काले हाथों का डाँड हिलाना न केवल चित्रात्मक है, न केवल उसमें थम की ध्वनि है, वरन् उसमें ही जीवन का वह मनथक विश्वास जो कि इसकी सारी शक्ति है। दरिद्रता रोकनेवाली घोर है, परन्तु यहाँ लहर-चपेटा खाकर भी जीवन की मौज लेने निकली हुई डोंगी रुकती नहीं। थक भी जाए, रुक-रुककर भी चले, तब भी गीत नहीं रुकता, वह बीच के व्यवधानों को पार करने का सबल दिए चलता है। और छोटा सा साथी जीवन के कोमल स्वप्नों की याद करता है कि यहाँ से 'पिककूजन' दूर है। कमलों के वन का अभाव अन्त में जाकर पूरा हो जाता है।

केसरी ने अपने 'चकोरी' में एक बहुत ही स्याथी रचना साहित्य को दी है।

कवि-सत्य के रूप में यह प्रवाद चला आ रहा है कि चकोरी एक ऐसी चिडिया है जो चन्द्रमा को देखनी रहती है और उसके अगार चुगती है। हिम से अगार। चकोरी कहती है कि मैं तुम्हारे हिम में से अगारे चुगती हूँ, चुगती हूँ चिनगारी कि प्राणों में कभी न बुझनेवाली प्यास जल उठे। कँसी विभोर सर्जना है। इसमें कितनी शक्ति और कितना प्राण है! नयन हास पीते हैं, मुख अग्नि!

चुगती चिनगारी कि जले प्राणों में ऐसी प्यास पिया
युग-युग बुझे न, दूग पीवे शाश्वत तेरा हिम-हास पिया
हिय पीवे अगार नयन में चुएँ अमिय-रसधार पिया
होइ अग-पानी की रे कहता जग जिसको प्यार किया
जाना प्राप्य-अप्राप्य, न जाना तुमको केवल एक पिया
घाह! न लूँगी में त्रिवेक देकर अपनी यह टैक पिया
भूम-भूस मूली पर जोते-जोईसा होना सीखा
एकव्रता में सती-सुहागिन चिता-सेज सोना सीखा

पय मुक्ति-साधन भ्रम-भार ।
गति ही विजय है, अगति हार ।

—सम्भूनाथ सिंह

मुक्ति उसका केन्द्र है । साधना से ही उसका लभाव है ।

“भरे मन ! कष्ट-गहन को सहन करो । यह मत समझो कि दुःख में दुःख की कथा का ही गौरव है । जब तक प्रतिकार न हो, तब तक सहते रहो । जब तक यह बोध न हो कि मुझमें भी क्रोध है, और मैं प्रतिशोध लूंगा, तब तक कष्ट सहन करो ।”

(रघुवीरसहाय)

दुःख का निरावरण ही उसका मुख्य उद्देश्य है, चाहे उसकी अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हो ।

“अपने भाग्य को दयामय मसीहा बनाकर एक बार एक वन में हाथ उठाकर दुखी थोला उठा । वही एक चट्टान पर सिर पटककर पपीहा अपने हृदय के रक्त से लिख गया सफल यात्री को जगत् के सफर में प्रणय ही तरी है, प्रलय ही किनारा है ।— एक दिन नदी के किनारे एक विकल प्रेमी अपनी ज्योतिवाला के बारे में सोचता खड़ा था कि घड़ी एक में एक ट्रेन उधर से निकली, जिसने तिमिर चीरकर लौ-उजाला फेंका । बड़े मुग्ध स्वर से ट्रेन ने कहा ‘मुझे ससार में आदमी ने सवार है ।’”

(शिववहादुरसिंह)

मनुष्य सबपर छा गया है । इसीलिए स्वत ही कवि को अपनी सारी परिभाषा बदलने को विवश होना पड़ा है । वह पुरानी चीजों से बाहर निकल आना चाहता है ।

“नशीली आल, अघर कोमल, अलकें सौंदर्य की वासी निशानी वन चुके है । आज युग को नूतन इतिहास, शब्द, शैली, भावना, विश्वास, सब कुछ नूतन चाहिए ।”

(खुशदिल)

इस तरह वह अतीत से प्रेरणा तो लेता है, किन्तु उसका अनुकरण नहीं करता । परन्तु यह एक आवेश है, या है बौद्धिक चिंतन । अब वह शरीर-धर्म को प्रकृत मानकर उसे अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहता । चाहता है ऊपर उठना और प्रकृत को प्रकृति के सामने रखकर केवल साध्य न मानकर उसे साधना-मात्र बनाना चाहता है ।

हां देख शूको को, काको को, हत्तों को
नभ की अनन्तता से नित स्पर्धा करते
क्या कभी सोचते हो तुम अपने मन में
हम भी क्यों नहीं उड़ान हृदय में भरते ?

(४) व्यक्तिगत वासना अपने स्वरूप में ही प्रायः प्रकट हुई है।

(५) भाषा की दृष्टि से सहज को ही अधिकतर अपनाया गया है। पदावली प्रायः ही कोमलतम बनाने का प्रयास मिलता है।

(६) नये क्षेत्र में नवीनता का ही लाघव नहीं है, उसका राग-तत्त्व स्थायी माना को लेकर ही चलता है।

अतः मे इस विषय को हम एक और उद्धरण देकर समाप्त करते हैं, जिसमें कमनीयता और गति का छद्म बहुत ही सम्पत्क मनुष्य देता है

वसन्त के चपल चरण !

पिकी पुकारती रही पुकारते घरा-गगन
मगर कहीं दके नहीं वसन्त के चपल चरण !
असंख्य काँपते नयन लिए विपिन हुआ विकल
असंख्य बाहु हैं विकल कि प्राण हैं रहे मचल
असंख्य कठ खोलकर कुह-कुह पुकारती
विधोषिनी वसन्त की, दिगन्त को निहारती
विधोष का अन्त स्वयं विकल हुआ निदाघ बन,
मगर कहीं दके नहीं वसन्त के चपल चरण !

—रामदयाल शण्डेय

यह है वसन्त की महापति। मैं तो कहूँगा कि नये वसन्त की गति है। 'चपल पग शीपशिखा-से धर गृह मग बन में सुलगा वसन्त,' की परंपरा और भी सुंदर चित्र साई है। इस कविता में केवल कोमलता ही नहीं, अंज भी है और इसीलिए इसमें जो स्फुरण-शक्ति है, वह बहुत ही आकर्षक है।

यह सत्य है कि छायावादी कवियों के बाद किसी एक कवि ने अभी उतना महत्त्व नहीं पाया है, जितने की आशा थी, किंतु मैं ममभत्ता हूँ इसका एक कारण यह भी है कि बाद के कवियों को ठीक से पढ़ा भी नहीं गया है। साहित्य में आलोचना का क्षेत्र इतना विनष्ट हो गया है कि उसमें अभी ऐसी आशा तभी होगी जब लोक में और अधिक शिक्षा फैलेगी और कवि तथा पाठक का सीधा संपर्क स्थापित होगा।

हंस-हंस हृदय-वधिर से जग के कालेपन को धोता हूँ मैं
 स्वर्ण-कुसुम फूटेंगे, बलि के बोज मधुर नित बीता हूँ मैं
 तुम वसन्त ली चिर मगल का मैं पतभार लिए जाता हूँ
 जीवन के कण-कण को मैं ही जीवन उधार दिए जाता हूँ ।
 चिनगारी देने आया था—इनको मुट्ठी-भर चिनगारी
 एक बार बस जल उठने को अब आई है इनकी बारी
 तब तक अचल मानवता का मैं सुकुमार लिए जाता हूँ ।
 दुबंहा भार लिए कघो पर पय को पार किए जाता हूँ
 पुतली में तस्वीर बसी जो उसको देख लिए जाता हूँ ।

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

सुन्दर के प्रति अनुरक्ति आवेश के क्षण में कही अधिक हो जाती है । जो देता है वह मूल्य को बहुत बढ़ा भी देता है

“मरने से डरनेवाले को ही मृत्यु द्वार पर खड़ी होकर डराती है । मरनेवाले को अमरता जयमाला पहना जानी है । स्वार्थ-विहित भयभीत हृदय में अविनाशी का चास नहीं होता । जो भय की मकड़ों के जाने को तोड़ चुका हो, वही जीवित है । मरने से डरनेवाले को ही मौत निगल-उगलकर खा रही है ।” (नरेन्द्र)

यो मृत्युञ्जय होने का यह स्वर विक्रम का ही स्वर है, व्यक्तित्व को बड़ा करने का ही माध्यम है, उपदेश-मात्र नहीं है । तभी कवि कहता है

प्रबल पवन से न डर बटोही
 दिया जलता हुआ घना चल ।

तिमिर न होता अगर जगत में, प्रकाश का कुट्टन मोल होता
 अगर उदासी हुई न होती, सुहास का कुट्टन मोल होता
 बता रही हूँ यही घटाएँ कि लोचनो को सनीर कर ले
 सिखा रही हूँ यही बिजलियाँ कि मुस्कराता हुआ घना चल ।

अगर यकावट हुई न होती बिराम की बयो घड़ी सुहाती ?
 अगर कठिन यदि हुई न होती कभी न मज्जित हृदय सुभाती !
 बता रहे हूँ यही सितारे—'अगर न मज्जित मिले न घबरा !'
 सिखा रही हूँ यही हिलोरें कि पग बढाना हुआ चला चल ।

अगर गरल ही हुआ न होता, सुषा जगत में किसे सुहाती ?
 अगर बिरह ही हुआ न होता, घड़ी मिलन को न पाद आती ।
 बता रहा है यही पपोहा कि ध्यास में भी बड़ा भडा है
 सिखा रहा है यही मधुपरस—'तूया बुझाता हुआ घना चल

. पाता
 .ला बना है

प्रस्तुत किया जा रहा है।

कवि का व्यक्तित्व समाज में अपने भी सुख-दुःख लिए रहता है। जब वह उन्हें महत्व नहीं देता तब हम उसे किसी बड़े रूप की ओर बढते हुए देखते हैं। वह कहता है

रखत से खींचा गया यह
चित्र तुमको सोंपता हूँ।

×

कर न पाया दूर
इसको एक भी क्षण के लिए हूँ,
एक पल भी सह न पाया
मैं उदासी की भक्तक,
जो कभी इसपर आ गई हे !
तब यही चाहा कि
अपने प्राण की सजीवनी को घोलकर
इस चित्र को प्रत्येक नम में फूँक दूँ मैं।
जब कि आंधी का भयानक दैत्य
अपने बज्रपग धर जगमगाती भूमि पर उन्मत्त जैसा
ध्वंस का गायन सुनाता
प्रलय बोणा की मिला लय
सदल धारासार वर्षा में किलककर
तड़ित जैसे दांत धिस निश्चित होकर धूमता था
तब समेटे बांह में इस चित्र को भंने सदा ही
शुचि हृदय के स्पदनो के बीच में रक्षित किया है।

—राजेन्द्र यादव

वह समाज की कथा को एक भी क्षण के लिए अपने से दूर नहीं कर पाता। वह एक मृत व्यवस्था में जीवित श्वास फूँकर उभरे फिर से सन्नद्ध बना देना चाहता है। आंधी का दैत्य शोषण का प्रतीक है। तड़ित जैसे दांतों का घिसना अच्छा चित्र है। जीवन के इस चित्र को बरिब हर तरह से बचा लेना चाहता है। आंधी और पानी की उभे इतनी चिंता नहीं है, क्योंकि मन में कही न कही वह यह अनुभव करता है कि यह सफट स्थायी नहीं है। ये आते हैं। चले जाते हैं। किन्तु यह जो चित्र है, यह बहुत महत्वपूर्ण है। यही तो सभ्यता और ससृति है। यदि यही नष्ट हो गया तो उसके पास वाद में बच ही क्या जाएगा ?

कवि का मन अथ पुराने धधनों को छोड़ रहा है। वह पुरानी स्वार्थपरक या आत्म-

लेकिन आज उसका दर्प है विच्छिन्न, प्रवणत शोभा,
जल पर तैरते जलयान के धे अनगिनत लघु खण्ड
जैसे कर रहे हो महत्तम अस्तित्व पर
छिपकर भयकर व्यंग ।

×

आज पहली बार शायद ज़िदगी में कर रहा महसूस मैं—
कुछ खंगलियाँ मुझपर निरतर उठ रही हैं ।
मैं नहीं समझा कभी मेरी महत्ता का कहीं अस्तित्व भी है ।
किंतु दुनिया की नजर में आज मेरा धपे,
मेरे अहम् का विस्फोट
मेरी रागिनी की शक्ति बनकर
एक जलती चुनौती दे रहा है ।

—धनरथाम अस्थाना

व्यक्ति का स्वाभिमान भी आज स्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि उसे तो घोट देने की ओर ही प्रयत्न हो रहा है । आत्मा में हीनत्व की भावना भी अपनी कचोट के गर्व का ही परिणाम है । किन्तु कवि-हृदय की कामना इस प्रकार है

“ कवि की वाणी अमृतमय हो जाए । वह मृतको में नव जीवन भर दे । मन में सुन्दर इच्छाएँ रखकर मानव सुख से निर्भय विचरण करे ।

“ चिर अधियारे पथ को पार करके उजियारा पथ मिले । तन, मन, जग और जीवन मंगलमय हो जाए । गुण की प्रतिनिधि कल्याणी कवि की नववाणी धन्य हो । सब उसकी जय-जय गाए । ” (तारा पाण्डे)

यह एक पल का चिन्तन है या मही कवि के व्यक्तित्व की समग्रता है ? मैं समझता हूँ कि जीवन में अनेक पक्ष होने के कारण अनुभूति समय-समय पर विभिन्न रूप से अपने को व्यक्त करती है । कभी-कभी घटना-विशेष से प्रभावित हो जाने के कारण हमें दृष्टिकोण में एक प्रकार की अति भी दिखाई दे जाती है । ऐसी रचनाओं में हमें वैयक्तिकता के अतिरिक्त लोक-प्रभाव की ऐतिहासिक घटना भी देखनी चाहिए । कवि अपने को अभावों से ग्रस्त पाता है तो वह अपने को अलगाव के नाम पर विद्रोह करता हुआ प्रकट करता है ।

तुम्हें चाहिए प्रेम, प्रेम से मेरा क्या नाता ।

तुम सुख के सर्वस्व, और मैं दुःख का निर्माता ।

कल प्रभात होते चल दूँगा, अलख गीत गाता ।

मैं अपने पथ के कण-कण में अपनापन पाता ।

—श्यामविहारी शुक्ल 'तरल'

पय का यही अभिमान कर ले ।" (कचन)

पय का अभिमान क्यों ? क्योंकि अकिंचन बनकर जीवित रहने में कवि को कुछ मर्यादा दिखाई नहीं देती । हम जीवित मानव को देखते हैं ।

"हमी अकेले नहीं, सारी सृष्टि यहा तपा करती है । एक-दो बूद नहीं, सावन-भादो के जलघर उमडने हैं । जब तक बूद-बूद रवि की ज्वाला पर अपना जीवन तौल रही है तब तक तो सावन-घन ऊमर को उर्वर करने से चूक नहीं सकते ।" (शिवमङ्गलसिंह 'मुमन')

पय होना चाहिए । उसके बिना लक्ष्य भी क्या कर सकता है । कवि कहता है -

पय की पहचान यदि पय को न हो

तो बिचारा सक्ष्य आखिर क्या करे ।

भूल-शूलो का बिछा यदि जाल हो

तो चरण का वक्ष आखिर क्या करे ?

हाथ में यदि तोडने का बल न हो

भाग्य का लघु वक्ष आखिर क्या करे ।

हो हृदय में घोर तम लिपटा हुआ

तो उजेला पक्ष आखिर क्या करे ?

—शिवशंकर मिश्र

विश्वास ही सारे सत्य का आधार है । उसके बिना कुछ भी नहीं है, क्योंकि दृष्टि-कोण उसपर ही तो आधारित है । मनुष्य कौन है । वह तं बहुत व्यापक हो गया है । दर्द की बजह से उसकी सना बहुत ही सार्वभौम और सार्वकालिक हो गई है ।

"सोने में तीनों लोको की पीर लिए हू । आखो में सावन-भादो की तस्वीर लिए हुए हू । मैं कवि हू, मानव-संस्कृति का निर्माता हू । मैं अपनी वाणी में मुर्दों में प्राण जगाता हू । ब्रह्मा तो बस एक दिवस ही सृष्टि बनाता है । परन्तु मैं नित्य नया सभार बनाया करता हू । दुनिया से मोन जीत गई, लेकिन कवि में नहीं । कवि तो मर जाता है परन्तु कविता कभी नहीं मर पाती । दुनियावालो ! तुम कवि का सम्मान खरोदोगे ? आभू दे-देकर क्या मीठे गान खरोदोगे ? ओ कुर्सी के हैवान दीवानो ! क्या तुम चाद्री के टुकड़ो पर ईमान खरोद लोगे ? मैं उन मतिमद मत्ताधारियों पर हमला हू जिन्हें नादिरशाही प्रति-यधो पर विश्वास है । शायद वे नहीं जानते कि छत्रसाल के कधो पर ही भूषण की डोली उठती थी ।" (रामकुमार चनुबंदी)

कवि का गौरव अपनी चेतना को ही नहीं, सामाजिक परिस्थित को भी उठाना चाहता है । इसके लिए वह बदला देने को भी तैयार है, "ग्राज इतना तप कि पत्थर पिघल जाए । ज्योति तम को भेद दे, किरणें निकल आए । अद मरण का प्यार भी विफल क्यों जाए ? साधना ही मिट्टियों में बदल जाए ।" (मुमिचा कुमारी मिन्हा)

अपनी सीमा में घुट-घुटकर
उसे प्राण लोते देता है ।

×

मैंने इन अपनी आँखों से
लौह चक्र चलता देता है ।

—श्यामविहारोशुक्ल 'तरल'

दर्शन का जीवन से गहरा संबंध है । दर्शन का विकास मानव सस्कृति का विकास है । काव्य का इसीलिए दर्शन से संबंध है । प्राचीन साहित्य का सिंहावलोकन इसे और भी स्पष्ट कर देता है । काव्यशास्त्र में दर्शन की मान्यता भाव-पक्ष के माध्यम से हुई है । हिंदी काव्य में मध्यकालीन दर्शनों का प्रभाव सतवाणी में दिखाई देता है । सधर्म और अनतोष तब भी था, किंतु उसका रूप तब दूसरा था । व्यक्ति की समस्या तब प्रधान थी । नये समाज के परिवर्तन ने व्यक्ति के साथ समाज को सामने रखा । विगत समाजों के मानसिक स्तरों का परिचय हमें काव्य द्वारा ही मिलता है । आधुनिक काल में दर्शन की व्याख्या भी बदली है । प्रभावशाली विचार मानव की मुक्ति आगने का प्रतिनिधित्व करते हैं । दर्शन और व्यक्ति का दृष्टिकोण इसीलिए बदला हुआ है । हमारी परंपरा में ही इस विकास को जन्म दिया है । नवीन दर्शन और मानवतावाद की समस्या पुरानी परंपरा की भूमि का ही विस्तार है । अब दर्शन अपना रूप अधिक सावैभौम कर रहा है । आत्म-परमात्म का तादात्म्य अब दूसरे रूप में होता है ।

बंद की ऋचाएँ, सूत्र उपनिषदों के
फाड़कर आवेष्टन जीर्ण धर्मशास्त्रों के
मचल उठे धरती पर साकार होने को ।
विरस जन की आँखों के मुँदे हुए कपाटों से
व्यक्ति के अन्तर की कंदी अनुभूति रहकर
सबल शोषकों की मुट्ठियों में अब बंदी रह न सकेगा,
निखिल चराचर की समता के गायक ऋषियों का मंत्र-दर्शन ।
अब वह पिण्ड, रूप, रंग, आकार लेगा
विश्व के इस विराट वस्तु-व्यापार में ।
भूमा का ऐश्वर्य न रहेगा मात्र भोग-दासी बनकर
कुछ मुट्ठी-भर सत्तावातों और धनवानों की :
न रहेगा वह मात्र बौद्धिक-आध्यात्मिक चर्चा का विषय
कुछ महलों की रसीली दावतों और सुगन्धी शय्याओं पर ।
ऋषियों के ऋत, सत् और भूमा प्रकट होंगे अब

लुठित मस्कृति को अपनी पद-निर्माण चाहिए। जीवन बिखर भी रहा है और निखर भी रहा है। एक को प्राण और दूसरे को प्राण देना है। जीने को यह लोक बना है और मरने को परलोक। तुम्हें और कितना प्रमाण चाहिए कि तुम्हारा इतिहास कल्पित है।”

(उदयशंकर भट्ट)

वह तो नया दे रहा है सब कुछ। उसमें कोई प्रश्न कर बैठे तो कवि उसे कैसे स्वीकार कर सकता है। क्योंकि सत्य ही पराजय का मूल स्रोत है।

इसीसे कवि मानता है

“सुनो! मृत्यु का अवगुण्ठन सुलने से पहले ही जीवन का अभिमान शक्ति करने-वाला है। श्रावितो का रक्त एक दिन रग दिखाएगा। सब पापों के दुर्गम दुर्ग बिखर जाएंगे। सभी विरोधाभास एक दिन टल जाएंगे। यह जीवन का विश्वास टलनेवाला नहीं है।” (कुमार)

विश्वास भी कितनी बड़ी चीज है। यह किसके अवर्गत आ सकता है। यह प्रेम के भीतर की बात है

श्राज तो पतवार है, मझधार है, तट का तकाजा।
फूल जीवन का चंदा कल श्रवणा में भी कहेगा।
श्राज भी तो मोत भिक्षा को खड़ी बाधन पसारे
साँस दे लूँ, कल मदद की याचना में भी कहेगा।
बंद की हृद भी हुई क्या, अगह भरता हूँ अभी तो
ले शपथ इनकार की मैं चाह करता हूँ अभी तो
भाँक जातों जब नपन से प्राण को दुनिया हर्षासी
श्रीर जीने के लिए तो बार मरता हूँ अभी तो
श्राज तो इस धूल से है हर कदम पर हार मेरी
जीत लूँ तो स्वर्ग की कल कामना में भी कहेगा।

—इमरुमार तिवारी

प्रेम ही संवेदना का आधार है। वही स्वतंत्रता चाहता है, “मानव वही है जो सिर्फ मुक्ति में ही जीना जानता है। जो देव के लिए प्राण देना जानता है, जो मानव-धर्म-मात्र को ही मानता है, वही मानव है।” (तेजनाथरायण काक)

देश तो केवल एक अभिव्यक्ति है। उस धाण की मर्यादा है। अन्यथा वहाँ तो और भी व्यापकता है

“सामो में साधो की बरवाद कहानी कब तक पीडा का तोल करेगी? कब तक मिट्टी जवानी सामो पर मजबूर अपनी ही सास लिए चलनी रहेगी? यदि तुमने प्राणों का विश्वास तोड़ दिया तो वह जिंदगी में ही उठ जाएगा। सच, सब युभमे जो मुझको गानो

“जिस तृषा पर पथ का गतिरोध पल रहा था, आज कवि उस कल्पित तृषा की जड़ हिलाना चाहता है।” (सैलेस) “पथ पर मिटनेवालो का बलिदान व्यर्थ नहीं जाता। जो राही पथ पर बलि होता है वह मञ्जिल को समीप लाता है।” (ब्रजमोहन गुप्त)

“इधर रूप की सुदर जुल्फें सुदरता की आग लगाती हुई, राज-अटारी में पलगो पर भोग-विलासों को फेंलाती हैं, दिन में जो दुनिया में धर्म और सत्ता का रास रचाते हैं, वह रात में अविचारी-व्यभिचारी दानव बन जाते हैं। इसीमें सुदरता की जुल्फों की सौगंध लेकर ही परिवर्तन का लाल सितारा आज नई आग लेकर जल उठा है।” (अचल)

“पथ भले ही थके, किन्तु यह चरण अचिराम चलते रहे।” (शान्ति) “पत्थों से पत्थर बंधे हैं। नित्य नभ के आगन्धर्व घाते हैं। प्राण तडपकर रह जाते हैं। अब तो कवि पाषाणों को रगड़-रगड़कर ज्वाला उपजाकर जल मरना चाहता है।” (चिरजीत) “वह भले ही रोता-सा दीप है, किन्तु जलता तो है। उसे स्नेह नहीं मिला, इसीलिए प्रतिभा का रंग नहीं खिल पाया, फिर भी यह क्या कम है कि वह ज्योति जगाता है। वह स्वयं मिटता है, परन्तु औरों को राह दिखाता है। वह नत होने को पाप समझता है। माना कि वह तम से जीत नहीं सकता, किन्तु कम से कम उसकी आगों में जलता तो है।” (रामकुमार चतुर्वेदी) “गुप्तों की अटारी के दरवाजे बन्द करके कान मत मूदो, बाहर तूफान गरज रहा है।” (भारतभूषण अग्रवाल)

जगती के विषण्ण आँगन में, अमृतपुत्र, अभिनदन ।
 माँग रही अग्रिमाण मनुजता है तुमसे नवजीवन ।
 प्रगटे स्वर्णशस्य धरती पर, आगत मंगलमय हो ।
 मूलन युग के नव-मानव की दिशि-दिशि में जय-जय हो ।
 नई चेतना के निर्माता, करो अमर वह सज्जन ।
 माँग रही अग्रिमाण मनुजता है तुमसे नवजीवन ।

—आनन्दनारायण शर्मा

“कवि एक पगतल में पड़ा लघु तिनका है। अभी उसका दो दिन का नया अस्तित्व है। उसे भ्रमों के भोंके भुलाते रहते हैं। जीवन का पथ सदा बदलता रहता है। परन्तु तूफानों से उसकी पुरानी प्रीति है। वह गल इतिहासों का भग्नावशेष है। परन्तु वह लघु दीपक की जलती हुई जवानी है।” (श्यामबिहारी शुक्ल ‘तरल’)

“कवि का जीवन, नव भाशा-रस से विकसित होकर, प्रेम-प्रीति-परिमल से सु-भित होकर, मानव-मन का प्रतिगन कर रहा है।” (केदारनाथ अग्रवाल)

“अब तक काम ही काम रहा, विश्राम नहीं। पथ ही को प्रेय मत समझो, प्रेय तो पाम है। किसीकी मधुर याद, किसीका बिछोह लेकर मोहते नवो बंधे हो।” (सुधीन्द्र)
 “मन का दिया ज्योति नहीं देता यदि उसमें आग नहीं जलती। दुःख के दाहों से ही हमारा

आदमी को गफलतो की नींद से जैसे जगा दें
 प्राण मेरी
 बुरा मत मानो
 कि झूठा है तुम्हारा प्यार—

—शोषीदृश्य गोरेरा

यह है वास्तविक प्यार। वह केवल व्यक्तिपक्षी नहीं है। वो धर्म और रति के मिलन में 'भावबोध' का जन्म होता है।

“जो पीड़ितों में एक्य का मंचार कर रही है, ये तुम्हारे प्यार की कड़िया अमर होगी।” (रामकुमार चतुर्वेदी)

इसीलिए कवि अत्र प्यार की परिभाषा बदल रहा है। मनुष्य का स्वभाव है एकरसता से अपने मन को मिट्ट कराना, जैसे धातु या पारे को मिट्ट किया जाता है। उसके द्वारा मनुष्य व्यक्ति, समाज और चराचर का पहले मन में स्पष्टीकरण करके एक सामग्रस्य और तादात्म्य बंधता है। उसके बिना उसे सब कुछ सूना-सूना-मा लगता है। वह जैसे दूसरो का न्याय्य नहीं बना सकता।

इतिहास का विशाल विगत रूप देखकर वह हार नहीं मानता, नया आह्वान देता है

“मदियों में मरघट की लपटें जग में उठली आई हैं, अब मरघट को मधुवन के गीत बुनाने हैं।” (वलवीर रत्न)

मधुवन के गीत मरघट को कभी नहीं बुना पाए थे। पहले मधुवन ही मरघट में जाकर सोया करते थे। यह है नये काव्य का स्वर। वह कहता है

निरावृत सत्य का तुफान आता है
 तरंगों के चरण धामे
 गगन की देह ढलती है
 तडित् की पतलियों में
 पिस घरित्री टूट गलती है,
 दिशा के असक सागर में
 भुजगो-से तडपते हैं
 कि तम का दंत्य चढ घंठा
 सृजन के अन्त के क्षण में
 झुकी आलोक-माला पर।

—भारतभूषण अग्रवाल

इसीलिए वह नई उपमाएँ ढालना है और इसमें वह चमत्कार पंदा कर देता है।

वह अरमान है। यदि मङ्गल में नाव डूब जाए तो पतवार ही क्या है। जो अगारो पर हमकर न चल सके वह प्यार नहीं है। जो मौन को सीने से लगाकर हम सके, वही जिन्दगी है। जो इमशान में भी प्राण फँक दे, वही वरदान है।" (दुष्यतकुमार)

✓ "कवि मिटने की सीमा-रेखा पर शुरू हुआ, उसका आरम्भ हुआ रोने में, परन्तु अन्त हुआ गीतों में।" (गिरिजाकुमार माथुर)

वह नया रास्ता पकटना चाहता है, ताकि पुराना ऋण ही टूट जाए

नवीन पथ ग्रहण करो !

लिखो न गीत दुःख-भरे,

न वेदना विकल करे,

विषाद के अडिग पहाड

पर मुट्ट चरण धरो !

न एक आह भी उठे

न एक श्वा भी उठे

मिले समुद्र सामने

सहास संतरण करो !

मनुष्य तुम महान हो,

अजेय शक्ति प्राण ही

डरो न क्षुद्र विघ्न से

समोच्च अतिक्रमण करो !

—जिनेन्द्र कुमार

साहस के प्रति एक अदम्य प्रीति नये कवि में हमें प्राप्त होती है।

"हर दर्द स्वयं नया राग बन जाता है। सदा ही गान आहो से फूटा करता है। जीवन मुक्ताता रहता है, और जीवन की परिभाषा को नूतन बनाता है।" (राजेन्द्र सक्सेना)

एक नया दृष्टिकोण मनुष्य को नवीनता के प्रति कितना जागरूक बना सकता है, यह बात हमें स्पष्ट दिखाई देती है।

"सितार के तार अलग-अलग हैं, किन्तु तान में अनेकता नहीं है। चाहे आकाश में लाखों तारे हैं, परन्तु प्रकाश में महान एकता है। सूर्यताप और चन्द्र की शीतलता जगती के भेदों को नहीं जानते। किन्तु मनुष्य जो पृथ्वी के शासक है वे अपनी समानता को नहीं मानते। क्षुद्र भी महान का प्रतीक है जैसे बीज में वृक्ष होता है। जैसे असीम वेदना के समुद्र को मैं अपने एक बूद आमू में सम्भाल लेता हूँ।" (गौरीशंकर ओभा)

सारी सृष्टि का कारण और मनुष्य के दुःख के कारण दोनों को ही कवि एक स्वर से सुनता है।

जिसकी महलों की दीवारें
 उसी खून से सती पड़ी हैं।
 जहाँ जमी महफिल के तालों
 पर स्वप्निल मादकता तिरती
 एक अंग की अँगुलाई पर
 बोभिल ग्राँथें जहाँ थिरकतीं
 इसी महल के तले लडा
 दम तोड़ रहा इन्सान भूल से,
 पर्यर भी देगा जवाब,
 विप्लव का विगुल बजेगा साथी।

—मृगाल

विप्लव ! इसका उत्तर है विप्लव ! एकदम की भकभोर जो सब कुछ उलट-पुलट दे। पुराने को उखाड़ दे। अपने पौरुष का भीम पराक्रम प्रतिध्वनित कर दे। नई शक्ति जगा दे। वह कहता है

“कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ कि जिसमें उथल-पुथल मच जाए। एक हिलोर उधर से आए, एक हिलोर उधर से आए, सर्वनाश छा जाए ! आग बरसने लगे। नभ का वक्ष फट जाए, नारे टूक-टूक हो जाए।” (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')

और अब हम देखेंगे कि इस आह्वान को सुनकर नई चेतना उस विध्वंस से नई मूर्ष्टि की किस प्रकार कल्पना करती है।

स्वर्ग और मुख का वरण करो। नारी से ही यह मनु का वश रक्षित है, वही आदि सृष्टि की धरित्री है।" (शिवमूर्ति मिश्र)

स्त्री और पुरुष दोनों की ओर ही कवि की दृष्टि समान रूप से जाती है। नवयुग के आदि कवि से कवि कहना है, "जन्म मरण की कथा में अमर बनता है। उसे शत-शत मरण भी नहीं मिटा सकते। चिरलत पथ को छोटे-छोटे चरण नहीं छिपा सकते।" (सुधीन्द्र) "जिस जीवन में दुःख की ज्वाला है वह सोने से कुंदन बनता है। जिसका हृदय परदुःख से कातर होता है, वह अनवरत गीत बजता है।" (कुमुदमारी सिन्हा)

मिट रही है आज मानवता स्वयं
मानो कि कौ हाराकिरी भगवान ने
भन्द जीवन-व्योति की रेखा सुनहली।

—सहेन्द्र भटनागर

'तेलनी ही हमारा प्यार है, धरा पट है, सिन्धु भूमिपात्र है, हम तुच्छ से तुच्छ जन की जीवनी पर भी बहानी, काव्य, रूपक, गीत आदि निरुद्ध करते हैं।'

(नागाजुन)

वह अपना 'नायक बदल' रहा है।

आज की मितौ चिंता पर
उस नये युग के लिए निज रक्त निष्ठापूर्ण हो
अर्पण करो, अर्पण करो
और उसका इन्किलाबी शक्ति के नारे लिए
स्वागत करो, स्वागत करो !

—सहेन्द्र भटनागर

"जो धरती की धडकन नहीं सुन सकते, वह नम का सगीत क्या सुनेंगे ! धलो की नोकों में डरकर फूली से कोई क्या प्यार करेगा ! जो पके चरण को अपनी कृष्णा का दुलार नहीं दे सकता, वह बढने जदमो की आशी पर अधिकार नहीं कर सकता। जो प्यार अमुन्दर को मुन्दर नहीं बना सकता, उस मरे प्यार की खातिर कोई क्या हस-हसकर मरेगा !" (गोपालचरण कौन)

"यम अन्तिम साध यह है कि हम अन्ति के सिपाही हैं। तब तक प्यार और मुन्न कहा है, अब तक धरती पर गुलामी है। शोषण का दनुज चूसना चिघाड रहा है। जब तक उमका ध्वन नहीं होगा, तब तक मुन्न और धानि कहा मिल सकते हैं ?" (राजेन्)

वालंभावर्ग के प्रति आविशय आकर कवि कहता है, "तुम जग-जीवन के नव-विहान हो। तुम महात्रानि के अग्निगत हो। तुम कृष्णा की कातरं पुकार हो। तुम दरि-द्रता की प्रलय-न्तान हो। तुम शाम्यवाद के विजय-गान हो।" (सोहनलाल द्विवेदी)

नगर, ग्राम, वन, सबकी ही ओर उसकी दृष्टि गई है। और प्राधुनिक जीवन के परिवेश में उसने अपनी विवशताओं को काफी गहराई में टटोला है। और उसने उस वेदना को बड़ी ही मुकुमारता से उडेल भी दिया है।

‘शहर की रात’ में चदा उगा। नये कवि ने देखा। अपने जीवन की विवशताओं और घुटन को देखा। विज्ञान के चरणों को भी उसने निहारा और वह कह उठा -

रात हो गई।

जले राह पर खड़े लीह खम्भों पर लटके लट्टू।

चमक उठों सहसा सड़कों पर

चलती हुई मोटरों की गोल उल्लुईं श्राँवें।

फिसल पड़ों किरणें प्रकाश की

कोलतार की सड़क हो गई गोरी।

लट्टू जलते रहे।

मरकरी घड़ी चमकती रही

न बिजली फेल कर सकी

और इसीसे दूर गगन का पूरा-पूरा चाँद

रह गया मुँह लटकाए।

—नगेन्द्रकुमार

पहले तो मोटरों की गोल उल्लुईं (नया शब्द) आँखों ने उसकी आँखों को चौंधिया दिया। और मरकरी लैम्प की रोशनी के कारण आकाश का चदा उसे ऐसा दिखाई दिया, जैसे मुह लटकाए रह गया। यह केवल उक्तिबन्धित्य के अन्तर्गत आने-वाली रचना ही नहीं है। इसमें केवल आधुनिकता का गर्व ही नहीं है। बरन् इसमें मनुष्य के नये जीवन का प्रतिबिम्ब है, एक नये दृष्टिकोण का आभास है, जिसमें यात्रिक जीवन प्रकृति के सहज मौदय से दूर होना चला जा रहा है। वह सब कुछ पर धा जाना चाहता है। किंतु उसकी अनुभूति की कोमलता विनष्ट होती चली जा रही है। मानो यह विकास गुत्ताय के फूल का महत्व केवल इतना मानेगा कि उसमें से इत्र निकाला जा सकेगा और बाकी सब व्यर्थ होगा।

किंतु मनुष्य का हृदय यह स्वीकार नहीं करता। प्रकृति से मनुष्य सधर्य इसलिए करता है कि प्रकृति को अपने लिए ऐसा दान दे जो उसे मुक्त दे। जिन पत्थरों से वह घर बनाता है, वे भी तो प्रकृति के ही अंग होते हैं। जिस बिजली को उसने काच में घेर लिया है वह भी तो वस्तुतः एक प्राकृतिक वस्तु है।

और काव्य जीवन की एक अनुभूति ही नहीं, वह तो उसके जीवन की विभिन्नता से उत्पन्न अनुभूतियों का प्रसार है। व्यक्ति सबको देखता है और उस सबका उत्तर

जीवन को पूर्णतम बनाना प्रत्येक मृग के मनुष्य की एक साध्य कामना बनी रही है।

“यति को गति के बदले कभी नहीं चुना। फिर लहरो के उत्थान-पतन कर भी क्या सकते हैं? जिसका जीवन सघर्षों का है, उसे कूल में प्यार नहीं है। इसलिए मन्मथार उसे कभी भी डरा नहीं सकी। जीवन के राही को अचरोषो पर भक्ति नहीं हो सकती।”
(राजकुमारसिंह ‘कुमार’)

यह ही है उसका नये रास्ते की ओर बढ़ना। पूर्व चिन्तन उसे ले जाकर एक नई समस्या के सामने लडा करता है।

ये लडी रुदियो की अँधी दीवारें—
जीवन देनेवाले समीर को रोके !
उस पार कंदसाने के रह जाते हैं
घलमस्त हवा के ताजे-ताजे भोके !
कुछ यत्न करो जिससे अँधी दीवारें
बिलरें पिरकर मिल जाएँ मंदानो में !
फिर नई जिंदगी की फसलें तहराएँ
मस्तों की हस्ती भर कर इतानो में !
तो, पुली हवा के लातिर हमको-तुमको
होगा समाज की परम्परा से लडना !
बल जोड सकोगे हम इतना निश्चित हैं
तुम बरा ओर से मन की भीता पडना ।

—शिवकुमार

रुदियो से मुक्ति का सघर्ष निरन्तर बढ़ता ही जाता है।

“प्राण का इतिहास यह है कि प्यास ही अस्तित्व है, जो कभी बुझना नहीं जानती वही प्यास होती है।” (श्रीहरि)

यह प्यास ही एक नये रूप में ‘प्रगति’ बन कर आई है।

“मृत जर्जर सडहर से नवयुग की साँसें जग जाए। वीते युग के पतझड से नया मधुमास उग आए। राज शोषण की मीनार डगमगा कर गिर जाए। साम्राज्यो की दीवार लडखडा उठे। जालिम की कातिल खूनी तलवार टूट जाए। युगो के बाद कारा के द्वार टूट जाए। ध्वान्तमान प्रवर में युग का नया सवेरा जाग उठे। काले मृत्यु-प्रहर से जीवन की किरणें फूट पडे। अपना सूर्य युगो के बाद निविड तिमिर में निकल आए।”

(धनश्याम अस्थाना)

एक ओर परंपरा, एक ओर प्रगति। वही दोनों में एक तार बाधने की चेष्टा

झोड़कर चांदनी रात का आवरण
भूमि की सेज पर सो गए धूलिकण
सिंधु की गोद में सो रही है लहर
फूल के झंक में सो रहा है अमर
चांद सो भी रहा दूर आकाश में
लाज भी सो रहो है प्रणय-पास में
नींद है स्वामिनी दास है जागरण
चेतना बदिनी, मुक्त है जागरण

—मगवहत्त मित्र

सिंधु की गोद में लहर सो गई है, और भूमि की सेज पर धूलिकण चांदनी रात का आवरण झोड़कर सो गए हैं। लाज प्रणय के पास में सो गई है। जागरण दास हो गया है, क्योंकि नींद स्वामिनी है। चेतना बदिनी है, परंतु जागरण मुक्त है। यह कैसा विरोधाभास ? यहीं कवि का चमत्कार है। यह वह जागरण नहीं है, जो आस्र खुलते में मिलता है, क्योंकि वह तो दास हो चुका है और उसके साथ ही चेतना भी बदिनी हो चुकी है। यह जागरण है नींद के भीतर का जागरण, जिसे कहते हैं स्वप्न, वह अवस्था जब सोते हुए भी प्राणी यही अनुभव करता है कि वह जाग रहा है।

लेकिन अब चांद कैसा लगता है ? रेसमी, गोला, मुनहरा। अर्थात् उसकी स्निग्धता, उसकी कमनीयता आगे आती है।

रेसमी, गोला, मुनहरा चांद
घरती पर उतरना चाहता है।

सौगुभी रपतार से भयभीत पृथ्वी भागती है।
प्यार का घट रिफ्त, मन के स्वप्न के धनश्याम सारे,
केठ की जलती दुपहरी में, विजन की डूंगरी के
देव मंदिर की फटी-सँती ध्वजा से उड रहे हैं सूझकर।

विजन की डूंगरी का प्रयोग राजस्थानी है। उसकी कल्पना करने की किसी डूंगरी के देवमंदिर को देखना आवश्यक है। व्यास में अपनी कल्पना और वास्तविकता का संपर्क चल रहा है। कल्पना बार-बार सुन्दरता की ओर ले जाती है, किंतु यथार्थ सिर पर हथौड़े से मारने लगता है। कितना करुण विद्रूप है ! तभी तो कवि भी नीचे उतरकर देखना है

मास-भग्नाहोत, लकड़ी का बना
मनुपुत्र पोता बीडियाँ आघे जले अट्टे उठाकर
हो रहा निर्माण, नव निर्माण, सारे विश्व में

मूक-सा कराह उठा। मजागत इस विभोपिका पर भी 'कला-बला की माला' जप रहा है। तब तो मेरा मानव-तन धिक् है। यह हृदय की ज्वाला निष्फल ही दग्ध है।"

(शिवमगलर्मिह 'सुमन')

यह है समाज। इनमें कवि कब तक अन्याय देखना रह सकता है?

"जिसे तुम मेरी भूल कहते हो वही चिर सच्चित जीवन-गान है।"

(शिववहादुरमिह)

इसीलिए वह सब ओर देख-दाखकर अंत में अपने मन में कहता है—“आरी व्योमकुजों की परी कल्पने! भूमि को स्वर्ग पर मत ललचा। हम तेरे स्वप्न तक नहीं उड़ सकते, शक्ति है तो आ, यही घलका बसा।” (रामधारीसिंह 'दिनकर')

और क्योंकि उस समय रूम का विकास मानव-विकास में एक अद्भुत वस्तु-सा दिखाई दे रहा था, कवि ने कहा

लाल सितारा हो ध्रुवतारा

शत्रु देख हहरे।

लाल ध्वजा यह मजदूरो की

लाल ध्वजा यह मजदूरो की

लाल ध्वजा यह है शूरो की

छू सकते साम्राज्य न इसको

भीर देख भहरे।

हमारी लाल ध्वजा फहरे,

तुम्हारी लाल ध्वजा फहरे।

गड़े देश में लाल पताका

रोके बूढ़ बंरी का नाका

चले लाल सेना का साका

अन्यायो का सर्वनाश हो

आज न्याय ठहरे।

—मोहननाल दिवेदी

इसके मूल में यह भी था कि भारतीय कवि अंगरेजी शासकों के रूप में सारी अंगरेज जाति से घृणा नहीं करना चाहता था। वह शासकों और जनता को अलग-अलग करके देखना चाहता था। यह उसकी मानववादी परंपरा का ही परिणाम था।

“कई दिन से अस्त जीवन है और वेद अस्तव्यस्त। मन सतप्त है। प्राणी में निर्धूम चिता की चिना जल रही है। भीत-सा प्रति रोम मेरा काप रहा है और मेरी चेतना हिम-शीत जड़ना में जकड़कर चोट्या से शून्य निर्जीव गीन हो गई है। ऐसी विपम स्थिति में

कहानी नयी ज़िंदगी कह रही है
पुरानी विगत स्वप्न में बह रही है।

×

मनुज से बड़ा सत्य कोई नहीं है
मनुज से बड़ा तथ्य कोई नहीं है
समुन्मत्त जीवन गरल पी रहा है
इसे मुक्ति दो, पातना से बचाओ,
कहाँ मुरित इसकी, मुझे यह बताओ ।।

—उदयशंकर शर्मा

चारों ओर चांदनी छिटकी हुई है। पूर्णिमा मुखद गीत गीत रही है। मनुष्य भी नये मोड़ पर आ गया है और पुरानी चेनवा में उमका अब नर्घर्ष हो रहा है। वह किसे मुला दे और किनका स्वागत करे। क्या त्याज्य है? क्या प्राप्य है। नई ज़िंदगी बोल रही है और पुरानी ज़िंदगी स्वप्नवत् हो गई।

अब कवि हूकार कर नई माय्यता को स्थापित करना है कि मनुष्य से बढ़कर कोई सत्य नहीं है। एक दिन चंडीदास ने भी कहा था, "शात्रार उपरे मानुस सत्य, ताहार उपरे नाइ।" नया कवि भी यही कहता है—मनुष्य से बढ़कर सत्य ही नहीं, कोई तथ्य भी नहीं है। है तो वैसे सृष्टि में बहुत कुछ किंतु मनुष्य तो जो कुछ जानता है वह अपनी ही बुद्धि में न? अतः यह ज्ञान उमीकी देत है। हमारी सीमा ही ऐसी है कि हमें अभी तक उमे ही सर्वोपरि स्वीकार करना पडता है। आज की विषमता ऐसी है कि जीवन की विष ही पीना पड रहा है। इसे किसी प्रकार बचाना हांगा, इस याचना से मुक्त करना हांगा।

सकल मानव के प्रति मवेदना एक पक्ष है। हमारे पक्ष में कवि यह मुलझाने का प्रयत्न करता है कि उमका अपना जीवन इतना दुखी क्यों है? उमे सुदरता से प्यार है, फिर भी वह मुर्खी नहीं है। मत्र तो यह है कि वह सौंदर्य के रहस्य को नहीं समझता, और इसी कारण वह यह भी नहीं सोचता कि वह कुछ अलग है, वलिक मवमे बधा हुआ नहीं है।

मुझे लुभाना गीत चांद की उजली-उजली प्रीत का
समझ न पाना भेद चांदनी के मधुमय सगीत का,

×

सुनते हैं सागर से उठते मोठे-मोठे गान भी
क्या जाते क्या बात कि मुझको मिलते हैं वृफान ही,

×

को उमने अपने मे निरमृतन नहीं किया बल्कि समग्र का अग्र बनाकर स्वीकार किया है ।

“वया मुझे हार मे विजय भिनेगी ? उदधि के डर मे ऊची उमडनी, धून्य धरती को तपानी, धून्य अम्बर मे घुमडनी धनवटा उठी । वह शीतल परम पाकर मुखद-मजल फूटार मे गिर पडी । जो घृणित वक्ण्डर दशां दिशाओं मे भ्रान-भ्रान दिवम को धूलि से धूमिल करके, मीपण निगा मे लीन करके बड घना, वह एक पल मे मृदुल मनय बयार मे लय हो गया । गिरि-शिखर मे मर्व मे भग्बर जो निर्भर गरजना बड चना वह धरा का प्यार पाते ही मदगति होकर मौन-मा निदचन नदी की धार मे जा बसा । जो प्राण कण्टक कुचलता, अग मे गलता, विप मे समनता हुआ निग्नर प्रगति-पथ पर अपनी मफलता आक रहा था, वह प्यार के एक पल मे किस अक मे बसकर रुक गया ?”

(सुधीन्द्र)

वह शोषण को अपना शत्रु मानता है । उमे उमने अनेक-अनेक नाम दिए हैं, ताकि उमके सर्वविध्य को पहचान सके ।

“जिमने जिदगी और मौत मे कुछ फरक नहीं माना, जो किसीको निर झुकाना ही नहीं जानता, जिमकी जवानी मौन को श्नीनी दे रहीं हो, जिमको मारा जमाना खडा हुआ एकम्बर मे कोमता हो, जिमके तन-बदन मे विद्रोह की लपटें निकल रही हो, नया कवि उम हृदय के अगारो-मा उल्ल है । उमे क्षार नहीं समझता चाहिए, वह तो जवाला-मरा अगारा है ।” (निरकारदेव 'मिक्क')

वह कर्म और फल की विवेचना मे नया तथ्य निकालता है । “केवल वर्तमान की ही चिन्ता मे आनेचाले कल का ध्यान मत मुना दो । अगर फल के बारे मे नहीं मोचेंगे तो हम यहा विप के बीज बो जाएंगे ।” (शिवकुमार) अब उसके सामने भारतीय चिन्तन के सन् और अमन् का द्वन्द भी आता है और वह दार्शनिक-मा कहता है

हार-जीत दो शब्द नियम के
गति के, मति के, शान्ति और सयम के
जीवन
दो शब्दों मे रंधा नहीं है ।

×

प्यार और सघर्ष : शब्द दा
गति के, पति के, ज्ञान और बिभ्रम के
जीवन
दो शब्दों मे बंधा नहीं है ।

गुनगुनाती भी हवा चुप हो गई
जागकर तकदीर जैसे सो गई
मुश्किलों के बाद पाया था जिसे
चीज आलीशान मेरी लो गई

गम की दुनिया का यही पैगाम है
हर सुबह के बाद होती शाम है
हर कदम पर मुश्किलों का सामना
जिदगी में फिर कहां आराम है।

—नर्मदेश्वर उपाध्याय

अंग्रेजी की एक प्रसिद्ध कविता है जिसमें पारश्चात्य वेदना ने पुकारा था—
यदि हमें (पेड़ पर चढ़ती गिलहरी इत्यादि को) खड़े होकर निहारने का समय
ही नहीं है, तो यह चिन्ताग्रस्त जीवन है क्या ?—इसी प्रकार हिंदी का कवि भी प्रेम
और सौंदर्य को देखता है परंतु उसे परिवर्तन और वृष्णियों ने व्याकुल कर रखा है।
उसके जीवन में कहीं भी आराम नहीं है। पुराना कवि कभी ऐसी परेशानी में नहीं पड़ता
था। वह समाज को आदर्श देता था, या फिर वर्गों और एक प्रकार से लोक को विलास के
गीत सुनाता था। 'प्रसाद' ने उद्गूँ के दुःखप्रतीत्य को प्रस्तुत किया था। उसीसे यह व्यक्ति-
पक्ष हिंदी में उभरता चला आया। आज भी यह समस्या है कि काव्य कवि के जीवन का
प्रतिबिंब है, उसके व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों का अंकन है, या वह समाज के लिए
एक प्रेरणा है। यह उद्गूँ ऐसा उलझा हुआ है कि परस्पर टप में दोनों ही पक्षों के अन्वो-
न्वथित रहने से दोनों के बीच कहीं एक रेखा नहीं खींची जा सकती। यूरोप और विशेषतया
अंग्रेजी काव्य में द्वितीय महायुद्धोपरांत के काव्य में व्यक्ति-पक्ष को अब प्रायः किसी पात्र
की वस्तुपरक (आवजेंकितव) दृष्टि पकड़कर उसके द्वारा आत्मपरक (सबजेंकितव) बनाकर
प्रस्तुत किया जाने लगा है। हिंदी में अभी तक यह रूप मुखर नहीं हो सका है। यहाँ
प्रयोगवाद अभी मानसिक उलझनों में ही डूबने की चेष्टा में रत है।

'शिशिर की राका निशा' इसी उलझन का एक अद्भुत-सा उदाहरण है। उसने
सब कुछ देखा, मारा अतीत। और उसे लगा कि वैसे उसके लिए अब कुछ भी शेष नहीं
बचा था। उससे पहले ही कवि सब कुछ लिख चुके थे

बचना है चाँदनी सित

भूँड वह आकाश का निरवधि महन विस्तार

शिशिर की राका निशा की शक्ति है निरस्तार !

दूर वह सब शक्ति, वह सित भव्यता, वह दृग्ग्य के अवलोकन का प्रस्तार

इधर केवल भिलभिलतरे चेतहर, दुर्पर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में

उसके अस्तित्व का विकिरण है। वह चिन्तन-मात्र से मो शरीर-धर्म •
 इस जगह धर्म की गाठ दिखाई देती है। इसीलिए वह क्षण-भर गभीर व
 सोचता है

“दिन के मीठे घूटो को जो वचन पीता चलता है, वह क्या किमी धावन के
 तीर पर नहीं पहुँच जाता ? जो सरिता बहती ही रहती है, वह सागर में हिल-मिलकर हसती
 है। जो चलता ही रहता है, मजिल उनमें बहुत दूर नहीं रहती। न तो आगत का अंत है,
 न पतन की सीमा है। युग-पथ प्रत्येक चरण पर मृत्यु की धमकी दे रहा है। फिर भी एही
 जमती जाती है और पजे आगे बढ़ने जाते है। जो चढते-चढते रुक जाता है, उमे विश्राम
 नहीं समझना चाहिए। प्रत्येक चरण इस जीवन का आगे, आगे ही चलता है।”

(उदयशंकर भट्ट)

यही चिन्तन जब अपने वैयक्तिक मर्ष के पक्ष को उभार लाता है तब उसमें एक
 लीन-सी आ जाती है। व्यापक रूप से वह सुख को देखता है। सुख वैयक्तिक-सा ही दिखाई
 देता है। उसकी लीन बढ़ती है। नया चिन्तन उसे चैन नहीं लेने देता। वह कहता है :

“मैं अपने जीवन में कैसे कहूँ कि अब इसका गति से कोई परिचय शेष नहीं
 है। इस मन को मैं कैसे भावुक कहूँ, इसे तो जड़ता में भी कोई क्लेश नहीं है। कमजोरी
 के गीत बनाकर क्या गाता ! वह कविता ही नया जिसमें नई उठान नहीं हो। हाथ मेरे
 प्राण धुँस गए, कवि भी मर गया। अब मुझे अपने पर कोई अभिमान नहीं है।”

(भारतभूषण अग्रवाल)

परंतु यह स्वर जब रूप बदलता है तो सात्वना मिलती है

“यह जगती बहुत भोली है, इसमें स्नेह का चपक छलक रहा है। जीवन प्रेम है,
 प्रेम जीवन है।” (कोमलसिंह सोनकी)

प्रेम ! प्रेम की उदात्तता सिद्ध करके, प्रेम को ही व्यापक बनाया जाता है।
 क्योंकि उसे अधिक महत्त्व दिया जाता है

यह सुधा है, पी रहा हूँ

मैं अमर बन जा रहा हूँ

जो मुझे दुःख दे रही है

वह हृदय की अप्सरा है,

कौन कहता दुःख बुरा है !

शांत हूँ मैं देख जीवन

शांत हूँ मैं मुन मरण-क्षण

आदि जिसका, अन्त उसका

महत्सिद्ध परम्परा है।

शुचि शुभ्रवसना स्वर्ग की उत्तरी परी, नीरव नूपुर
 यौवन मधुर, कर्पण प्रचुर
 सहसा उठा वज्र विद्व-वीणा में अनोखा कोन सुर
 नीलाभ नभ हरिताम भू किस मंदिर मधु में है सना !

×

यह वासना की लाज पर सहसा रसा किसने कफन
 हँसता कभी जीवन हमारा, आज ज्यो हँसती हिना !

—हनुमान तिवारी

ओह ! कैसा उल्लान है ! अब क्षीरसागर उमड़ता चला आ रहा है, यह क्या चादनी-भर है ? स्वर्ग से परी उतर रही है । इसीको आनंद की तृप्ति कहते हैं । विद्व-वीणा में जिसने कान लगाकर मधुर स्वर सुन लिए, वह तो आकाश और पृथ्वी को मंदिर मधु में सना हुआ देख रहा है । यह लो ! अब शरद ऋतु आ गई । वह तो आगन है चादनी का ।

आई आई शरद ऋतु आई ।
 धरती पग मगद मधुर, लपटती जल विमल मुकुर,
 तिरती तालों में नव परछाईं ।
 खोले हैं नयन कमल, डोले हैं अंग चपल,
 बाँटे पूनम को बदन चुनाई ।
 सोलह सिंगार किए, अमृत रसधार लिए,
 फूल शेफाली में मुस्काई ।

—सुमित्रा कुमारी मिन्हा

पूनम को मुदरता मिली है, शरद के मुख के लावण्य से । 'लोना लोना मुख' है । धरती का प्यार उस समय जगता है, जब व्यक्ति अपने को सजुचित सीमा से बाहर निकाल लाता है । शेफाली में जब शरद अमृत रसधार लिए मिल जाता है, तब कवि-हृदय एक आस्था में विश्वास रखना है, उसकी वासना अघकार में अपने-आप को समर्पित नहीं करनी ।

सराबोर मस्ती से कवि गाता है कि स्वर्ग की सपूर्ण सुपमा ही यह चादनी है । चाद ऐसा कमल-सा खिला है—और भी सो दलो वहला—जैसे दूध के समुद्र में उग आया हो । आज आकाश और पृथ्वी अपने हो गए हैं

नयन मन् जन्मादिनी

आज निकली चाँदनी !

आज केवल झूल ऊपर, शून्य ऊपर
 स्वर्ग की सम्पूर्ण सुपमा आज भू पर !

पय मुक्ति-साधन न भ्रम-भार !
गति ही विजय है, अपति हार !

—शम्भूनाथ मिह

मुक्ति उसका केन्द्र है। साधना से ही उसका लगाव है।

“मेरे मन ! कष्ट-गहन को सहन करो। यह मत समझो कि दुःख में दुःख की कथा का ही गौरव है। जब तक प्रतिकार न हो, तब तक सहते रहो। जब तक यह बोध न हो कि मुझमें भी क्रोध है, और मैं प्रतिशोध लूंगा, तब तक कष्ट सहन करो।”

(रघुवीरसहाय)

दुःख का निराकरण ही उसका मुख्य उद्देश्य है, चाहे उनकी अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हो।

“अपने भाग्य को दयामय मसीहा बनाकर एक बार एक वन में हाथ उठाकर दुखी बोल उठा। वही एक चट्टान पर सिर पटककर पपीहा अपने हृदय के रक्त से लिख गया सफल यात्री को जगत् के सफर में प्रणय ही तरी है, प्रलय ही किनारा है।— एक दिन नदी के किनारे एक विकल प्रेमी अपनी ज्योतिवाला के बारे में सोचता खड़ा था कि घड़ी एक में एक ट्रेन उधर से निकली, जिसने तिमिर चीरकर लौ-उजाला फेंका। बड़े मुवत स्वर से ट्रेन ने कहा ‘मुझे ससार में आदमी ने सकारा है।’”

(शिववहादुरसिंह)

मनुष्य सबपर छा गया है। इसीलिए स्वतः ही कवि को अपनी सारी परिभाषाएँ बदलने को विवश होना पड़ा है। वह पुरानी चीजों से बाहर निकल आना चाहता है।

“नशीवी आल, अघर कोमल, अलकें सौंदर्य की वासी निशानी वन चुके है। आज युग को नूतन इतिहास, शब्द, शैली, भावना, विश्वास, सब कुछ नूतन चाहिए।”

(खुशदिल)

इस तरह वह अतीत से प्रेरणा तो लेता है, किंतु उसका अनुकरण नहीं करता। परन्तु यह एक आवेश है, या है बौद्धिक चिंतन। अब वह शरीर-धर्म को प्रकृत मानकर उसे अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहता। चाहता है ऊपर उठना और प्रकृत को प्रकृति के सामने रखकर केवल साध्य न मानकर उसे साधना-मात्र बनाना चाहता है।

हां देख शूको को, काको को, हसों को
गम की अनग्नता से नित स्पर्धा करते
क्या कभी सोचते हो तुम अपने मत में
हम भी क्यों नहीं उड़ान हृदय में भरते ?

नीलम के आंगन में शोभित
जैसे चांदी का घाल धवल ।
पीपल-तट्टो से निकल रहा
यह चांद मधुर ऐसा लगता
शिशु, मां के कंधे पीछे से,
प्रकटा हो ज्यों करता 'स्या-स्या' ।
यह घुनी रुई-सा स्वच्छ विमल
यह दुग्ध धवल, हिम-सा शीतल,
चांदी का चमकीला उज्ज्वल
किरणों का स्पर्श सुखद लगता,
जैसे शिरोप के कुसुमों के
सुरभित पराग के तंतु मृदुल,
या शिशु के गभुआरे कुन्तल ।
यह गोल-गोल, गोरा, भलमल,
ज्यो मधुवन में तमाल-तरु-तल
श्रीकृष्ण अंक से सटी खड़ी
राधा का सहितत मुखमण्डल ।

—रामेश्वरलाल खट्टेलवाल 'तत्त्व'

कालिदास में जैसा रगों का वैभव है, वसा ही यहा भी है । उसने कहा है—
मेघ । यहा नीलम की चोटी का क्रीडाशैल है, द्रगल में मरकत-सा कदली-कुज है, सोपान
हैं मरकत-शिलाओं के, नीलम जल में हरितमृगाल-कमल हैं—हेमवर्णा । यहा नीलम के
आंगन में चांदी का चमकता धवल चद्रमा है, पीपल के पेड़ों के पीछे से ऐसा निकल रहा
है जैसे मा के कंधे के पीछे से तुतलाता बच्चा बोल रहा हो । गभुआरे कुन्तल कितनी
मीठी अभिव्यक्ति है । ऐसा है यह जैसे मधुवन में राधा का, तमाल के नीचे खड़े कृष्ण
के पास, मुस्कराता हुआ मुखड़ा । केवल सुपमा ही यहा चित्रित है ।

इस मस्ती में बहुत-से व्याकुल हृदयवाले अपने सपने डुबोते हैं, और खो देते
हैं । अनीत की मारिल व्ययाए एक सात्वता-सी पा जाती है

रात चांदनी मस्त हवा है, नोंद भरी-सी हूँ भरभर ।
स्वप्नलोक के गीत सुनाता चांदी-सा भरना भरभर ।
मस्त बदलियाँ जैसे नभ के हो सुन्दर सपने मुकुमार
चले जा रहे निर्मित करने सुख का एक नया संसार ।

हँस-हँस हृदय-वधिर से जग के कालेपन को धोता हूँ मैं
स्वर्ण-कुसुम फूटेंगे, बलि के बीज मधुर नित बोता हूँ मैं
तुम वसन्त लो विर मगल वा मैं पतभार लिए जाता हूँ
जीवन के कण-कण को मैं ही जीवन ज्वार दिए जाता हूँ।
चिनगारी देने आया था—इनको मुट्ठी-भर चिनगारी
एक बार बस जल उठने को अब आई है इनकी बारी
तब तक अबल मानवता का मैं मुकुमार लिए जाता हूँ।
दुबँह भार लिए कपो पर पय को पार किए जाता हूँ
पतली मैं तस्वीर बसी जो उसको देख लिए जाता हूँ।

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

सुन्दर के प्रति अनुरक्ति आवेश के क्षण में कहीं अधिक हो जाती है। जो देता है वह मूल्य को बहुत बड़ा भी देता है

"मरने से डरनेवाले को ही मृत्यु द्वार पर खड़ी होकर उराती है। मरनेवाले को अमरता जममाला पहना जाती है। स्वार्थ-विहित भयभीत हृदय में अविनाशी का चार नहीं होता। जो भय की मकड़ी के जाने को तोड़ चुका हो, वही जीवित है। मरने से डरनेवाले को ही मौन निगल-उगलकर खा रही है।" (नरेन्द्र)

यो मृत्युञ्जय होने का यह स्वर विक्रम का ही स्वर है, व्यक्तित्वको बड़ा करने का ही माध्यम है, उपदेश-मात्र नहीं है। तभी कवि कहता है

प्रबल पवन से न डर बटोही
दिया जलता हुआ चला चल।

तिमिर न होता अंगर जगत में, प्रकाश का कुट्टन न मोल होता
अंगर उदासी हुई न होती, गुहास का कुट्टन न मोल होता
बता रही है यही घटाएँ कि लोचनो को सनीर कर ले
सिखा रही है यही बिजलियाँ कि मुस्कराता हुआ चला चल।

अंगर यकावट हुई न होती विराम की कपो घड़ी मुहाती?

डगर कठिन यदि हुई न होती कभी न भञ्जित हृदय सुभाती!

बता रहे हैं यही सितारे—'अंगर न भञ्जित मिले न घबरा!'

सिखा रही है यही हिलोरें कि पग बढ़ाना हुआ चला चल।

अंगर गरल ही हुआ न होता, सुधा जगत में किसे सुहाती?

अंगर विरह ही हुआ न होता, घड़ी मिलन की न याद आती।

बता रहा है यही पयोहा कि प्यास में भी बड़ा मजा?

सिला रहा है यही मधुपदस—'तुषा बुझाता हुआ चला चल'

एक नया इतान बत्ता

— नवंबर १९२०

सब मनुष्य नया हो गया है । वह कष्ट सहन करके भी झगड़ रहा है । वह श्रेष्ठ केवल श्रेष्ठ की भावना से नहीं कर रहा है । उसके सामने कोई सत्य है, जिसे वह महत्त्व मानता है, जिसके लिए उसने नये दृष्टिकोण भी मानना है ।

आत्मा का ही विकास मानो अपने बाह्य रूप में तोर का कल्याण बना है । मनुष्य अब प्रमुख है ।

“पुरख के गवं ! तूने दो पगो से निस्तीम गगन का बिस्तार नाप डाला । नखों की नोक से जलधि का झरार गहन गर्भ चीर डाला । बना तुझे मूजा के पाग बंदो बना लमे ?” (नरेन्द्र)

पुरानो दुनिया को वह सीमित मानता है, तभी वह उसे पूर्ण नहीं मानता :

ओ सिपाही

यदि तुझे कुछ चाहिए तो

पोंछ अपने धाव पर धतका हुआ यह रक्त

×

इन पुराने गोरखों का कर न कुछ विश्वास में सब

दोंध के नीले सनन्दर में लगाकर डबकियां

बन गए हैं आज शार्हशाह बन के ।

— हरिश्चन्द्र

प्रतिक्रियावादियों से उसे घृणा है । वह उन्हें राह का रोड़ा समझता है । अपनी समाज को वह फेंकना देना चाहता है :

“भरे इस स्वर को समरागम के कौटि-कौटि उन षोडशो तक पडुवाता जो मेरी ही तरह जानी के कोने-कोने में अशकार से जूझ रहे हैं ।” (उपोन्द्रनाथ ‘अरक्त’)

सब नितावर जैसे एक मोर्चा बना रहे हैं । वह सब एक ही विराट सपने के लिए उठ रहे हैं । मुा को छान व्यक्तिओं को एक भूमि पर ऐसे ही ताना करती है ।

“मैं रक्त की धारा बहाकर क्रिष्कियाती देह को ही उरंरा कर रहा हूँ । मैं अन्न के कर्मण्य कर से धरती जोड़कर मानवी स्वाधीनता के बीज बोता जा रहा हूँ । मैं धन-जीवी हितों के मकुरों को उगाता जा रहा हूँ । जो कित्तोने पराजित और कित्तोने मिटाए नहीं जा सकते, जो मरेंगे तो, लेकिन फिर जीकर लड़ेंगे, उन्हें मैं जरूर उगाया जा रहा हूँ । मैं मोर्चे पर सदाई लड़ रहा हूँ ।” (ने शारनाथ अश्ववाल)

सबकुछ वह अपने को मोड़ा ही समझता है । जो कभी चारण था, स्तुति दाता था, प्रावेश जगाता था, वह अब मनुष्य बन गया है । वह राह दिखानेवाला बना है

रुद्ध, पयभ्रष्ट ग्री' विशिष्ट वासना-सी अतृप्त
 कहीं वं दूर कभी टक-टककर किसीके प्यार-भरे गीत के
 दूटे-मे स्वर भूल से जागकर मानो तभी सो जाते हैं।
 चांदनी रात है चुपचाप समर्पित मोहित अचल दिग्गज के
 आश्लेष में सोयी, खोयी, अब्रूभ स्वप्न में,
 जैसे तुम हो, कभी चुपचाप अनायास मेरी गोद में
 सो जाती हो
 चांदनी रात थी !

—नेमिचंद्र जैन

चित्र अवश्य खड़े होते हैं, परंतु अततो गत्वा वातावरण ही सामने आता है, क्योंकि एक के बाद एक छवि जल्दी-जल्दी आती है जैसे कवि सबका अंकन कर देना चाहता है। जिन कविताओं में चित्र की एकात्मकता होनी है उनका प्रभाव अधिक अच्छा पड़ता है, यद्यपि बात उनमें भी प्रेम की ही होती है। और छंद की गीतात्मकता के कारण छटर-छटर उनमें नहीं होती।

ले किरण की सहज बल्लियाँ ध्योम में
 चाँद खेता रहा चाँदनी की तरी
 और भुज - पाश में तख्तरो को रुसे
 भूमि पर गीत गातो रहों बल्लरी—
 श्रु तुम्हारी उठीं, इद्रधनु जिच गया
 भर गईं सब दिशाएँ मंदिर हात से
 प्राण मेरे रहें शून्प कैसे भला
 जब कि मुस्का रहे हैं तुम्हारे नयन

—राजेश दीक्षित

चाँद एक खिचैया बन गया है और किरणों की बल्लियों से चाँदनी की नाव को खे रहा है। बहुत सुंदर कल्पना है। फिर चाँदनी में विलासपक्ष जाग उठता है और कवि को तृप्ति की प्राप्ति होनी है। ऐसा सतोष इतने मुखर रूप में कम मिलता है, क्योंकि प्रायः कवि दर्द की आहें तो लेते हैं, पर यह साफ-साफ नहीं कहते कि उन्हें कितनी स्त्री से प्यार है। कम देने में एक स्वस्थता रहती है और स्पष्ट ही यह 'रानी' वाला गीत नहीं है। ऐसे गीत जो स्नेह की तृप्ति देते हैं, उनकी तुलना में वे भीत रखे जा सकते हैं जिनमें घरेलू जीवन की छाया मिलती है -

रैन हुई उजियारी !
 चाउर चौक पूराएँ मने

पथ का यही अभिमान कर ले ।" (कचन)

पथ का अभिमान क्यों ? क्योंकि अकिंचन बनकर जीवित रहने में कवि को कुछ मर्यादा दिखाई नहीं देती । हम जीवन मानव को देखते हैं ।

"हमी अकेले नहीं, सारी सृष्टि यहा तपा करती है । एक-दो बूद नहीं, सावन-भादो के जलधर उमड़ते हैं । जब तक बूद-बूद रवि की ज्वाला पर अपना जीवन लौल रही है तब तक तो सावन-घन ऊमर को उर्वर करने से चूक नहीं सकते ।" (शिवमङ्गलसिंह 'भुमन')

पथ होना चाहिए । उसके बिना लक्ष्य भी क्या कर सकता है । कवि कहता है -

पथ की पहचान यदि पथ को न हो
तो विचारा सख्य आखिर क्या करे ।
भूल-शूलो का विद्या यदि जाल हो
तो चरण का वक्ष आखिर क्या करे ?
हाथ में यदि तोडने का बल न हो
भाग्य का लघु वक्ष आखिर क्या करे ।
हो हृदय में घोर तम लिपटा हुआ
तो उजैला पक्ष आखिर क्या करे ?

—शिवशंकर मिश्र

विश्वास ही मारे सत्य का आधार है । उसके बिना कुछ भी नहीं है, क्योंकि दृष्टि-कोण उसपर ही तो आश्रित है । मनुष्य कौन है । वह तो बहुत व्यापक हो गया है । दर्द की वजह से उसकी मना बहुत ही सार्वभौम और सार्वकालिक हो गई है ।

"सोने में सोनों लोको की पीर लिए हू । आँखों में सावन-भादो की तस्वीर लिए हुए हू । मैं कवि हू, मानव-संस्कृति का निर्माता हू । मैं अपनी वाणी में मुर्दों में प्राण जगाता हू । ब्रह्मा तो बस एक दिवस ही सृष्टि बनाता है । परन्तु मैं विश्व नया समार बनाया करता हू । दुनिया से मोन जीत गई, लेकिन कवि में नहीं । कवि तो मर जाता है परन्तु कविता कभी नहीं मर पाती । दुनियावालो ! तुम कवि का सम्मान खरीदोगे ? आगू दे-देकर क्या भीठे गान खरीदोगे ? ओ कुर्सी के हैवान दीवानो ! क्या तुम चांदी के टुकड़ों पर ईमान खरीद लोगे ? मैं उन मतिमद मत्ताधारियों पर हमला हू जिन्हें नादिरसाही प्रति-यधो पर विश्वास है । शापद वे नहीं जानते कि छत्रसाल के कंधे पर ही भूषण की डोली उठनी थी ।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

कवि का गौरव अपनी चेतना को ही नहीं, सामाजिक परिस्थित को भी उठाना चाहता है । इसके लिए वह बदला देने को भी तैयार है, "ग्राज इतना तप कि पत्थर पिघल जाए । ज्योति तम को भेद दे, किरणें निकल आए । प्रव मरण का प्यार भी बिकल क्यों जाए ? साधना ही मिट्टियों में बदल जाए ।" (भुमिन्ना कुमारी मिन्हा)

मृग्य चाँदनी सौरभ-भरी जवानो में माती थी।
 चुपके-चुपके अपना कोई प्यार लिये घाती थी।
 नयनों ही नयनों में कँसी हुई अनोखी बात !
 घनायास ही बिरकन करता रहा किसीका गात !
 तारों की स्वप्निल छाया में यह दुनिया सोती थी
 किन्तु किसीकी पापल फिर भी हनुक-भुनुक होती थी
 मेरे गीतों पर कोई शर्माया सारी रात।

—दुन्दरी

तारों की स्वप्निल छाया में दुनिया सो गई, और किसीकी हनुक-भुनुक पापल बजती रही। और सारी रात उन्हें देख-देखकर चश मुस्कराता रहा। मुक्क जब कोई काम करते हैं तो समझते हैं कि उनमें पहले किमीने ऐसा काम किया ही नहीं। जवानों है ही ऐसी, कि उसे हर पुराना भी नया ही लगना है। विचारा चाँद और करता भी क्या ! दिल के तारों पर सारी रात जाने कितने लोगों को वह गाते पहले भी सुन चुका है। इधर कोई गीतों पर शर्माया रहा, उधर चाँद मुस्कराता रहा। यद्यपि कविता में माधुर्य है किन्तु कवि का ध्यान श्म बात पर नहीं गया कि क्या ध्वनित हो रहा है। क्या गीत इसी तापक से कि उनमें किसीको शर्म आती और कोई दूर होने के कारण चुपचाप मुस्कराता रहना। आत्मस्वीकृति की कँसी अनोखी बात है ! लेकिन जीवन में मनुष्य यह कहीं सोचता है कि उसमें किना ऐसा है जिसपर लोग मुस्करा सकते हैं। इस दृष्टि से यह कविता हास्य भी जगाती है, किन्तु जो मुक्क होगा और समान भोगी होगा, वह तो बड़ी लंबी घाँट भरेगा ! किन्तु जब व्यक्ति और भागे बढना है तब उसमें घुटन पैदा होती है और ऐसी घुटन जोकि उसे भीतर ही भीतर खाने लगती है। ऐसा ही चित्र अचल ने दिया है

डूबती, पिघले पहर की

चाँदनी-सी अनमनी हूँ

आज मेरे प्राण पर कँसी पकन अद्विराम थिरती
 किम सिद्धर से आज तन-मन पर लूया की धार गिरती
 दूर बजती रागिनी-सी में उजडती लीन होती
 किस विफल बंधल्य में डूबी, सिद्धरती मुधि पिरोती
 साप मेरे डूबने मेरे कतंकी चाँद-तारे
 जो बने थे मार्ग-दर्शक इस अज्ञपति के किनारे

लुप्त सस्कृति को अपना पद-निर्माण चाहिए। जीवन विवर भी रहा है और निखर भी रहा है। एक को प्राण और दूसरे को प्राण देना है। जीने को यह लोक बना है और मरने को परलोक। तुम्हें और किनना प्रमाण चाहिए कि तुम्हारा इतिहास कल्पित है।”

(उदयशकर भट्ट)

वह तो नया दे रहा है सब कुछ। उसमें कोई प्रश्न कर बैठे तो कवि उसे कैसे स्वीकार कर सकता है। क्योंकि सत्य ही पराजय का मूल स्रोत है।

इसीसे कवि मानता है

“सुनो! मृत्यु का प्रवृण्णन खलने से पहले ही जीवन का अभिमान काति करने-वाला है। त्रासितों का रक्त एक दिन रग दिखाएगा। तब पापों के दुर्गम दुर्ग विस्तर जाएंगे। सभी विरोधाभास एक दिन टल जाएंगे। यह जीवन का विश्वास टलनेवाला नहीं है।” (कुमार)

विश्वास भी कितनी बड़ी चीज है। यह किसके अतर्गत आ सकता है। यह प्रेम के भीतर की बात है

प्राज तो पतवार है, मङ्गधार है, तड का तकाजा।
फूल जीवन का चंदा कल अर्चना में भी कहेंगा।
प्राज भी तो मोत भिक्षा को खड़ी दामन पसारे
साँस दे लूँ, कल मदद की याचना में भी कहेंगा।
बंद की हृद भी हुई क्या, आह भरता हूँ अभी तो
ले शपथ इनकार की मैं चाह करता हूँ अभी तो
भंक जाती जब नयन से प्राण को दुनिया चर्माँती
और जीने के लिए तो बार मरता हूँ अभी तो
प्राज तो इस धूस से है हर कदम पर हार मेरी
जीत लूँ तो स्वर्ग की कल कामना में भी कहेंगा।

—इमरुमार तिवारी

प्रेम ही सर्वेदना का आधार है। वही स्वतंत्रता चाहता है, “मानव वही है जो सिर्फ मुक्ति में ही जीना जानता है। जो देश के लिए प्राण देना जानता है, जो मानव-धर्म-मात्र को ही मानता है, वही मानव है।” (तेजनारायण काक)

देश तो केवल एक अभिव्यक्ति है। उस क्षण की मर्यादा है। अन्यथा वहा तो और भी व्यापकता है

“सामो में साधो की बरवाद कहानी कब तक पीछा का तोल करेगी? कब तक मिटो जवानी सामो पर मजबूर अपनी ही साँस लिए चलनी रहेगी? यदि तुमने प्राणो का विश्वास तोड़ दिया तो वह जिंदगी में ही उठ जाएगा। सच, सब युद्धों में जो मुझको गानो

अदमी को गफलतो की नौद से जैसे जगा दें
 प्राण मेरी
 बुरा मत मानो
 कि झूठा है तुम्हारा प्यार—

—गोपीकृष्ण गोवेरा

यह है वास्तविक प्यार। वह केवल व्यक्तिपक्षी नहीं है। यो धर्म और रति के मिलन में 'भावबोध' का जन्म होता है।

“जो पीड़ितों में एक्य का मन्चार कर रही है, ये तुम्हारे प्यार की कडिया अमर होगी।” (रामकुमार चतुर्वेदी)

इसीलिए कवि अत्र प्यार की परिभाषा बदल रहा है। मनुष्य का स्वभाव है एकरसता से अपने मन को मिद्ध करना, जंमे धानु या पारे को मिद्ध किया जाता है। उसके द्वारा मनुष्य व्यक्ति, समाज और चराचर का पढ़ने मन में स्पष्टीकरण करके एक सामन्त्रस्य और तादात्म्य बंठना है। उसके बिना उसे सब कुछ सूना-सूना-मा लगता है। वह जैसे दूसरो का न्याय्य नहीं बना सकता।

इतिहास का विशाल विगत रूप देनकर वह हार नहीं मानता, नया आह्वान देना है

“मदियो ने मरघट की लपटें जग में उठली आई हैं, अब मरघट को मधुवन के गीत बुनाने हैं।” (वल्लभोर रत्न)

मधुवन के गीत मरघट को कभी नहीं बुना पाए थे। पहले मधुवन ही मरघट में जाकर सोया करने थे। यह है नये काव्य का स्वर। वह कहता है

निरादृत सत्य का तुफान आता है
 तरंगों के चरण थामे
 गगन की देह दलती है
 तडित् की पसलियों में
 पिस घरिओ टूट गलती है,
 विशा के अलक सागर में
 भुजगो-से तडपते हे
 कि तम का दंत्य चड घंठा
 सृजन के अन्त के क्षण में
 झुकी आलोक-माला पर।

—भारतभूषण अश्वान

इसीलिए वह नई उपमाएँ ढालना है और हममें वह चमत्कार पंदा कर देता है।

मे ही मन सीमित रहो, जीवन का आनन्द भी लो । पर वह यह भी जानता है कि बाराना से तृष्णा का अन्त नहीं होता । सारी रात चन्द्रको से भीगा चाँद सबेरे भी मधु की प्यास ही खोजता रह गया । कवि नहीं समझ पाता कि अब क्या बाकी रह गया, क्योंकि वह तो तृप्त हो चुका है । पर वह समझता है जो अभी प्यासा ही है

ढलता नीरव चाँद गगन में
आधी रात गई, आधी रात रही ।

संभ्र सो गई दीप जलाकर जागी नहीं प्रभाती
जल-जल आधी रही गगन पर तारो की हर बातो
अभी जगत के बेमुघ्न मनो में है स्वप्न अधूरा
मूक संदेशों में प्रिय तुम तक
आधी बात गई, आधी बात रही ।

×

निशि के सपनों में अम्बर पर चली चाँद की डोली
पर उस पथ तक पहुँच न पाई किसी प्रात की रोली
गीतों के सब दूत लजिले तुम तक पहुँच न पाते,
दूर पिपा के देश हृदय की
कुछ सीगात गई, कुछ सीगात रही ।

—जगनप्रकाश चतुर्वेदी

जिसकी महलों की दीवारें
 उसी खून से सनी पड़ी हैं।
 जहाँ जमी महफिल के तालों
 पर स्वप्नित मादकता तिरती
 एक अंग की अँगड़ाई पर
 बोभिल आँखें जहाँ धिरकतीं
 इसी महल के तले खड़ा
 दम तोड़ रहा इन्सान भूख से,
 पर्यर भी देगा जवाब,
 विप्लव का विगुल बजेगा साथी।

—मृणाल

विप्लव ! इसका उत्तर है विप्लव ! एकदम की भकभोर जो सब कुछ उलट-पुलट दे। पुराने को उखाड़ दे। अपने पौरुष का भीम पराक्रम प्रतिध्वनित कर दे। नई शक्ति जगा दे। वह कहता है

“कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ कि जिसमें उथल-पुथल मच जाए। एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए, सबनाश छा जाए ! आग बरसने लगे। नभ का वक्ष फट जाए, तारे टूक-टूक हो जाए।” (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')

श्रीर भव हम देखेंगे कि इस आह्वान को सुनकर नई चेतना उस विध्वंस से नई मूर्ष्टि की किस प्रकार कल्पना करती है।

विषयवस्तु नहीं है। सजाव-मेंवार से इनकी प्रतिभा में सर्जन भी कम ही है, परन्तु फिर भी कुछ रचनाएँ इनसे अच्छी भी निकल गई हैं, जिनमें वस्तु भी है। प्रयत्न करते रहने से प्राप्ति होती है। ऊपर की एक कविता इसीका आकर्षक उदाहरण है। प्रायः अज्ञेय की कविता उसके उपन्यास 'दोखर एक जीवनी' के ढंग की ही होती है, आत्मपरक ही, क्योंकि लोकपरक दृष्टि सहज होती है जो उत्पन्न की तरह फूटती है, जबकि आत्मपरक में बहुत चेष्टा करके लिखा जाता है और शब्दों के चमत्कार को अधिक प्रथम दिया जाता है। टी० एस० इन्विट का प्रथम लेखनेवाले ये लोग इन्विट से कोई समानता नहीं रखते, क्योंकि उसमें जो 'क्रिश्चियन मानववाद' है वह इन लोगों में केवल 'व्यक्ति बंचिष्यवाद' मात्र है। परन्तु उपर्युक्त कविता इसके अंतर्गत नहीं आती। चाँदनी की शुभ्रता जैसी यहाँ है, वंसी ही एक और स्थल पर हमें मिलती है पर दूसरे ही ढंग से

शशि-शरद - शुभ्र ये शरद - अश्र !

हिमधवल कपोतो-से मज्जुल, प्रति मृदुल तूल के फाहो-से
या नभ-उर रह-रह मंडराते वर्षा की शेष मधुर मुधि से;

उजले - उजले बिलरे - बिलरे

शशि-शरद-शुभ्र ये शरद-अश्र !

भस्तिष्क हृदय पर छा जाए वह प्रखर प्रखरता कब इनमें ?
नयनों में सहज समा जाए वह सहज सुधरता बस इनमें,

सुधि से उभरे, निज सुधि बिसरे

शशि-शरद - शुभ्र ये शरद - अश्र !

—दीर्घ

शरत् के मेघों का वर्णन कर रहा है कवि, परन्तु उसकी उपमा वह शशि-शरद शुभ्र से देता है। यहाँ शशि एक तुलनीय है जैसे शिव का अट्टहास। सारा चित्र अपने-आप में अधूर्ण है, व्यर्थ है, यदि 'शशि-शरद-शुभ्र' निकाल दिया जाए। कविता में बिलकती धूप भी जाएगी, जोकि शरत् की विशेषता है। शरत् शशि को ही मूल तुलनीय वस्तु के रूप में दृश्य को एक शीतल स्निग्धता प्रदान की है, और वही इसका प्राण है। भव चांदनी मूर्त स्त्री बनती है

नव अस्त की राका रजनी

पहन चाँदनी की चोली, छोटे घम्बर पट

गोरे लाजारण गालों पर

कुतल केशों को बिलराएँ

जैसे स्वर्णिम स्वप्न-लोक को कोई दुल्हन

भौंका करती अपने ऊँचे राजमहल के वातायन से -

नगर, ग्राम, वन, सबकी ही ओर उसकी दृष्टि गई है। और माधुनिक जीवन के परिवेश में उसने अपनी विवशताओं को काफी गहराई में टटोला है। और उसने उस वेदना को वही मुकुमारता से उडेल भी दिया है।

‘शहर की रात’ में चदा उगा। नये कवि ने देला। अपने जीवन की विवशताओं और घुटन को देखा। विज्ञान के चरणों को भी उसने निहारा और वह कह उठा -

रात हो गई।

जले राह पर खडे लीह खम्भो पर लटके लट्टू।

चमक उठी सहसा सडकों पर

चलती हुई मोटरो की गोल उल्लुईं शालें।

फिसल पडों किरणें प्रकाश की

कोलतार की सडक हो गई गोरी।

लट्टू जलते रहे।

मरकरो घडी चमकती रही

न बिजली फेल कर सकी

और इसीसे दूर गगन का पूरा-पूरा चांद

रह गया भूँह लटकाए।

—नगेन्द्रकुमार

पहले तो मोटरो की गोल उल्लुईं (नया शब्द) आखो ने उसकी आखो को चौंधिया दिया। और मरकरी लैम्प की रोशनी के कारण आकाश का चदा उसे ऐसा दिखाई दिया, जैसे मुह लटकाए रह गया। यह केवल उक्तिवन्त्रिश्य के घन्तर्गत आने-वाली रचना ही नहीं है। इसमें केवल आधुनिकता का गर्व ही नहीं है। बरन् इसमें मनुष्य के नये जीवन का प्रतिबिम्ब है, एक नये दृष्टिकोण का आभास है, जिसमें जातिक जीवन प्रकृति के सहज मौदम से दूर होना चला जा रहा है। वह सब बुद्ध पर धा जाना चाहता है। किंतु उसकी अनुभूति की कोमलता विनष्ट होती चली जा रही है। मानो यह विकास गुलाब के फूल का महत्त्व केवल इतना मानेगा कि उसमें से इत्र निकाला जा सकेगा और बाकी सब व्यर्थ होगा।

किंतु मनुष्य का हृदय यह स्वीकार नहीं करता। प्रकृति से मनुष्य सधर्य इसलिए करता है कि प्रकृति को अपने लिए ऐसा दाना दे जो उसे मुफ्त दे। जिन पत्थरों से वह घर बनाता है, वे भी तो प्रकृति के ही अंग होते हैं। जिस बिजली का उसने काच में धर लिया है वह भी तो वस्तुतः एक प्राकृतिक वस्तु है।

और काव्य जीवन की एक अनुभूति ही नहीं, वह तो उसके जीवन की विभिन्नता से उत्पन्न मनुष्यियों का प्रसार है। व्यक्ति सबको देखता है और उस सबका उसपर

प्रा गई प्राणी धिरे
 बादल घने आकाश में
 धूल के तघु पृष्ठ बोले
 फूल के इतिहास में
 प्राण की चिनगारियां
 उडने लगीं मधुमास में
 शक्ति की विद्युत जलो तब
 भ्रित बन विश्वास में
 साधना-सी जा रही।

—कैदारनाथ निध 'प्रभात'

ऐसे समय में चाँदनी का अपना महत्त्व नहीं रहता। वह प्रकृति की एक क्रिया-
 मात्र रह जाती है और कवि-मानस उससे प्रभावित नहीं रहता। उसकी दृष्टि केवल
 दार्शनिक बनकर रह जाती है। यह चित्र सहज भी नहीं होते, यद्यपि होते हैं गभीर।
 यदि धैर्य से उनपर चिंतन किया जाए तो ही वे भाव जगाते हैं और ऐसे जोकि काफी
 गहराई तक प्रभाव डालते हैं। किंतु इतनी क्रिया हो जाने पर वह कविता नहीं रहती,
 दर्शन प्रा जाता है, बहुत मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया हुआ दर्शन। वैसे यह सहज का मार्ग
 काफी हद तक स्थूल है, जो गहराई को एकदम से अलग करके रख देता है। रूप का
 आवास लेकर नयनो में चाँदनी मोतियों की हँसी-सी बिखेर देती है। तब शून्य शब्द बन
 जाता है, किंतु कवि ने यहाँ भ्रम छोड़ दिया है। हम कह सकते हैं कि शब्द शून्य बन जाता
 है और व्यापक रूप में शब्द एक प्रभिव्यक्ति है, तो शून्य उसका स्वरूप। इस प्रकार दोनों
 एक ही ठहरते हैं। सौंदर्य की प्यास दोनों में है। चाँदनी के उपरांत दूसरे प्रकृतिरूप को
 खिंच देखने लगता है। और चाँद जब जीवन का साथी बनता है तब वह बहुत ही तीखा
 चित्र सामने उपस्थित करना है जिसमें सधर्म भी है।

मेरे बचपन का साथी यह चँदा मामा
 मेरे आँसू देख जिते माँ निकट बुलाती
 तुम कहते हो किसी सुदरे-सा सुदर है
 जितका यौवन चुरा निशा नभ में मुस्काती;

×

मुझे पाद है जब मेरी तुतली-सी बोली
 रोव चाँद से परती पर आने को कहती
 तब मेरे नन्हें हाथों में देकर रोटी
 मुझे परा का चाँद दिला माँ यो बहलाती

ओढ़कर चांदनी रात का आवरण
भूमि की सेज पर सो गए धूलिकण
सिंधु की गोद में सो रही है लहर
फूल के शंक में तो रहा है अमर
चांद सो भी रहा दूर आकाश में
लाज भी सो रहो है प्रणय-पास में
नींद है स्वामिनी दास है जागरण
चेतना बदिनी, मुक्त है जागरण

—संगवत्स मिथ

सिंधु की गोद में लहर सो गई है, और भूमि की सेज पर धूलिकण चांदनी रात का आवरण ओढ़कर सो गए हैं। लाज प्रणय के पास में सो गई है। जागरण दास हो गया है, क्योंकि नींद स्वामिनी है। चेतना बदिनी है, परंतु जागरण मुक्त है। यह कैसा विरोधाभास? यहीं कवि का चमत्कार है। यह वह जागरण नहीं है, जो आलस खुलते में मिलता है, क्योंकि वह तो दास हो चुका है और उसके साथ ही चेतना भी बदिनी हो चुकी है। यह जागरण है नींद के भीतर का जागरण, जिसे कहते हैं स्वप्न, वह अवस्था जब सोते हुए भी प्राणी यही अनुभव करता है कि वह जाग रहा है।

लेकिन अब चांद कैसा लगता है? रेदामी, गीला, मुनहरा। अर्थात् उसकी स्निग्धता, उसकी कमनीयता आगे आती है।

रेदामी, गीला, मुनहरा चाँद

घरती पर उतरना चाहता है।

सौगुनी रपतार से भयभीत पृथ्वी भागती है।

प्यार का घट रिक्त, मन के स्वप्न के घनश्याम सारे,

केठ की जलती दुपहरी में, विजन की डूंगरी के

देव मंदिर की फटी-मैली ध्वजा से उड रहे हैं सूखकर।

विजन की डूंगरी का प्रयोग राजस्थानी है। उसकी कल्पना करने की किसी डूंगरी के देवमंदिर को देखना आवश्यक है। न्यास में अपनी कल्पना और वास्तविकता का संपर्क बल रहा है। कल्पना वार-वार सुन्दरता की और ले जाती है, किंतु यथार्थ सिर पर हथौड़े से मारने लगता है। कितना करुण विद्रूप है! तभी तो कवि भी नीचे उतरकर देखता है

मास-भग्नाहोत, सकडो का बना

मनुपुत्र पोता बीडियां घाघे जले भट्टे उठाकर

हो रहा निर्माण, नव निर्माण, सारे बिस्व में

भव-दव-तरु का दीपक
 फंता प्रकाश अमलक ।
 आलोकित धरा-गगन
 विस्मित है विपिन सघन
 मूक खड़े हैं तर-गगन
 किरनो की पहने सक् !
 फीके पड गये नखत
 इन्दु-ज्योति क्षत-बिखत
 सकल ज्योतियाँ आनत
 कम्पित तम-उर धक-धक ।
 विप्लव दीपक जगमग
 आलोकित नवयुग-भग
 शीतल जन-जन-मन-दृग,—
 दीप जले जुग-जुग तक ।

—अनन्तकुमार 'पाषाण'

विप्लव के दीपक के जल उठने पर ही नवयुग का मार्ग आलोकित होगा, जन-जन-मन-दृग में शीतलता छाएगी और यह कवि की कामना है कि यह दीपक युग-युग तक जले। किंतु इस गीत की अभिव्यक्ति केवल समाज के राजनीतिक रूप तक ही सीमित नहीं है। वह सांस्कृतिक पक्ष भी लेता है और प्रकृति उसका प्रतीक बन जाती है। वस्तुतः भव-दव-तरु का दीपक अद्रमा नहीं है। वह तो इस नई ज्योति के आगे क्षत-बिखत हो गया है और सकल ज्योतियाँ सिर झुका गई हैं। अधकार का हृदय धक-धक कर रहा है। अभिव्यक्ति छायावादी शब्दावली में प्रस्त है, परंतु वस्तु उसके बाहर की है। मैं जब छायावादी कहता हूँ तब मेरा अर्थ यहाँ उस शैली-विशेष से है जिसमें ऐसे शब्द रखे जाते हैं जो केवल व्यंग्यार्थ में अपना अर्थ प्रकट कर सकें। अन्यथा वे ठीक तथ्य पर नहीं ले जा सकते। यहाँ मैं अलकारों की खोज करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाँति घिसी-पिटी लकीर पर नहीं चलूँगा।

निराशा में चढ़ा का दर्जा गिरता है। "बयोचाद कब्र बन गया, चाँदनी छार बन गई। मौन मरण की बोहो में लहरें क्यों सो गई? जिंदगी की जीत क्षण-भर में हार क्यों बन गई? ओ जिंदगी! भागो मन। छाती में अब भी गुम्हारा प्यार जीवित है।"

(राजेन्द्रकिसोर)

पराजय में उठता ही लगता है सब। परंतु मुझा अब चाद से गीत में अधिक मानी जाती है: "प्रणय को सपुर रागिनी मिन गई है, जिस तरह स्वातिवण सोप में

कहतो नयी जिंदगी कह रही है
पुरानी विगत स्वप्न में बह रही है।

×

मनुज से बड़ा सत्य कोई नहीं है
मनुज से बड़ा सत्य कोई नहीं है
समुम्मत जीवन गरल पी रहा है
इसे मुक्ति दो, पातना से बचाओ,
कहाँ मुक्ति इसकी, मुझे यह बताओ ।।

— उदयशंकर भट्ट

चारों ओर चाइनी धिटकी हुई है। पूर्णिमा मुखद गीत गा रही है। मनुष्य भी नये मोड़ पर आ गया है और पुरानी चेतना में उमका अब गपर्ष हो रहा है। वह किसे मुला दे और किमका स्वागत करे। क्या स्याज्य है? क्या प्राप्य है। नई जिंदगी बोल रही है घोर पुरानी जिंदगी स्वप्नवत् हो गई।

अब कवि हठकार कर नई मान्यता को स्थापित करता है कि मनुष्य में बड़कर कोई सत्य नहीं है। एक दिन चंडोदास ने भी कहा था, "शावार उपरे मानुस सत्य, ताहार उपरे नाइ।" नया कवि भी यही कहता है—मनुष्य से बड़कर सत्य ही नहीं, कोई सत्य भी नहीं है। है तो वैसे सृष्टि में बहुत कुछ किंतु मनुष्य तो जो कुछ जानता है वह अपनी ही बुद्धि में न? अतः यह ज्ञान उन्नीकी देन है। हमारी सीमा ही ऐसी है कि हमें अभी तक उमें ही सर्वांतरि स्वीकार करना पड़ता है। आज की विपमता ऐसी है कि जीवन की विग ही पीना पड़ रहा है। इसे किसी प्रकार बचाना होगा, इस याचना से मुक्त करना होगा।

सजल मानव के प्रति मवेदना एक पक्ष है। हमारे पक्ष में कवि यह मुलझाने का प्रयत्न करता है कि उमका अपना जीवन इतना दुखी क्यों है? उमें सुदरता से प्यार है फिर भी वह मुली नहीं है। मत्र तो यह है कि वह सौंदर्य के रहस्य को नहीं समझता, और इन्हीं कारण वह यह भी नहीं सोचता कि वह कुछ अलग है, बल्कि मवमें बधा हुआ नहीं है।

मुझे लुभाना गीत चाँद की उजली-उजली प्रीत का
समझ न पाना भेद चाँदनी के मधुमय सगीत का,

×

सुनते हूँ सागर से उठते भीठे-भीठे गान भी
क्या जाने क्या बात कि मुझको मिलते हैं तृफान ही,

×

ग्रहकार बोलता है—सुधा तो है, पर मेरे गीत में है। आओ समर के लिए तत्पर हो जाओ। किंतु जिसे ईश्वर में विश्वास है, वह कहता है

यह मधुर यामिनी, चँत चाँदनी
 टेर रही है द्वार - द्वार
 खोलो किवार, खोलो किवार।

×

दो घड़ी तुम्हारे लिए धाज
 प्रभु ने खोले हैं स्वर्गद्वार।

—नेमरी

इन जीवन में परमात्मा ने सब तरह के दृश्य तुम्हें दिए हैं। सीदर्यं तुम्हारी उदात्त भावनाएँ जगाने के लिए है। उसकी उपेक्षा मत करो, तुम कुछ भी करना चाहते हो, उसे अवश्य करो, किंतु कभी भी यह मन भूलो कि तुम नियामक नहीं हो, सीदर्यं का सिरजन करनेवाला एक श्रौत है, जो तुममें भी ऊँचा है। तुम निमित्त हो, भले ही अपने ग्रहणार में 'उम' देखने से इकार कर दो। उसकी छवि सचमुच कहीं अधिक अपरूप है।

तगो है सुधि की रेशम डोर
 झूल रहा आँसों के पलने में मेरा चितचोर
 तिधु-सी उसकी स्वप्न - हिलोर—

—नेमरी

प्रभु की बात इस युग के कवियों में नहीं के बराबर पाई जाती है। यह नहीं कि सब ही नास्तिक हो गए हैं, किन्तु अब नये-नये उपमान रखे जाते हैं। नये-नये प्रतीकों से प्रभु को याद किया जाता है।

इसमें देश, जाति और प्रकृति सबका भी समन्वय हमें कहीं-कहीं मिल जाता है।

राजसिंहपुरी की एक कविता में ऐसा चित्रण बहुत आकर्षक हुआ है। नारी-हृदय प्रायः ही समर्पण में सीदर्यं देवता है और भारत में तो यह विशेषता है। अर्चना के जलजान इसी दृष्टि में खुले जाते हैं।

चादनी सा गात लिए धरती हसती है। भारत मुक्त हुआ है। उसके आनंद से हृदय सराबोर है। पृथ्वी और आकाश दोनों में ही दीपक जल रहे हैं। आकाश के दीपक नशत्र हैं, जो अर्चना के जलजान में दिखाई देते हैं। धरती एक सीप की तरह अपने में मोती दिपाए हुए है। कीमुदी से पथ लिप गया है। यह कितनी मनोहर अभिव्यक्ति है।

देशभक्ति-मनधी कविता में चादनी का ऐसा वर्णन हमें अन्यत्र नहीं मिला है इसलिए भी इन कविता का अपना महत्त्व है। भाग्य, 'दीप वाला देश' है

गुनगुनाती भी हवा चुप हो गई
जागकर तरुदोर जैसे सो गई
मुद्दती के बाद पाया था जिसे
बीज आलीशान मेरी लो गई

गम की दुनिया का यही पंगाम है
हर सुबह के बाद होती शाम है
हर कदम पर भुङ्किलो का सामना
जिदगी में फिर कहां आराम है।

—नर्मदेश्वर उपाध्याय

अंग्रेजी की एक प्रसिद्ध कविता है जिसमें पार्श्वार्थ वेदना ने पुकारा था—
यदि हमें (पैड पर चढ़ती गिलहरी इत्यादि को) खड़े होकर निहारने का समय
ही नहीं है, तो यह चिन्ताग्रस्त जीवन है क्या ?—इसी प्रकार हिंदी का कवि भी प्रेम
और सौंदर्य को देखता है परंतु उसे परिवर्तन और वंपम्यो ने व्याकुल कर रखा है।
उसके जीवन में कहीं भी आराम नहीं है। पुराना कवि कभी ऐसी परेशानी में नहीं पड़ता
था। वह समाज को आदर्श देता था, या फिर बगों और एक प्रकार से लोक को विलास के
गीत सुनाता था। 'प्रसाद' ने उन्हें के दुःखप्रतीत्य को प्रस्तुत किया था। उसीसे यह व्यक्ति-
पक्ष हिंदी में उभरता चला आया। आज भी यह समस्या है कि काव्य कवि के जीवन का
प्रतिबिंब है, उसके व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों का अंकन है, या वह समाज के लिए
एक प्रेरणा है। यह द्वन्द्व ऐसा उलझा हुआ है कि परस्पर रूप में दोनों ही पक्षों के अन्यो-
न्याश्रित रहने से दोनों के बीच कहीं एक रेखा नहीं खींची जा सकती। यूरोप और विशेषतया
अंग्रेजी काव्य में द्वितीय महायुद्धोपराग के काव्य में व्यक्ति-पक्ष को अब प्रायः किसी पात्र
की वस्तुपरक (आवजेक्टिव) दृष्टि पकड़कर उसके द्वारा आत्मपरक (सबजेक्टिव) बनाकर
प्रस्तुत किया जाने लगा है। हिंदी में अभी तक यह रूप मुखर नहीं हो सका है। यहाँ
प्रयोगवाद अभी मानसिक उलझनों में ही डूबने की चेष्टा में रत है।

'गिश्त की राका निशा' इसी उलझन का एक अच्युत-सा उदाहरण है। उसने
सब कुछ देखा, मारा मर्तीत। और उसे लगा कि बँसे उसके लिए अब कुछ भी शेष नहीं
बचा था। उससे पहले ही कवि सब कुछ लिख चुके थे

बचना है चाँदनी सित

भूँड वह आकाश का निरवधि महत् विस्तार

गिश्त की राका निशा की शक्ति है निस्तार !

दूर वह सब शक्ति, धह सित भम्पता, वह शून्य के अवलेप का प्रस्तार

दपर केवल भ्रूलमिलते चेतहर, दुपर कुहासे की हवाहल-स्निग्ध मुट्ठी में

शतभ - सा उन्माद लेकर चूमने नख-ज्योति तेरी
मिट चला वह प्यार तन्मय ।
धरण में उत्सर्ग जीवन-दान तो है ।

—राकुन्ना रेणु

व्यक्ति को इतना महत्त्व काव्य में पहले नहीं मिला । पहले कवि को बाह्य आधार मिलता था । अब उसे स्वयं ही अपना आधार बनाने की मजबूरी है । यह जिम्मेदारी बहुत बड़ी या पड़ी है । “मैंने तो तेरी एकाकी भक्ति मागी थी । पर उस एकाकीपन ने जग की सारी सीमा नाप डाली । वह तो अपार सिन्धु बन गया और मैं उतराती फिरने लगी ।” (विद्यावती कोकिल)

इसीलिए यह सकट आया है कि क्षण में कुछ और दूसरे ही क्षण कुछ और दिखाई देता है । इसीसे चमत्कार भी अपना सबल खोज पाया है ।

काव्य की मिठास केवल चमत्कार में नहीं रहती । अरूप को विचित्र अरूप के माध्यम से चित्रित करने पर काव्य उज्ज्वल हो जाता है ।

जहाँ चमत्कारमात्र ही प्रमुख रहते हैं, वहाँ भाव भकभोर नहीं करते । केवल प्रकृति के क्षेत्र में जब उनका मन सहज रूप से मिल जाता है, तब वे ऐसे नहीं रहते । अपुनिकता की बनावटी लगाम ढीली कर देने पर उनकी भाषा का अदब हिरन की तरह नहीं चलता । ऐसे कवियों को चुनौती दी है गिरिजाकुमार ने और कहा है

उजला पाख खवार का फूला कास - सा
खिली चाँदनी रात कि कली मुहाबनी,
नरम नखूनो रग घुले आकाश में
रची हुई है पूरनमा की चाँदनी,
उडती भीनी गध हवा में दूब की
बिल्लरा सोई कोरे कुतल कामिनी,
खुली ओस में बिधी दूधिया सेज-सी
पानी-सी ठडी है रितु मनभावनी ।
आसमान में भरत श्वेत रस सोमका
नपनो में मद-भरी जलोई भूततो,
हिम के मृग भर रहे चौकडे चाँद में
नवल नारि-सी भलस केतकी फूलतो,
उभरे रोएँ घुवा गई है चाँदनी,
सौंग नुकीले सुभा गई है चाँदनी,
घबल नपनी गोरी हिरनी चाँदनी ।

—गिरिजाकुमार माधुर

शुधि शुभवसना स्वर्ग की उतरी परी, नीरघ नूपुर
 यौवन मधुर, कर्पण प्रचुर
 सहसा उठा बज विश्व-वीणा में अनोखा कौन सुर
 नीलाभ नभ हरिताभ भू कित मंदिर मधु में है सना ।

×

यह चासना की लाज पर सहसा रसा बिसने कफन
 हैसता कभी जीवन हमारा, आज ज्यो हँसती हिना ।

—हस्तुमार तिवारी

ओह ! कैसा उल्लाम है । अब क्षीरसागर उमड़ता चला आ रहा है, यह क्या चादनी-भर है ? स्वर्ग से परी उतर रही है । इसीको घानद की तृप्ति कहते हैं । विश्व-वीणा में जिसने कान लगाकर मधुर स्वर सुन लिए, वह तो आकाश और पृथ्वी को मंदिर मधु में सना हुआ देख रहा है । यह लो ! अब शरद ऋतु आ गई । वह तो आगन है चादनी का ।

आई आई शरद ऋतु आई ।
 धरती पग मन्द मधुर, लखती जल विभल मुकुर,
 तिरती ताली में नव परछाईं ।
 खोले हैं नयन कमल, डोले हैं अग चपल,
 वांटे पूनम को बदन लुनाईं ।
 सोलह सिंगार किए, अमृत रसधार लिए,
 फूल शेफाली में मुस्काईं ।

—सुमित्रा बुमारी मिन्हा

पूनम को मुदरता मिली है, शरद के मुख के लावण्य से । 'लोना लोना मुख' है । धरती का प्यार उस समय जगता है, जब व्यक्ति अपने को सन्तुष्टि सीमा से बाहर निकाल लाता है । शेफाली में जब शरद अमृत रसधार लिए मिल जाता है, तब कवि-हृदय एक आस्था में विश्वास रखता है, उसकी वासना अधिकार में अपने-आप को समर्पित नहीं करती ।

सराजोर मस्ती से कवि नाता है कि स्वर्ग की संपूर्ण सुपमा ही यह चादनी है । चाद ऐसा कमल-सा खिला है—और भी सौ दबो वाला—जैसे दूध के समुद्र में उग आया हो । आज आकाश और पृथ्वी घपने हो गए हैं

नयन मत उन्मादिनी
 आज निकली चादनी ।

आज केवल शून्य ऊपर, शून्य ऊपर
 स्वर्ग की संपूर्ण सुपमा आज भू पर !

फिर उसे धयो हो न विभ्रम !
 गुञ्जरित वातावरण है !
 दूष से मानो, धुला
 शरकाग का अत करण है,
 स्वप्न में भी चौक उठते
 प्राण शशि को देख अनुपम !

—आरसीप्रसाद सिंह

इस गीत में न कोई विशेषता है, न कोई चमत्कार है, किंतु यह है बहुत सुन्दर !
 ऐसे मौके पर बड़ी मुग्धता हो जाती है। कहा उमली रखी जाए ! किंतु यह सौंदर्य इसकी
 अनुभूति में ही और कही नहीं। 'आज' में ही एक आवेश है, और वहीं से इसमें पकड़ आ
 जाती है। ऐसा कल नहीं था, 'आज' ही यह बात है।

एक युवक कवि को यह चंद्रमा भी काला दिखाई देने लगता है
 नीम के पीछे उगा है

चांद पूनम का सलोना ।

हैं बगीचे में जुड़ी रंगीन कलियों की सभाएँ,
 हैं विटप के एक इगित पर लिपट जाती सत्ताएँ,
 ले रही श्रेंगडाइयाँ किरणें सिहरते पल्लवों पर,
 घल रहा मू पर गगन का

एक जाड़ू, एक टोना ।

एक है वह रात, जो है हंस रही धूम्र उठाए,
 एक तुम हो, रह गई जो भूमि पर श्रॉलें गडाए
 क्या लजाती हो भला इस चांदनी, इस चंद्रमासे !

चंद्रमा तो है तुम्हारे

रूप का केवल दिठोना ।

— रामकुमार चतुर्वेदी

अपनी-अपनी आल टट्टरी । प्रिया का मुख इतना उज्ज्वल है कि उसे नजर न
 लग जाए इसलिए माथे पर लगाए काले दाग-सा लग रहा है चंद्रमा । प्रेमियों ने काले
 तिन को गोरे गाल पर देखकर बड़ी हाय-हाय की थी। बिहारीलाल चांदनी में राधा
 का तन ही नहीं देख पाया, क्योंकि वह भी गोरी और राधा भी गोरी। मगर आजकल
 होते तो तोहा मान गए होते ! कि चंद्रमा केवल दिठोना है ! जीवन भी कैंसी रस-भरी
 अवस्था है, जब अपने सामने कुछ दीपता ही नहीं। इस कविता को पढ़कर मुझे अनुभूति
 की वह बात याद हो आई जहां उसने कहा है कि सरस्वती मेरे पीछे ऐसे चलती है जैसे

नीलम के आँगन में शोभित
जैसे चाँदी का पाल धवल ।
पीपल-तट्टा से निकल रहा
यह चाँद मधुर ऐसा लगता
शिशु, माँ के कंधे पीछे से,
प्रकटा हो ज्यों करता 'स्या-स्या' ।
यह घुनी रुई-सा स्वच्छ विमल
यह दुग्ध धवल, हिम-सा शीतल,
चाँदी का चमकीला उज्ज्वल
किरणों का स्पर्श सुखद लगता,
जैसे शिरोव के कुसुमों के
सुरभित पराग के तनु मृदुल,
या शिशु के गभुआरे कुन्तल ।
यह गोल-गोल, गौरा, भलमल,
ज्यों मधुवन में तमाल-तक-तल
धौकृष्ण अंक से सटी खड़ी
राधा का सस्मित मुखमण्डल ।

—रामेश्वरलाल अष्टेयलाल 'तस्थ'

कालिदास में जैसा रगों का वैभव है, वैसा ही यहाँ भी है । उसने कहा है—ऐ
मेघ ! यहाँ नीलम की चोटी का क्रीडाशैल है, बगल में मरकत-सा कदली-कुंज है, सोपान
हैं मरकत-शिलाओं के, नीलम जल में हरितमृगाल-कमल हैं—हेमवर्णी । यहाँ नीलम के
आँगन में चाँदी का चमकता धवल चंद्रमा है, पीपल के पेड़ों के पीछे से ऐसा निकल रहा
है जैसे माँ के कंधे के पीछे से तुलनाता बच्चा बोल रहा हो । गभुआरे कुन्तल कितनी
मीठी अभिव्यक्ति है ! ऐसा है यह जैसे मधुवन में राधा का, तमाल के नीचे खड़े कृष्ण
के पास, मुस्कराता हुआ मुखड़ा । केवल सुपमा ही यहाँ चित्रित है ।

इस मस्ती में बहुत-से व्याकुल हृदयवाले अपने सपने डुबोते हैं, और खो देते
हैं । अनंत की भारिल व्यथाएँ एक सात्वना-सी पा जाती हैं

रात चाँदनी मस्त हवा है, नींद भरी-सी हूँ भरभर ।
स्वप्नलोक के गीत सुनाता चाँदी-सा भरना भरभर ।
मस्त बदलियाँ जैसे नभ के हो सुन्दर सपने मुकुमार
चले जा रहे निर्मित करने सुख का एक नया संसार ।

बड़ी मनोहर शब्दावली है, जो चादनी के विभिन्न प्रभावों को प्रकट करती है। किंतु इतनी ही सीमा नहीं है। इस युग में आकर विचारा चाद लगडा भी हो गया है। वह चादी की किरनों की बैसाखी लेकर चला आ रहा है

देख रहा हूँ—

रजत रश्मियों को बैसाखी कर में लेकर
बढ़ता आता चांद ज्योति के
जगमग पथ में—

—कन्दैयालाल चञ्चरीक

लगडा तो है, मगर है रश्मि। चलता है चादी की बैसाखिया लेकर। यह है चलते-चलते टिठका देना। 'मजाज' ने 'बनिए की किताब, मुल्ला का अममा, वेदा का शबाज, मुफ्तखि की जदानी' इत्यादि कहकर बद्रमा की बर्षान की है। ध्यान रहे बनिए की किताब से तात्पर्य वहीं से है, लिपटी हुई वही से, जिसके कोने नहीं दिखाई देते। बंते शेक्सपियर ने 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम' में बद्रमा के कोनों को पहले ही लालटन में घुसवाकर यह समस्या हल कर दी थी। और कहा है कवि ने.

प्रश्न मौन अघर

मुखरित हो जाएं तो रस बरसे,
लाज-भरे चाद नयन
स्यात् उठें, गिर जाए गाज कहीं
अचल के छोर अघर उड जाएं हीले से
शर्माए रूपति भी मन ही मन
कोऽस्तित्वम् ?

उत्तर

एक चित्तरे की कृति
यत्नल रेखाओं में सिमटी-सी।

—कन्दैयालाल चञ्चरीक

यह उसकी दूसरी प्रश्नोत्तरी है। रस बरगता है चादसे। पर अघरो से भी बरस सकता है, अघर के बोल पडें।

तो यों हम अपनी यात्रा में एक दूसरे छोर पर आ निकलते हैं। नये कवि को भोस नीली दिखाई देनी है। प्रायः भोस नहीं दीखती, पर जब उसपर किसी रंग की छाया पड़ती है तो दीखती ही है। हीरे-सी वह क्यों लगती है? किरन पडने से। पर नीली लगती है नीले आस्मान की छाया पडने से।

चाद आर्दना-मा भी लगता है।

चाद दही-सा भी दीखता है। यह मुझे ग्राम्यत्व दोष जैसी छटकनेवाली चीज

‘पूरा चाद’ मे जगदीश गुप्त ने इतना ही नहीं रखा है, अनबोधी किरन से उसके हाथ सवेसा भी पहुँचाया जा सकता है। मनमुच बड़ा मनोहारी चित्र है। प्रत्येक युग के कवि नये रूप गिरजते हैं। आज का कवि भी पीछे नहीं है। जो उपमाएँ लोक मे व्याप्त हैं, वे भी एक दिन ऐसी ही नहीं थी। एक ग्रामचित्र है

जुन्हाई खिली

पूनम विपची में चादी के स्वर भर

गाता है निभंर अकेला बिहाग

नभ को घटारी से चदन सुटाकर

घोता है राकेस सब दिन के दाग

सरसिज की पालो में दूधो किरण को

रजनी की मोठी पहुँचाई मिली

जुन्हाई खिली

भुरमुट की छाया में सारस की जोड़ी

सोयी है दुबकी-सी चोचें मिला

बगुलो की पाने पोखर के तट से

उडती है धुले-धुले डेने हिमा

उजली तहर पर फिसलती लताएँ

पेशो की चुप परछाई हिली

जुन्हाई खिली

कंचुल के पप पर सूने पहर में

तरहा सहमकर भरता छलाग

हँफती हुई हं ये जो नो नील गायें

ज्वारो के खेतो से झाई हं भाग,

ठण्डी बयारो से तिहरी हुई-सी

शोली है भोगी मकाई-तिली,

जुन्हाई खिली

—श्रीगणेशदास श्रीवास्तव

जुन्हाई खिल गई। चादी के स्वर भरकर निभंर गा रहा है। राकेस ने चदन बरसाकर दिन के दाग धो दिए हैं। दूधो किरण को सरसिज की पालो में रजनी ने पहुँचाई दी है। बहुत ही अच्छा कटा है। मैं उपादेयतावादिपों में नहीं हूँ जो इस कोमल कल्पना की मार्मिकता को नहीं देखूँ। कुत्सित समाजशास्त्री अग्रश्य इमे केवल सन्दो का खेल बहेंगे, किन्तु वह इसलिए कि वे प्रकृति और मानव-मन के गहन और गभीर सन्धो

रुद्ध, पयभ्रष्ट औ' विशिष्ट वासना-सौ अतृप्त
 कहीं पै दूर कभी एक-एककर किसीके प्यार-भरे गीत के
 दूटे-मे स्वर भूल से जागकर मानो तभी सो जाते हैं ।
 चाँदनी रात है चुपचाप समाप्त मोहित अचल दिग्गत के
 आश्लेष में सोयी, खोयी, अबूझ स्वप्न में,
 जैसे तूम हो, कभी चुपचाप अनायास मेरी गोद में
 सो जाती हो
 चाँदनी रात थी !

—नेमिचंद्र जैन

चित्र अवश्य सखे होते हैं, परंतु अततो गत्वा वातावरण ही सामने आता है, क्योंकि एक के बाद एक छवि जल्दी-जल्दी आती है जैसे कवि सबका अकन कर देना चाहता है। जिन कविताओं में चित्र की एकात्मकता होनी है उनका प्रभाव अधिक अच्छा पड़ता है, यद्यपि बात उनमें भी प्रेम की ही होती है। और छंद की गीतात्मकता के कारण छटर-छटर उनमें नहीं होती।

ले किरण की सहज बलियाँ ध्योम में
 चाँद खेता रहा चाँदनी की तरी
 और भुज - पास में तस्वरो को कैसे
 भूमि पर गीत गाती रहों बल्लरी—
 धू, तुम्हारी उठी, इदधनु लिच गया
 भर गई सब दिशाएँ मंदिर हात से
 प्राण मेरे रहें शून्य कैसे भला
 जब कि मुस्का रहे हैं तुम्हारे नयन

—राजेश दीक्षित

चाँद एक खिंचाया बन गया है और किरणों की बलियों से चाँदनी की नाच को खे रहा है। बहुत सुंदर कल्पना है। फिर चाँदनी में विलासपक्ष जाग उठता है और कवि को तृप्ति की प्राप्ति होनी है। ऐसा सतोष इतने सुन्दर रूप में कम मिलता है, क्योंकि प्रायः कवि दर्द की आँहे तो लेते हैं, पर यह साफ-साफ नहीं कहते कि उन्हें किसी स्त्री से प्यार है। कम देने में एक स्वस्थता रहती है और स्पष्ट ही यह 'रानी' वाला गीत नहीं है। ऐसे गीत जो स्नेह की तृप्ति देते हैं, उनकी तुलना में वे भीत रखे जा सकते हैं जिनमें घरेलू जीवन की छाया मिलती है -

रैन हुई उजियारी !
 चाउर चौक पुराण मेंने

ये, लेकिन सत्य हो नहीं पाते । तब वे अपने को सबसे कुछ घलग बना लेने की चेष्टा करते हुए भी दिखाई देते हैं कि मुझे साधारण मत समझो । कहते हैं
चाँदनी मेरा करेगी क्या ।

×

मैं निपट सीमेंट का हूँ पत्थर,
मेरे लिए भी है यही राही परम हित
सम्पूर्ण जीवन का
उसीको माध्यम बना मैं जान सकता हूँ
कि छाया दे रहे हैं पेड़
सुशब्द दे रहे हैं फूल,
घपकी दे रही है चाँदनी

×

मेरे हृदय हो तब तो !
चाँदनी मेरा करेगी क्या !

—भारतभूषण अग्रवाल

सीमेंट के पथ की यह हृदय के अभाव में लिखी गई कविता कितनी मजेदार है । छाया, सुशब्द, घपकी, सब ऐसे जाने जा रहे हैं, जैसे अनुभव किसीका नहीं किया जा रहा है ।

अब तो विचारा चांद कुछ जली-कटी सुनने लगा । यह तो मान लिया गया कि उसमें कुछ आकर्षक अवश्य है । एक कवि ने उस ज्योति के फूल को देखा । कुम्हलाया पड़ा था । जगत् ने उसकी सुरभि ले ली और काम निबल गया तो उसे भूल गया । ऐसा सदैव होता है । लेकिन विचारा चांद निर्वाण पा गया तो कोई बात नहीं, उसकी साधना तो सफल हो ही गई ।

आज कुम्हलाया पड़ा है ज्योति का यह फूल
ले सुरभि छाया जगत इसको गया है भूल ।
सफल इसकी साधना यह पा गया निर्वाण
बुझ गया पर खोच लाया जगत में सुविहान
हो गया निश्चित रवि को सौंप बुझती ज्योति के कणमात्र ।

—देवनारायण शर्मा

क्योंकि वह जगत् में बुझने पर सबेरा ले आया । और अपनी बुझती ज्योति के कणमात्र उसने रवि को सौंप दिए, वह निश्चित हो गया । मर गया ।
इतनी-सी रही आखिर चंद्रमा की महत्ता ।

मुग्ध चाँदनी सौरभ-भरी जवानी में माती थी।
 चुपके-चुपके अपना कोई प्यार तिथे घाती थी।
 नयनों ही नयनों में कंसी हुई अनोखी बात !
 घनायास ही धिरकन करता रहा किसी का गात !
 तारों की स्वप्निल छाया में यह दुनिया सोती थी
 किन्तु किसीकी पायल फिर भी हनुक-भुनुक होती थी
 मेरे गीतों पर कोई शर्माया सारी रात।

—कुन्दन

तारों की स्वप्निल छाया में दुनिया सो गई, और किसीकी हनुक-भुनुक पायल बजती रही। और सारी रात उन्हें देख-देखकर चंदा मुस्कराता रहा। युवक जब कोई काम करते हैं तो समझते हैं कि उनसे पहले किमोने ऐसा काम किया ही नहीं। जवानी है ही ऐसी, कि उसे हर पुराना भी नया ही लगना है। विचार चाँद और करता भी क्या ! दिल के तारों पर सारी रात जाने कितने लोगों को वह गाते पहले भी सुन चुका है। इधर कोई गीतों पर शर्माता रहा, उधर चाँद मुस्कराता रहा। यद्यपि कविता में माधुर्य है किन्तु कवि का ध्यान इस बात पर नहीं गया कि क्या ध्वनित हो रहा है। क्या गीत इसी तामक से कि उनसे किसीको शर्म आती और कोई दूर होने के कारण चुपचाप मुस्कराता रहना ! आत्मस्वीकृति की कंसी अनोखी बात है ! लेकिन जीवन में मनुष्य यह कहाँ सोचता है कि उसमें किनासा ऐसा है जिसपर लोग मुस्करा सकते हैं। इस दृष्टि से यह कविता हास्य भी जगाती है, किन्तु जो युवक होगा और समान भोगी होगा, वह तो बड़ी लंबी घाटे भरेगा ! किन्तु जब व्यक्ति और भागे बढ़ना है तब उसमें घुटन पैदा होती है और ऐसी घुटन जोकि उसे भीतर ही भीतर खाने लगती है। ऐसा ही चित्र अचल ने दिया है

डूबती, पिछले पहर की

चाँदनी-सी अतमनी हूँ

आज मेरे क्षण भर कंसी अरुन अक्षिराम धिरती
 किम सिद्धर से आज तन-मन पर लुपा की धार गिरती
 दूर बजनी रागिनी-सो में उजड़ती लीन होती
 किस विफल बंबल्य में डूबी, सिहरती मुधि पिरोती
 साप मेरे डूबने मेरे कतंकी चाँद-तारे
 जो बने ये मार्ग-दर्शक इस अतमति के किनारे

संवेदना और स्वानुभूति

मनुष्य प्रकृति का अंग है, और अंग होकर भी उसे जीन लेना चाहता है। किंतु हमरो और उसका समाज स्वयं बहुत दुःखी है। यह एक द्रव्य है। वह प्रकृति का आनन्द लेता है, तो मनुष्य का दुःख वह कहा मिटा पाता है। यदि वह समाज की विपमता में ही जकड़ा हुआ रहता है तो प्रकृति के बारे में वह लिखना ही क्यों है? या फिर उसका प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण क्या हो? यदि प्रकृति एक रहस्य है, तो कवि उसे रहस्य के रूप में ही देख सकेगा। यदि प्रकृति एक निरंतर चलता रहनेवाला क्रिया-व्यापार है, तो उसका चित्रण मनुष्य के हृदय में क्या संभव रहेगा? आनन्द वह यदि उससे प्राप्त करता है तो उस आनन्द में लोक को क्या लाभ? यदि दलितवर्गों को भी प्रकृति के चित्रण में आनन्द मिलना है तो क्या वह मनुष्य को उसकी विपमताओं के यथार्थ से अलग कर देना नहीं है? ऐसा काम क्या अतत्त्वोक्त्वा यही प्रमाणित नहीं करता कि कवि वास्तव में उच्चवर्ग के हाथ में खेल रहा है? यदि समाज के ही चित्रण में कवि डूब जाता है, प्रकृति के सौंदर्य इसलिए नहीं देखता कि उसके पास तत्काल अन्य और अधिक महत्वपूर्ण समस्या है, तो क्या वह मायनोवम्बी की भाँति ही केवल नागरिकता में ही फँसा नहीं रह जायेगा? ऐसे लोग जो तत्काल को ही सार्वकालिक मानते हैं, यह भी मानते हैं कि मनुष्य का मनुष्य से पहना संबंध है। प्रकृति को रहस्य के रूप में क्यों रखा जाए, जब विज्ञान निरंतर उसके रहस्यों को खोलता जा रहा है। ऐसे समय में प्रकृति की उपामना करना मनुष्य की प्रगति की अवहेलना करने के समान है। किंतु अन्य कवियों को यह जीवन की एक याथिक-भी व्याख्या मालूम देती है। वे मनुष्य की चेतना को अधिक व्यापक बनाना चाहते हैं और मनुष्य-समाज के भीतर ही उसे बंद नहीं कर देना चाहते। वे प्रकृति के विराट् कार्य-व्यापार को देखना भी चाहते हैं। इन्हीं अनेक समस्याओं ने नये कवियों को प्रकृति के संबंध में एक वेदना दी है, जो कवि-जीवन के विभिन्न कार्य-व्यापारों के माध्यम से प्रस्तुतित हुई है। इस नई चेतना का एक रूप यों

लचक-लचक कर चलने वाली हवा अनोखी
तहर बन गई नई चेतना के सागर की।

भारतीय परंपरा में वैसे तो पत्नी-मिलन की परंपरा है, परंतु प्रेम-मिलन भी कम नहीं है। इसीलिए स्वकीया का महत्त्व ही कार्य रूप में प्रयोग करनेवालों ने राधा-कृष्ण के परकीया प्रेम का रस खूब लिया है और एतराज करनेवालों को आत्मा-परमात्मा का नाम लेकर चुप कर दिया है। हमारा नया कवि किसी दूसरे की पत्नी को नहीं चाहता, कुमारी-प्रेम में रत है। समाज उसे घुसने नहीं देता। मजाज के शब्दों में

हमें यह बाँध रखी है हरम के पासबाँधों ने

कि विन मुजरिम हुए संगम भी पहुँचा नहीं सकता।

जहाँ तक हिंदू समाज का साधारण मानसिक स्तर है वह तुलसीदास के काव्य के लिए उपयुक्त है, जिसमें समाज के अनेक पक्षों का धार्मिक विवेचन है। इसके-मिजाजी पहले भी थे, लेकिन उन्हें केवल मनोरंजन के लिए लिया जाता था। अब अंग्रेजी पढ़े युवकों ने व्यक्तिपक्ष को पकड़ा। साधारण जीवन में अब तुलसीदास का सस्ता संस्करण मैथिलीकरण गुप्त है। तो नया कवि अपने पाठकों में मध्यवर्ग से नीचे नहीं उतर पाता। निम्न मध्यवर्ग में भी नहीं, क्योंकि दैनिक जीवन ऐसा घिरा हुआ है, अभी तक अपने धार्मिक कार्य-कलाप के अधकचरे विदवालों में कि उसका नये कवि और उसकी आधुनिक मान्यताओं से पूरा मेल नहीं बघता।

दास-जीवन में कवि ने स्वतंत्रता को प्रमुखता दी।

घूल उड़ती है नगर में

साँभ भटमैली उतरती,

और दिन की हड्डियों की

राख है नभ में बिखरती।

कांपती है सभ्यता,

दीवार पर दीवार गिरती

और टूटी मज़ारों पर

आंसुओं की धार गिरती।

बज रहे घड़ियाल मंदिर

गूंजते हैं भारती से,

आज मेरा गीत प्रेरित

है स्वयं भाँ भारती से।

—नगदीश

दिन की हड्डियों की राख नभ में उड़-उड़कर बिखर गई। सभ्यता कापने लगी और पुरानी दीवारें ढहाने लगी। लेकिन दीवार पर दीवार का गिरना जिस गति को बताता है, वह काव्य-भक्त्य है, लोच-भक्त्य नहीं। आज भी स्वतंत्रता, आधुनिकता पढ़े-

मे ही मन सीमित रहो, जीवन का आनन्द भी लो। पर वह यह भी जानता है कि वासना से तृष्णा का अन्त नहीं होता। सारी रात चन्द्रबन्धु से भीगा चाँद सबेरे भी मधु की प्यास ही लोचना रह गया। कवि नहीं समझ पाता कि अब क्या बाकी रह गया, क्योंकि वह तो तृप्त हो चुका है। पर वह समझता है जो अभी प्यासा ही है

दलता नीरव चाँद गगन में
आधी रात गई, आधी रात रही।

साँझ तो गई दीप जलाकर जागो नहीं प्रभाती
जल-जल आधी रही गगन पर तारो की हर बातो
अभी जगत के बेमुष नयनो में है स्वप्न अग्रधूरा
मूक सँदेशो में प्रिय तुम तक
आधी बात गई, आधी बात रही।

X

निशि के सपनो में अम्बर पर खली चाँद की डोली
पर उस पथ तक पहुँच न पाई किसी प्रात की रोली
गीतों के सब द्रुत लज्जिले तुम तक पहुँच न पाते,
दूर पिया के देश हृदय की
कुछ सौगात गई, कुछ सौगात रही।

—गगनप्रकार चतुर्वेदी

चाँद की डोली जा रही है। वहाँ तक कोई प्रभात भी अपनी लालिमा को नहीं पहुँचा पाता। क्यों? पहुँचाएगा कैसे? प्रभात को सपना कहा मिलता है जिसके अन्तर तक वह चढ सके। गीतों के द्रुत तो लजा जाते हैं, पहुँच ही नहीं पाते। चदा वास्तव में यहाँ पुरय के रूप में नहीं, स्त्री के रूप में है। एक ओर पिया का देश है, दूसरी ओर डोली। डोली स्त्री के साथ ही प्रयुक्त होता है। अन्त यह विरोध अक्षर सकता है।

और महा चाद और तारो के सपर्प का एक चित्र है

“चद्रमा की राह पर निर्मम वाँच के टुकड़े कौन बिछाता है? कौन-सा नाटककार दिनाकर रात-दिन के काले-सकन्द पदों गिराता है। गगन में सुख-दुःख लोचते आज भी सूरज वहाँ से आ रहे हैं? सारे सितारे रात की अर्धी उठाये लिये जा रहे हैं। किंतु फिर से अरण उपा जैसी क्षितिज की रूह बिखरी आ रही है।” (शिवबहादुर सिंह)

चादनी दर्शन का आघार बन गई है। कौन करता है यह सब? किसके कारण यह सब होता है? समस्त मृष्टि में क्या सुख और दुःख व्याप्त है? सितारे रात की अर्धी उठाए लिये जा रहे हैं। मानो रात मर गई है क्योंकि वह अपकार का रूप है। ज्योति के प्रतीक हैं सितारे। अन्त वे जीवन के प्रतीक हैं। वे उठाकर इस रात को चिनारे लगा देंगे,

जा रहे हैं, यह पता नहीं चलने पाता। सितारे भी दगा करने पर उतारूँ हैं। चांद सोने नहीं देता, क्योंकि जवानी तो हर हालत में जवानी है। और देह और मन का हाल यह है कि असमय में ही पतनर छा गया है। जिसको जड़ों में पानी न पहुँचे, उसका और होगा भी क्या ! जो कुछ है एक गरीब की हसी उड़ाई जा रही है। किसीमें भी सहानुभूति नहीं।

तब एक विश्वास और बोलता हूँ

बाँदों के सँपों-सी बल खाई नदियों की

कल-कल, छल-छल के उस पार—

कि, देखो !

पवंत की उस स्याह ऊँचाई पर से कोई भाँक रहा है,

उठ सकती किस हृद तक ऊँची

इस धरती की कुचली मिट्टी,

लाल रंग से आसमान पर भ्राँक रहा है।

—नवरत्न मर्यादार

भाषा बहुत बड़ी है। दूर पर जहाँ पारथम्य का फल दिखाई दे रहा है, जहाँ अपने अरमान पहुँच रहे हैं, जिसे हम एक ऐसी ऊँचाई समझते हैं, जहाँ तक पहुँचना श्लाघ्य है, वहाँ तक कवि का विश्वास उठता है। इस धरती की कुचली मिट्टी कितनी ऊँचाई तक उठ सकती है। देख रहा है प्रकाश का प्रतीक कि मनुष्य की गति कहाँ तक हो सकती है। वह मनुष्य जो कि कुचला पड़ा है, उसका उत्थान कहाँ तक संभव है। प्रायः ही माटी आज मानव और जीवन का प्रतीक है। कल तक हम माटी को भौतिक-भौतिक बटकर इसे तिरस्कृत किया जाता था, क्योंकि मनुष्य को आत्मा के रूप में देखा जाता था। आज कवि के दृष्टिकोण में यह बहुत बड़ा परिवर्तन आया है कि माटी को वह अत्यधिक महत्त्व दे रहा है। आत्मा क्या है ? माटी की ही चेतना है। उसे माटी में अलग करके कोई देखना नहीं चाहता। यदि शंकराचार्य होते तो न जाने कितना शोक करते। तुलसीदास होते तो इस बात पर मिर घुमते कि जो सरस्वती राम का जप करने की मिली वह माटीस्तोत्र गाते हुए नहीं थक रही है। आज के कवि को यह बहुत करके लग रहा है कि उसके अस्तित्व में महत्त्व हो या नहीं हो, परन्तु उसका अपमान अवश्य ही रहा है। सारास में मैं कहूँ कि आज उसका अहंकार पुराने कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक है क्योंकि वह सब-कुछ अपने लिए चाहता है, जबकि पुराना कवि मानता था कि वह सब अपना नहीं है, हम तो एक सराय में आकर बसे हुए मुसाफिर हैं। दूसरा कवि कहता है

सहर सागर का नहीं शृंगार

उसकी विकलता है,

विषयवस्तु नहीं है। सजाव-सँवार से इनकी प्रतिभा में सर्जन भी कम ही है, परन्तु फिर भी कुछ रचनाएँ इनसे अच्छी भी निकल गई हैं, जिनमें वस्तु भी है। प्रयत्न करते रहने से प्रा ही जाती है। ऊपर की एक कविता इसीका आकर्षक उदाहरण है। प्रायः अज्ञेय की कविता उसके उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' के ढग की ही होती है, आत्मपरक ही, क्योंकि लोकपरक दृष्टि सहज होती है जो उत्पन्न की तरह कूटती है, जबकि आत्मपरक में बहुत चेष्टा करके लिखा जाता है और शब्दों के बमत्कार को अधिक प्रथम दिया जाता है। टी० एस० इन्डियट का प्रथम लेखकान्ते के लोग इन्डियट से कोई समानता नहीं रखते, क्योंकि उसमें जो 'कैथोलिक मानववाद' है वह इन लोगों में केवल 'व्यक्ति वैचिष्यवाद' मात्र है। परन्तु उपर्युक्त कविता इसके अतर्गत नहीं आती। चाँदनी की शुभ्रता जैसी यह है, बँसी ही एक और स्थल पर हमें मिलती है पर दूसरे ही ढग से

शशि-शरद - शुभ्र ये शरद - अश्र !

हिमधवल कपोतो-से मज्जुल, अति मृदुल तूल के फाहो-से
या नभ-उर रह-रह मँडराते वर्षा को शेष मधुर मुधि से;
उजले - उजले बिखरे - निखरे
शशि-शरद-शुभ्र ये शरद-अश्र !

मस्तिष्क हृदय पर छा जाए वह प्रखर प्रखरता कब इनमें ?
नयनों में सहज समा जाए वह सहज सुघरता बस इनमें,
सुधि से उभरे, निज मुधि बिसरे
शशि-शरद - शुभ्र ये शरद - अश्र !

—दीपि

शरत् के मेघों का वर्णन कर रहा है कवि, परन्तु उसकी उपमा वह शशि-शरद-शुभ्र से देता है। यहाँ शशि एक तुलनीय है जैसे शिव का अट्टहास। सारा चित्र अपने-आप में अपूर्ण है, व्यर्थ है, यदि 'शशि-शरद-शुभ्र' निकाल दिया जाए। कविता में बिलकती धूप प्रा जाएगी, जोकि शरत् की विशेषता है। शरत् शशि को ही मूल तुलनीय व - का ने दृश्य को एक शीतल सिग्घता प्रदान की है, और वही इसका प्राण है। अब चाँदनी मूर्त स्त्री बनती है

नव अस्त की राका रजनी
पहन चाँदनी की चोली, छोटे अम्बर पट
गोरे नाजारण गालों पर
कतल केशों को बिखराए
जैसे स्वर्णिम स्वप्न-लोक को कोई दुहहन
भँका करती अपने ऊँचे राजमहल के वातायन से -

घिसे हुए पीतल-सी पाटुर
 पूस मास की धूप सुहावन
 स्तनपायी नीरोग गौर-ध्वनि
 शिशु के गालों-जैसी मनहर
 पूस मास की धूप सुहावन
 फटी दरी पर बंठा है चिर रोगी बेटा
 राशन के चावल से ककड
 खीन रही पत्नी बेचारी
 गर्भ-भार से अस्त-शिशिल
 है भ्रम-भ्रम,
 मुँह पर उसके स्टर्मली आभा,
 घप्पर पर बंठी है बिल्ली
 किसके घर से जाने क्या कुछ खा आई है
 चला-चलाकर जीभ स्वाद लेती होठों का
 सय कुछ है, कोयला नहीं है
 कैसे काम चलेगा बोलो ?
 चावल नहीं सिद्ध सकती है
 रोटी नहीं संक सकती है
 भाजी नहीं पका सकती है
 नरम-नरम ऊनी लियात-सी
 पूस मास की धूप सुहावन ।

—नागार्जुन

घिसे पीतल के रंग की-नी धूप । बहुत सुन्दर चित्र है । एक स्वरय बालक के गालों जैसी पूस की धूप । और फिर वह आना है घर की ओर । वहा कोयला नहीं है । बिना कोयले के रेल वा इंजन नहीं चलता । नागार्जुन की कविता कैसे चले ? अग्नि ही नहीं है । पूस की धूप का कवि क्या करे ? प्रकृति की पहली मांग है पेट की भूख मिटाना । दूसरी मांगें बाद में आती है ।

जीवन के दैनिक सघर्ष इनने कटोर हो गए हैं कि कवि घुटा जा रहा है । भूख कवि को पड़ोस में कुछ चाट आई जिनकी कितनी सुखी लग रही है कि वह बड़े ध्यान से उसको निहारकर उसका पूरा वर्णन करना है । जब यह समझा नहीं रहेगी, तब अवश्य इस कविता का महत्व कम हो जाएगा, किन्तु आज तो इसके तीनेपन में शक्ति है, यह मिलनून जलन बात है । कवि की दृष्टि एक ओर नहीं, सब ही ओर होनी चाहिए । यहा

धा गई झाँपी घिरे
 बादल घने आकाश में
 धूस के तट्टे पृष्ठ बोले
 फूल के इतिहास में
 प्राग की विनगारियाँ
 उड़ने लगीं मधुमास में
 शक्ति की विद्युत् जलो तब
 भक्ति बन विश्वरस में
 साधना-सी जा रही।

—केदारनाथ निम्न 'प्रभात'

ऐसे समय में चाँदनी का अपना महत्त्व नहीं रहता। वह प्रकृति की एक क्रिया-
 मात्र रह जाती है और कवि-मानस उससे प्रभावित नहीं रहता। उसकी दृष्टि केवल
 दार्शनिक बनकर रह जाती है। यह चित्र सहज भी नहीं होते, यद्यपि होते हैं गभीर।
 यदि धैर्य से उनपर चिंतन किया जाए तो ही वे भाव जगाते हैं और ऐसे जोकि काफी
 गहराई तक प्रभाव डालते हैं। किंतु इतनी क्रिया हो जाने पर वह कविता नहीं रहती,
 बसंत भा जाता है, बहुत मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया हुआ दर्शन। वैसे यह सहज का मार्ग
 काफी हद तक रक्षित है, जो गहराई को एकदम से अलग करके रख देता है। रूप का
 आकाश लेकर नयनो में चाँदनी मोतियों की हँसी-सी बिखेर देती है। तब शून्य शब्द बन
 जाता है, किंतु कवि ने यहाँ भ्रम छोड़ दिया है। हम कह सकते हैं कि शब्द शून्य बन जाता
 है और व्यापक रूप में शब्द एक प्रभिव्यक्ति है, तो शून्य उसका स्वरूप। इस प्रकार दोनों
 एक ही ठहरते हैं। सौंदर्य की व्यास दोनों में है। चाँदनी के उपरांत दूसरे प्रकृतिरूप को
 कवि देखने लगता है। और चाँद जब जीवन का साथी बनता है तब वह बहुत ही तीखा
 चित्र सामने उपस्थित करता है जिसमें सधर्य भी है।

मेरे बचपन का साथी यह चँदा मामा
 मेरे झींसे देख जिते माँ निकट बुलाती
 तुम कहते हो किसी सुबरो-सा सुबर है
 जिसका यौवन चुरा निशा नभ में मुस्कातो;

×

मुझे पाद है जब मेरी तुतली-सी बोली
 रोव चाँद से परती पर आने को कहती
 तब मेरे नन्हें हाथों में देकर रोटी
 मुझे धरा का चाँद दिखाना माँ पो बहलाती

आस्था दोनों के साय-साय चलने के कारण दो प्रतिष्ठापनाएँ सम-भाग चलती हैं, जिसका फल होता है विचार और भाव का साय-साय दिखाई पड़ना। कभी-कभी हम व्यापक में भी मरोच की देखते हैं।

प्रतीक्षा की बहुत जोहा बाट
जेठ बीता, हुई वर्षा महीं,
नभ धो ही रहा खल्वाट ।

×

आज होगी, सजनि, वर्षा, ही रहा विदवास
हो रही है अर्वात्त पुलकित ले रही नि स्वास
कित्तु अपने देश में तो
सुमुखि, वर्षा हुई होगी एक क्या कं बार
गा रहे होंगे मुदित हो सोग खूब मसार
भर गई होगी भरे यह धाम्मती को धार
उगे होंगे पोखरी में कुमुद, पद्म, मखान ।

—नागार्जुन

आकाश का खल्वाट रूप मन्त्री अभिव्यक्ति है। खल्वाट में दो भाव हैं। एक तो यह कि यहाँ से एक समृद्धि उजड़ चुकी है, और दूसरी यह है कि अब यहाँ कुछ जमेगा भी नहीं। खल्वाट में कुरूपता तो है, परंतु नीरसता भी है। कवि अब अपने देश को याद करता है। यहाँ वह संकुचित हो जाता है, क्योंकि देश और जन्मभूमि को मिलाना ठीक नहीं है, और फिर एक भूखण्ड की प्रशंसा निरवयव ही यह भी भाव जगाती है कि दूसरा भूखण्ड बुरा है। और कवि आकर वहाँ फल गया है। इस कविता का रस वही ले सकता है, जिसके यहाँ वर्षा जल्दी हो जाती हो। सौभाग्य से अभी कवियों में यह होड नहीं चली है यद्यपि इसका सूत्रपात कुछ गर्वीले कर चुके हैं। इस आत्मप्रशंसा से हमारे व्यापक दृष्टिकोण को धक्का पहुँचता है, अतः यह श्लाघ्य नहीं है। वस्तुतः जो यहाँ सुंदर है, वह है कवि का वर्षा का वर्णन और वर्षा की अनुभूति से जन्म लेनेवाला उसका आनंद।

‘एक क्या कं बार’ में तात्-पोखर लवालव दीखते हैं और वर्षा ऋतु का सारा गृहार सामने आ जाता है।

पुराना कवि सुंदर को ही अपनाता था। यद्यपि अब भी अधिक विविधता हमारे यहाँ नहीं आई है, फिर भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं।

‘बबूल’ एक देसी ही कविता है। बबूल पर बसत चाया और वह हरा हो उठता

भव-द्व-तरु का दीपक
 फेला प्रकाश अपलक ।
 आलोकित धरा-गगन
 विस्मित है विपिन सघन
 मूक खड़े हैं तर-गम
 किरनो की पहने छक् ।
 कीड़े पड़ गये नखत
 इन्दु-ज्योति क्षत-विक्षत
 सकल ज्योतियाँ आनत
 कम्पित सम-उर धक-धक ।
 विप्लव दीपक जगमग
 आलोकित नवयुग-मग
 शीतल जन-जन-मन-दृग,—
 दीप जले जुग-जुग तक ।

—अनन्तकुमार 'पाषाण'

विप्लव के दीपक के जल उठने पर ही नवयुग का मार्ग आलोकित होगा, जन-जन-मन-दृग में शीतलता छाएगी और यह कवि की कामना है कि यह दीपक युग-युग तक जले । किंतु इस गीत की अभिव्यक्ति केवल समाज के राजनीतिक रूप तक ही सीमित नहीं है । वह सांस्कृतिक पक्ष भी लेता है और प्रकृति उसका प्रतीक बन जाती है । वस्तुतः भव-द्व-तरु का दीपक धड़मा नहीं है । वह तो इस नई ज्योति के आगे क्षत-विक्षत हो गया है और सकल ज्योतियाँ सिर झुका गई हैं । अधकार का हृदय धक-धक कर रहा है । अभिव्यक्ति छायावादी शब्दावली में अस्त है, परंतु वस्तु उसके बाहर की है । मैं जब छायावादी कहता हूँ तब मेरा अर्थ यहाँ उस शैली-विशेष से है जिसमें ऐसे शब्द रखे जाते हैं जो केवल व्यंग्यार्थ में अपना अर्थ प्रकट कर सकें । अन्यथा वे ठीक तथ्य पर नहीं ले जा सकते । यहाँ मैं अलंकारों की सृज करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाँति धिँसी-पिटी लकीर पर नहीं चलूँगा ।

मिरासा में चढ़ा का दर्जा गिरता है । “कपो चाद कन्न बन गया, चाँदनी क्षार बन गई । मौन मरण की बाँहों में सहूँ कपो सो गई ? जिंदगी की जीत क्षण-भर में हार कपो बन गई ? ओ जिंदगी ! भागो मन । छाती में अब भी तुम्हारा प्यार जीवित है ।”

(राजेन्द्रकिशोर)

पराजय में उल्टा ही लगता है सब । परंतु मुझ अब चाद से गीत में अधिक्त मानी जाती है : “प्रणय को मधुर रागिनी मिला गई है, जिस तरह स्वातिक्षण सीप में

सग-मग बहु-रग भयुर फल - दल - आस्वादन
 वन - विहार पाँखें पसार लघु भार पवन-तन
 ग्रव्याहृत, निश्चित, शान्त अपनी दिनचर्या
 किंचि आगामिनी पामिनी की प्रिय चर्चा
 या कि अधिक ले कद से बचने का कौशल
 अथवा सोच-विचार रहों—आने वाला कल
 कौन कहे, मुँह खोल रही, क्या बोल रही है
 मानव-मन-सा होगा उनका भी चञ्चल चित ?

—जानकीवल्लभ शास्त्री

मट्टज जीवन का कितना कोमल वर्णन है। ये दो पक्षी भारतीय दर्शन में पहली बार उपनिषदों में आते हैं। एक मन से वे आत्मा के ही दो रूप हैं, दूसरे मत से वे आत्मा और परमात्मा हैं। किन्तु जानकीवल्लभ के पक्षी कीट्स की एक जाड़े की ऋतु में पत्ते गिरे वृक्षों को याद दिलाने हैं। कीट्स ने कहा है—क्या इन वृक्षों को भी याद आती है अपनी पीटाएँ ? वही भाव बोलना है कि क्या इनका मन भी मनुष्य जैसा चञ्चल होगा ? कवि अपने जीवन की चिन्ताएँ देखकर पक्षियों के जीवन से तुलना करता है। उसे वे निश्चित लगते हैं। बहुत ही सूक्ष्म रूप में कवि जीवन के उद्देश्य के बारे में पूछ रहा है कि मरिष्य क्या है ? क्या स्वाभाविक रूप में जीवित रहना ही काफी है, या मनुष्य के रूप में जो यह प्राणी अपने को इतना अधिक महत्त्व देता है, वही प्रमुख है ? क्या प्राणी-मात्र अपने को सुरक्षित रखने की चेष्टा में लगा हुआ नहीं है ? व्यापक है यह दृष्टि जो आगामी कल में भी यही समस्या रखेगी क्योंकि इन प्रश्नों को मनुष्य बहुत दिन से सोचता चला आ रहा है।

आनन्द और विना जीवन के दो रूप हैं। एक है अपने अस्तित्व का पूर्ण आनन्द अनुभव करना, दूसरा है उसे बनाए रखने का प्रयत्न। बन्तुत यह प्रयत्न भी आनन्द की ही प्राप्ति का एक साधन है, एक प्रतिरूप है। प्रयत्न विना जीवन नहीं है। सब बहे जा रहे हैं, किन्तु अपनी इवाइयो में भी वे उनसे ही तल्लीन हैं, जितने अपनी सामूहिकता में। एक कवि पूछता है

बोल-बोल नभ मोन,
 भुनहगार है कौन ?
 जीनेवाला या जीने की चाह !
 दोबाने मन ठीक नहीं है
 कभी किसीको छलना
 मृत्यु बहुत भली है मेरे

ग्रहकार बोलना है—सुधा तो है, पर मेरे गीत में है। आओ समर के लिए तत्पर हो जाओ ! किंतु जिसे ईश्वर में विश्वास है, वह कहता है

यह सफ़र यामिनी, चंत चांदनी
 ढेर रही है द्वार - द्वार
 खोलो किवार, खोलो किवार।

×

दो घड़ी तुम्हारे लिए घाज
 प्रभु ने खोले हैं स्वर्गद्वार।

—केमरी

इस जीवन में परमात्मा ने सब तरह के दृश्य तुम्हें दिए हैं। सौंदर्य तुम्हारी उदात्त भावनाएँ जगाने के लिए है। उसकी उपेक्षा मत करो, तुम कुछ भी करना चाहते हो, उसे अवश्य करो, किंतु कभी भी यह मन भूलो कि तुम नियामक नहीं हो, सौंदर्य का सिरजन करनेवाला एक और है, जो तुमसे भी ऊँचा है। तुम निमित्त हो, भले ही अपने ग्रहकार में 'उमे' देखने से इकार कर दो। उसकी छवि सचमुच कहीं अधिक अपरूप है।

लपों है सुधि की रेशम डोर
 झूल रहा आँसों के पलने में मेरा चित्तवोर
 सिधु-सी उसकी स्वप्न - हिलोर—

—केमरी

प्रभु की बात इस युग के कवियों में नहीं के बराबर पाई जाती है। यह नहीं कि सय ही नास्तिक हो गए हैं, किन्तु अब नये-नये उपमान रखे जाते हैं। नये-नये प्रतीकों से प्रभु को याद किया जाता है।

इसमें देश, जाति और प्रकृति सबका भी समन्वय हमें कहीं-कहीं मिल जाता है।

राजशिवपुरी की एक कविता में ऐसा चित्रण बहुत आकर्षक हुआ है। नारी-हृदय प्रायः ही समर्पण में सौंदर्य देयता है और भारत में तो यह विशेषता है। अर्चना के जलजान इसी दृष्टि में खुले जाते हैं।

चादनी सा गात लिए धरती हसती है। भारत मुनन हुआ है। उसके आनंद से हृदय सराबोर है। पृथ्वी और आकाश दोनों में ही दीपक जल रहे हैं। आकाश के दीपक बधन हैं, जो अर्चना के जलजान में दिखाई देते हैं। धरती एक सीप की तरह अपने में मोनी दिखाए हुए है। कीमुदी से पय लिप गया है। यह कितनी मनोहर अभिव्यक्ति है।

देशभक्ति-मगधी कविता में चादनी का ऐसा वर्णन हमें अग्यत्र नहीं मिला है इसलिए भी इस कविता का अपना महत्त्व है। भारत, 'दीप वाला देश' है

इतिहास के उन स्वर्णहर्म्यों पर विपुल ।
 उच्च वह आसाद जीवन का गुलाबी लिए स्वप्नोन्माद,
 जिनकी जड़ें सिंचतीं मनुज-शिशु की विपुल शोणित राशि से ।
 बजता पियानो, प्रेम का फिर स्वाग होता,
 और मेरी लेखनी की सूखती मसि
 डुबोकर अपने कलेजे के लहू में मं मनोहर गीत लिखता ।

—अनंतकुमार पाचार्य

भव सत्ता का प्रश्न इतना नहीं रहता, जितना यह भाव जागता है कि जीनेवाले जो क्यों नहीं पाते ? गीत के आकाश में भाव-चदा हसता है । वस्तुतः यहाँ प्रकृति नहीं है, किन्तु यह प्रकृति का ही रम्य रूप सामने लाता है । सागर, नक्षत्र, स्वर्णगा, सब ही हमें मिल जाते हैं । इसे शैली के रूप में नया ही समझना चाहिए क्योंकि यहाँ उपमान ही प्रमुखता प्राप्त करता है, अन्यथा इसमें कोई विशेषता नहीं है । शहीदी की याद के दीप, शोणित और शोषण, प्रेम का स्वाग और लहू में डूबी कलम, यह सब वाद में तब ही अपना प्रभाव दिखा पाते हैं जब वह पहला चित्र हम आत्मसात् कर लेते हैं ।

कविता में रगीनी इतनी अधिक है कि वह आक्रोश नहीं जगाती, विस्मय जगाती है और इसलिए इसकी शैली के अनुरूप ही इसमें विषय का भी चमत्कार है ।

समाजपक्ष का यह रूप प्रत्येक कवि में प्रायः मिल ही जाता है, क्योंकि यह तो धुग का प्रभाव है । सीधे-सीधे जो कह देने हैं, उनमें ऐसा सौंदर्य नहीं आता, दूसरे प्रकार का मिलता है ।

सौंदर्य ही मूलतः केन्द्र है । दर्शन, मनन और चिंतन, मूलतः उसीको साकर प्रस्तुत करने की चेष्टा में लगे रहते हैं, कवि कहता है

किसी अधखिली अरल की ज्योति पीकर
 धरी डाल तेरा खिता फूल होगा ।

किसी बूंद की जिदगी सोचता हूँ
 नदी की लहर में कभी मौन सोई
 कभी हंस पड़ी, चाँदनी से गले मिल,
 कभी बादलो का हृदय छेद रोई,

मगर अंत में बूंद, शृंगार तेरा
 नदी की निपति पर बँधा कूल होगा ।

जीवन का यह सपर्यं बताता है, कि जीवन ही से जीवन को प्रश्रय प्राप्त होता है और यह गुणात्मक परिवर्तन अपनी साक्षात्कता के भेद से नए-नए रूप धारण करते

शतभ - सा उन्माद लेकर चूमने नख-ज्योति तेरी
मिट चला वह प्यार तन्मय ।
चरण में उतसर्ग जीवन-दान तो है ।

—शकुन्तला रेणु

व्यक्ति को इतना महत्त्व काव्य में पहले नहीं मिला । पहले कवि को बाह्य आधार मिलता था । अब उसे स्वयं ही अपना आधार बनाने की मजबूरी है । यह जिम्मेदारी बहुत बड़ी या पड़ी है । “मैंने तो तेरी एकाकी भक्ति मांगी थी । पर उस एकाकीपन ने जग की सारी सीमा नाप डाली । वह तो अपार सिन्धु बन गया और मैं उतराती फिरने लगी ।”

(विद्यावती कोकिल)

इसीलिए यह सकट आया है कि क्षण में कुछ और दूसरे ही क्षण कुछ और दिखाई देता है । इसीसे चमत्कार भी अपना सबल खोज पाया है ।

काव्य की मिठास केवल चमत्कार में नहीं रहती । अरूप को विचित्र अरूप के माध्यम से चित्रित करने पर काव्य उज्ज्वल हो जाता है ।

जहाँ चमत्कारमान ही प्रमुख रहते हैं, वहाँ भाव भक्तभोर नहीं करते । केवल प्रकृति के क्षेत्र में जब उनका मन सहज रूप से मिल जाता है, तब वे ऐसे नहीं रहते । अधुनिवृत्ता की बनावटी लगाम ढीली कर देने पर उनकी भाषा का अस्व हिरन की तरह नहीं चलता । ऐसे कवियों को चुनौती दी है गिरिजाकुमार ने और कहा है

उजला पाल बवार का फूला कास - सा
खिली चाँदनी रात कि कली सुहावनी,
नरम नखुनी रग धुले आकाश में
रची हुई है पूरनमा की चाँदनी,
उडती भीनी गध हवा में दूब की
बिखरा सोई कोरे कुतल कामिनी,
खुली ओस में बिद्यी दूधिया तेज-सी
पानी-सी ठडी है रितु मन्भावनी ।
आसमान में भरा श्वेत रस सोम का
नयनो में मड-भरो ततोई भूलतो,
हिम के मृग भर रहे चोकडी चाँद में
नवल नारि-सी भलस केतकी फूलतो,
उभरे रोएँ छुषा गई है चाँदनी,
सौंग नुकीले चुभा गई है चाँदनी,
धवल नयनी गोरी हिरनी चाँदनी ।

—गिरिजाकुमार माधुर

को भाति नहीं। वेदना का जो स्वरूप मनुष्य देखता है, आवश्यक नहीं है कि प्रकृति में भी वंसा ही हो। 'रेणु' में कवि ने अपने अज्ञानता को इतिहासों में सराबोर करके भी देखा है, किंतु इसका अर्थ उसका नया मार्ग नहीं, पीडा ही है। धूल भी तो अपना महत्त्व रक्षती है

मनमानो किसी मथुरा की मैं दाखल एक कहानी हूँ
साकेत वासिनी रहो कभी अब पंचवटी की रानी हूँ
जब गौरव-गिरि के तिर-किरीट बन हीरा-सी मैं जड़ी रही
अब किरणों के पथ अंधरो की हमशीरा-सी मैं खड़ी रही
जब रत्नपीठिका शिव की त्रिभुवन की साधना - शिला थी मैं
उस समय अरी भोली जगती ! तू ले बेसुध-सी पड़ी रही ।

×

रे वृद्ध विश्व ! रे जरठ जीठ ! कुछ तो बचपन की बात बता
मेरा कंसा था प्रात ! और यह कंसी भीषण रात हुई ।

×

यह अंतिम प्रहर निशा का फिर मैं उपादोष नूरानी हूँ
क्षण अग्नि - परीक्षा ! फिर तो मैं साकेत - पुरी की रानी हूँ ।

—वेमरी

धूमि ! धूलि ही ! मनुष्य के इतिहास की साक्षी है। वह प्राचीन है। मनुष्य की देवत्वपना से भी प्राचीन। किंतु वह भी अपने विषय में कितना जानती है ! उसका आदि कहा है ? कवि ने बहुत ही सचन कविता लिखी है, जैसे बहुत कम मिलेगी। इस एक कविता में कितने उतार-चढ़ाव आकर समा गए हैं कि देखते ही बनता है। धूलि के कितने आवर्तन हैं जो अपने साथ स्मृति के कितने-कितने प्रकार धारण नहीं किए हुए हैं ! काल, सत्ता और मनुष्य की ममत्ता, उसकी वासना, सबका ही यहाँ तादात्म्य हो गया है, क्योंकि कवि ने यहाँ उसे अपना विवधारी बनाया है, जिसका कि सारा ब्रह्माण्ड एक प्रसारमात्र है। मनुष्य के जीवन-मरण ने उसे हसाया है, रलाया है। उसीने अपने लोक के अतिरिक्त अनेक लोकों की उसमें कल्पना करवाई है और अपने ही बनाए विद्वानों के रहस्य और रोमांस में मनुष्य ने विभिन्न रसों की अनुभूति पाई है। किंतु प्रकृति में उसने एक साहचर्य पाया है। सब कुछ के बीच में रहता हुआ भी जैसे वह उसके बिना कुछ भी नहीं है। वह प्रकृति को भी अपनी वेदना को सहचरी बना लेना चाहता है

नहे-नहे भोले-भोले ओ मनबोले तारो, बोलो
मेरे सूखे सूनेपन में अपना मधुमय कतरव घोलो

फिर उसे बयो हो न विभ्रम
गुञ्जरित वातावरण है।
दूष से मानो, धुला
आकाश का अत करण है,
स्वप्न में भी चौक उठते
प्राण शशि को देस अनुपम।

—आरसीप्रसाद सिद्ध

इस गीत में न कोई विशेषता है, न कोई चमत्कार है, किंतु यह है बहुत सुन्दर।
ऐसे मौके पर बड़ी सुगीत हो जाती है। कहा उगली रखी जाए। किंतु यह सौंदर्य इसकी
अनुभूति में है और कही नहीं। 'आज' में ही एक आवेश है, और वही से इसमें पकड़ आ
जाती है। ऐसा कल नहीं था, 'आज' ही यह बात है।

एक युवक कवि को यह चद्रमा भी काला दिखाई देने लगता है
नीम के पीछे उगा है

चाँद पूनम का सलोना।

हैं बगीचों में जुड़ी रंगीन कलियों की सभाएँ,
हैं बिटप के एक इगित पर लिपट जाती सताएँ,
ले रही अँगड़ाइयाँ किरणें सिहरते पल्लवों पर,
चल रहा नूँ पर गगन का

एक जादू, एक टोना।

एक है वह रात, जो है हँस रही धूम्र उठाए,
एक तुम हो, रह गई जो भूमि पर अँलें गडाए
ब्या लजाती हो भला इस चाँदनी, इस चद्रमा से।

चद्रमा तो है तुम्हारे

रूप का केवल दिठोना।

—रामकुमार चतुर्वेदी

अपनी-अपनी आँख टहरी। प्रिया का मुख इतना उज्ज्वल है कि उसे नजर न
लग जाए इसलिए माथे पर लगाए काले दाग-सा लग रहा है चद्रमा। प्रेमियों ने काले
तिल को गोरे गाल पर देखकर बड़ी हास-हास की थी। बिहारीलाल चादनी में राधा
का तन ही नहीं देख पाया, क्योंकि वह भी गोरी और राधा भी गोरी। मगर आजकल
होते तो लोहा मान गए होते। कि चद्रमा केवल दिठोना है। शोबन भी कौसी रस-भरी
अवस्था है, जब अपने सामने कुछ दीगला ही नहीं। इस कविता को पढ़कर मुझे अनुभूति
की वह बाण पाद हो आई जहाँ उसने कहा है कि सरस्वती मेरे पीछे ऐसे चलती है जैसे

तिनका ? तेरे हाथों में है
 अमर एक रचना का साधन—
 तिनका ? तेरे पजे में है
 विधना के प्राणों का स्पर्दन !

तू मिट्टी था, किंतु आज
 मिट्टी को तूने बांध लिया है
 तू था सृष्टि, किंतु सृष्टि का
 गुरु तूने पहचान लिया है !
 तिनका पय की धूल, स्वयं तू
 है अमरत की पावन धूली—
 किंतु आज तूने नभ-पय में
 क्षण में बद्ध अमरता छूली !

—अश्वमेध

किसीका भरोसा नहीं। अकेले चलना है। सकिन अपने पास होनी चाहिए, वस
 किसी भी तरह इतना हो कि जीवन की गति न रुक जाए। ऊपर, और ऊपर उठना है।
 तिनका क्या है ? रचना का साधन है, वह विधना के प्राणों का स्पर्दन है। यह व्यक्ति
 मिट्टी है, किंतु जब आकार प्राप्त हो जाता है तब वह मिट्टी का स्वामी बन जाता है।
 सृष्टि का अंग होकर भी, वह सृष्टि बन जाता है, क्योंकि वह नया निर्माण करता है।
 अमरत की पवित्र धूल है, और मारा खेल धूलि का है, किंतु जब व्यक्ति उठता है, तब
 अमरता को छू लेता है।

किंतु व्यक्ति के पीछे जो महाकाल लगा हुआ है, वह उसके माहस को चुनौती
 है। अमरता एक मूल ही-सी दीसती है उसे, क्योंकि उसकी विशालता भी अतृप्तता
 एक छोटी-सी सीमा है

महा स्वप्न में कल्पना जागती है

निशा चुप, दिशा चुप, गगत चुप राडा है।

निशा जा रही है, उषा आ रही है

बिपत्त, पल, कला को घडी खा रही है,

तिमिर चल रहा है टके सांत मेरो

गगन भी रहा है हृदय की अंगेरी

×

महाकाल के प्राण वेचल सजग हैं

नियम में बंधे ज्योति के चित्र राग हैं

बड़ी मनोहर शब्दावली है, जो चादनी के विभिन्न प्रभावों को प्रकट करती है। किंतु उतनी ही सौमा नहीं है। इस युग में आकर विचारा चाद लगना भी हो गया है। वह चादी की किरनों की बँसाखी लेकर चला आ रहा है

देख रहा हूँ—

रजत रश्मियों की बँसाखी कर में लेकर

बढ़ता आता चाँद ज्योति के

जगमग पथ में—

—कन्हैयालाल चञ्चरीक

लगना तो है, मगर है रश्मि। चलता है चादी की बँसाखिया लेकर। यह है चलते-चलते टिठका देना। 'मजाज' ने 'बनिए की किताब, मुल्ला का अममा, बेबा का शबाब, मुफलिस की जवानी' इत्यादि कहकर चद्रमा की वर्णना की है। ध्यान रहे बनिए की किताब से तात्पर्य वहीं से है, लिपटी हुई वही से, जिसके कोने नहीं दिखाई देते। बंसे शेक्सपियर ने 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम' में चद्रमा के कोनों को पहले ही लालटन में घुसवाकर यह समस्या हल कर दी थी। और कहा है कवि ने,

प्रश्न मोन अघर

मुखरित हो जाएँ तो रस बरसे,

लाज-भरे चाँद नयन

स्यात् उठें, गिर जाएँ गाँज कहीं

अचल के छोर अगर उड जाएँ होले से

शर्माएँ सपति भी मन ही मन

कोर्जितत्वम् ?

उत्तर एक चित्तैरे की कृति

यर्तुस रेखाप्रों में सिमटी-सी।

—कन्हैयालाल चञ्चरीक

यह उसकी दूररी प्रश्नोत्तरी है। रस बरसता है चाँदसे। पर अघरों से भी बरस सकता है, अगर वे बोल पड़ें।

तो यों हम अपनी यात्रा में एक दूररे छोर पर आ निकलते हैं। नये कवि को भोस नीली दिखाई देनी है। प्रायः भोस नहीं दीखती, पर जब उसपर किसी रंग की छाया पड़ती है तो दीखती ही है। हौरे-सी वह क्यों लगती है? किरन पडने से। पर नीनी लगती है नीले आस्मान की छाया पडने से।

चाँद प्राईना-मा भी लगता है।

चाँद दही-सा भी दीखता है। यह मुझे ग्राम्यत्व दोष जैसी सटकनेवाली चीज

जैसे कली का जीवन कोमल होने के कारण शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, परन्तु वह सहज नहीं मरता तो दुःख उठाता है और स्वयं ही अपने बल पर जीवित रहता है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है। यद्यपि कवि ने यह प्रच्छन्न ढंग से वर्ण-सघर्ष की मान्यता को बल दिया है कि उच्चवर्गीय कला संरक्षण में पलने के कारण अशक्त है, और लोक की विद्रोह-भरी आकांक्षा को जीवित रखनेवाली कला सशक्त है, किन्तु वह इसे इतना प्रकट नहीं करता, जितना इस सत्य को कि मनुष्य की धारणा को जीवित रहने के लिए सघर्ष करना ही आवश्यक है। क्या कवि कली का हलकापन दिखाकर उसकी अवहेलना करके सौंदर्य के एक मूर्त आधार को ही कम नहीं कर देगा, यदि हम मान लें कि वह अपनी सङ्कुचित राजनीतिक भावना में ठीक है? हमें यह नहीं देखना है कि कवि चाहता क्या है, हम तो यह देखते हैं कि कविता क्या बहती है।

व्यक्ति, समाज और सृष्टि के सघर्ष को हम बड़ा इस रूप में पाते हैं कि अपनी-अपनी सत्ता में सौंदर्य है। जीवन के अनेक रूप हैं। अब यह कि कौन-सा श्रेष्ठ है, यह कवि के अपने दृष्टिकोण पर निर्भर है। प्रकृति और मनुष्य का द्वन्द्व ही उसे इस जगह ले आया है, जहाँ अपने को जीवित रखने के लिए वह यदि असुन्दर में सुन्दरता देखता है, तो उप-योगितावाद के आधार पर सौंदर्य की शाश्वत भावना के प्रति भी सदेहासपद हो उठता है। और सब कुछ होने पर भी वह अभी अपनी मजिल तक पहुँचा नहीं है।

फूल खिल-खिलकर सदा मुरझा रहे
 आज विस्मृति में पड़े मनुमास है
 भूम मस्ती में हवाएँ जो वहीं
 आज वे ही बन गयी निश्चात हैं
 आज यौवन की सभी भ्रंगडाइयाँ
 हो रही अपनी ध्या में चूर हैं,
 या गई मजिल मगर वे दूर हैं।

—कुलदीप

मनुष्य की अपनी भावना ही सबको प्रतिबिम्बित करती है। हास है तो सब हस रहा है; दुःख है, तो सब ही रो रहा है। प्रिय या प्रिया के रूप के आधार पर ही सही, परन्तु जो कुछ उसका प्राप्तव्य है, वह अभी उसे मिल नहीं पाया है। अपनी विवशता की कुरूपता यदि मनुष्य प्रकृति पर लाद देगा तो क्या पाएगा वह? क्या इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य ही कुरूप नहीं बनता, प्रकृति में भी कुरूपता होनी है, तो क्या यह भी एक सत्य नहीं है? सौंदर्य अपने-आप में नहीं, दो गतियों के क्षण के ही परिणाम में जन्म लेता है। आज के मनुष्य को अपनी विवृत दृष्टि को द्योतना ही पड़ेगा और यह याद रखना पड़ेगा कि उपनिषदों के कवियों ने जब राम राम सुनना प्रारम्भ

‘पूरा चाद’ में जगदीश गुप्त ने इतना ही नहीं रखा है, अनवीची किरण से उसके हाथ सदेसा भी यह चाया जा सकता है। भवमुत्र बड़ा मनोहारी चित्र है। प्रायःक मुग के कवि नये रूप मिरजते है। आज का कवि भी पोछे नहीं है। जो उपमाएँ लोक में व्याप्त हैं, वे भी एक दिन ऐसी ही नई थी। एक ग्रामचित्र है

जुगुहाई खिली

पूनम दिपची में चाँदी के स्वर भर

गाता है निर्भर अकेला बिहाग

नभ की झटारी से चदन सूटाकर

पोता है राकेश सब दिन के राग

सरसिज की पाँखों में दूधी किरण को

रजनी की मोठी पहुनाई मिली

जुगुहाई खिली

भुरमुट की छाया में सारस को जोड़ी

सोयी है दूबकी-सी चोचें मिला

बगुल को पाने पौखर के तट से

उड़ती है धुले-धुले डंने हिला

उजली लहर पर किसलती स्ताएँ

पेढो को चुप परछाईं हिली

जुगुहाई खिली

कँचुल के पथ पर सूने पहर में

तरहा सहमकर भरता दलाल

हफती हुई हं मे जो नील गावें

ज्वारो के खेतों से आई हं भाग,

ठण्डी बयारो से तिहरी हुई-सी

डोली है भोगी मकाई-तिली,

जुगुहाई खिली

प्रकृत धर्म और दर्शन

किधर जाऊँ ?

पूछता है मनुष्य ।

प्रकृति से सघर्ष करता हू कि मैं छोटा ब्रह्मा हू, तो क्या इसमें अर्थात्मिकता देखूँ ? या एक-एक करके इसके रूपों को जानता चला जाऊँ ?

श्रीर फिर पूछता है उसका विवेक

मनुष्य ! तेरा रहस्य खोलना ही क्या प्रकृति की सार्थकता है ? जब तू इस पृथ्वी पर नहीं था, तब इसकी क्या सार्थकता थी ? और तू नहीं रहेगा तब क्या होगी ?

यहूँ, ईसाई और इस्लामी तथा ऐसे मतों ने सृष्टि का श्रम मानकर भी उसके अंत तक की ही कल्पना की है, इसीलिए वे कब बनाकर अंत की प्रतीक्षा करने की भावना मानते हैं। परंतु हिंदू मानता है निरंतर्य, एक चक्र। बहुत दिन की प्रतीक्षा वह नहीं मानता, हाथ के हाथ सबका कार्य-कारण देखता रहा है वह। मनुष्य को उसने सृष्टि के अंत-गंत अन्वयमत्तो की अपेक्षा अधिक माना है। इसलिए यह विचार भारतीय चिंतन में पहले नहीं मिलता। ब्रह्मा तो विराट सृष्टि और विराट ध्वंस मिलते हैं। प्रलय अंतिम नाश है, परंतु उसके बाद भी एक सृष्टि है। नये कवि में यह परंपरा से उतर आई भावना तो अत्र भी है, परंतु उसका 'आज' इतना बड़ा है और वह उसे इतना ही महत्त्व देने को विवश है कि 'नई' आस्था अभी तक वह पूर्णरूपेण खोजकर निकाल नहीं सका है।

समाज, स्त्री-पुरुष-संबंध, अब हमें प्रकृति के व्यापक क्षेत्र में मिलते हैं, क्योंकि यौन संबंध भूतत प्रकृति के अन्तर्गत ही माना चाहिए। यहाँ हम इसकी विवेचन करते हैं। नया कवि कहता है

है आज प्रलय का आवाहन
बज-धज उठती है रणभेरी
तुम भूल मलिनकर बार-बार
अब ध्येय लगाओ मत देरी

बो बिदा, न पों प्रकुलाओ प्रिय,
भर-भरकर घाँसों में पानी

थे, लेकिन सत्य हो नहीं पाते । तब वे अपने को सबसे कुछ अलग बना लेने की चेष्टा करते हुए भी दिखाई देते हैं कि मुझे साधारण मत समझो । कहते हैं
चाँदनी मेरा करेगी क्या ।

×

मैं निपट सीमेंट का हूँ पत्थर,
मेरे लिए भी है वही राही परम हित
सम्पूर्ण जीवन का
उसीको माध्यम बना मैं जान सकता हूँ
कि छाया दे रहे हूँ पेड़
खुशबू दे रहे हूँ फूल,
थपकी दे रही है चाँदनी

×

मेरे हृदय हो तब तो !
चाँदनी मेरा करेगी क्या !

—भारतभूषण अग्रवाल

सीमेंट के पथ की यह हृदय के अभाव में लिखी गई कविता कितनी मजबूत है । छाया, खुशबू, थपकी, सब ऐसे जाने जा रहे हैं, जैसे अनुभव किसीका नहीं किया जा रहा है ।

अब तो विचारा बाद कुछ जली-कटी सुनने लगा । यह तो मान लिया गया कि उसमें कुछ आकर्षक अवसर है । एक कवि ने उस ज्योति के फूल को देखा । कुम्हलाया पड़ा था । जगत् ने उसकी सुरभि ले ली और काम निबल गया तो उसे भूल गया । ऐसा सर्व्व होता है । लेकिन विचारा चन्द्र निर्वाण पा गया तो कोई बात नहीं, उसकी साधना तो सफल हो ही गई ।

भाज कुम्हलाया पड़ा है ज्योति का यह फूल
ले सुरभि छाया जगत इसको गया है भूल ।
सफल इसकी साधना यह पा गया निर्वाण
बुझ गया पर खोच लाया जगत में सुविहान
हो गया निश्चिन्त रवि को सौंप बुझती ज्योति के कणमात्र ।

—तेननारायण शर्मा

क्योंकि वह जगत् में बुझने पर सबेरा ले आया । और अपनी बुझती ज्योति के कणमात्र उसने रवि को सौंप दिए, वह निश्चित हो गया । भर गया ।

इतनी-सी रही भास्त्र चद्रमा की महत्ता ।

हंसिया लिए निज हाथ मे
 किस और जाएगा पथिक,
 यह तो अभी अज्ञात था ।
 बासी लिए रोटी बड़ा
 भाई वहाँ जब था खड़ा
 छोटा उठा मुंह टोकरी से
 दूध कहकर रो पड़ा
 मैं कैंप उठा था और टपका
 एक पीला पात था ।

—शिवमंगल सिंह 'सुमन'

कान्निदास का मेघ भी सुदरियो से खेलता था । उन्हें डराता था, उनके कटाक्षों से जीवन सफल करता था । वह भी पसीने से भोगी मालिनी और किसानों की वधुओं को आराम देता था । सुमन का प्रभाव भी किसान-कन्याओं की छूनेवाले बात के कारण सुन्दर हो गया है । किन्तु उसका ध्यान किसी प्रिया के पास सदेसा पहुँचाने में नहीं है । उसे मनुष्य की भूख सता रही है और इसलिए प्रभाव को वह नहीं देख पाता । यद्यपि वह बहुत सुन्दर था । उसकी दृष्टि फिर भी प्रतीक रूप पीले पात की ओर जाती है, जो जराजीर्ण था । वह मृत होकर गिरा या कटना का अश्रु बनकर, दोनों ही अवस्थाओं में वह अपना समान प्रभाव छोड़ गया ।

स्त्री और वह भी जो कृत्रिमता से दूर कवि का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है, क्योंकि वहाँ उसे सहज जीवन की भाँकी मिलती है

खड़ी खेत में मुसकाती है किसी भील की रानी ।
 इसकी बाँहें नहीं कमल की नाल सरोखी कोमल,
 इसकी बाँहें पुष्ट जीम की शाखाओं-सी इयामल !
 कनक कटोरे नागरिकाओं को ही रहें मुबारक
 विष्या के शिखरों-सा उन्नत है इसका वसस्थल !
 इसकी आँखें भीत मृगी-सी नहीं विकल या चचल
 इसकी आँखों में सप्या के घोर, साँवले बादल !
 इसकी चितवन में हैं तीखे तीर न तेज बटार
 एक ज्योति है, छू लेती है जो प्राणों के तार ।

हसगामिनी या गजगामिनि इसे नहीं कह सकते,
 इसकी गति जगल के भरने-सी अलहद मस्तानी

संवेदना और स्वानुभूति

मनुष्य प्रकृति का अंग है, और अंग हीकर भी उसे जीन लेना चाहना है। किन्तु दूसरों और उसका समाज स्वयं बहुत दुखी है। यह एक द्वन्द्व है। वह प्रकृति का आनन्द लेता है, तो मनुष्य का दुःख वह कदा मिटा पाता है। यदि वह समाज की विपमता में ही जकड़ा हुआ रहता है तो प्रकृति के बारे में वह लिखना ही क्यों है? आखिर उसका प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण क्या हो? यदि प्रकृति एक रहस्य है, तो कवि उसे रहस्य के रूप में ही देख सकेगा। यदि प्रकृति एक निरंतर चलता रहनेवाला क्रिया-व्यापार है, तो उसका चित्रण मनुष्य के हृदय में क्या संवध रहेगा? आनन्द वह यदि उससे प्राप्त करता है तो उस आनन्द में लोक को क्या लाभ? यदि दलितवर्गों को भी प्रकृति के चित्रण में आनन्द मिलना है तो क्या वह मनुष्य को उसकी विपमताओं के यथार्थ से अलग कर देना नहीं है? ऐसा काम क्या अतथोगत्वा यही प्रमाणित नहीं करता कि कवि वास्तव में उच्चवर्ग के हाथ में खेल रहा है? यदि समाज के ही चित्रण में कवि डूब जाता है, प्रकृति के सौन्दर्य का सौंदर्य इसलिए नहीं देखता कि उसके पास तत्काल अन्य और अधिक महत्वपूर्ण समस्या है, तो क्या वह गाम्भीर्य की भाँति ही केवल नागरिकता में ही फँसा नहीं रह जायेगा? ऐसे लोग जो तत्काल को ही सार्वकालिक मानते हैं, यह भी मानते हैं कि मनुष्य का मनुष्य से पहला संबंध है। प्रकृति को रहस्य के रूप में क्यों रखा जाए, जब विज्ञान निरंतर उसके रहस्यों को खोजना जा रहा है। ऐसे समय में प्रकृति की उपमा करना मनुष्य की प्रगति की अवहेलना करने के समान है। किन्तु अन्य कवियों को यह जीवन की एक मायिक-भी व्याख्या मालूम होती है। वे मनुष्य की चेतना को अधिक व्यापक बनाना चाहते हैं और मनुष्य-समाज के भीतर ही उसे बंद नहीं कर देना चाहते। वे प्रकृति के विराट् कार्य-व्यापार को देखना भी चाहते हैं। इन्हीं अनेक समस्याओं ने नये कवियों को प्रकृति के संबंध में एक वेदना दी है, जो कवि-जीवन के विभिन्न कार्य-व्यापारों के माध्यम से प्रस्तुति हुई है। इस नई चेतना का एक रूप यों ही

लकड़-लकड़ कर चलने वाली हवा छोटी

सहर बन गई नई चेतना के सागर की।

जमुना के उस पार सहस्रहाते हरे खेत
उठता है एक स्वर

×

पानी देती-देती, निराती-निराती
धक गई होगी वह कृषक बाला : ग्राम युवती
जिसके श्वारेयन में सरमाता-मुस्कता होगा
धीवन-धन, जाड़े की नरम-गरम धूप
क्षण-भर विलसा होगा उसका मन
कल्पना-निभूत निकुञ्ज में
छट चले हैं ये स्वर के मधु-दूत सातसा की ऊष्मा ले
प्यार की मंदिर सुरभि से,
प्रतीक्षा की अनुत्साहट का सन्देश मुझे दे रहे
जाओ ठण्डे पवन भूलोरे दूर मुझे परवाह नहीं है आज तुम्हारी
मत सहलाओ मेरा माया तप्त
नहीं चाहिए मुझे सहजने, तेरे में सब फूल—

दिखावट : सुरभिरहित,

में लिखता जाता हूँ जमुना के पार, उस पार
सहस्रहाते खेतों के बीच जहाँ से स्वर उठते हैं

—राजानन्द दत्त

किंतु पहला चित्र टूटते ही कवि कुछ व्याकुल-सा हो जाता है। कृषक बाला - ग्राम युवती की धकान, उसका धीवन, धूप, जाड़े की नरम-गरम धूप, क्षण-भर विलसता उसका मन और फिर वह देखता है कि उसका माया तप्त हो उठा है। सहजने के फूलों में सुरभि क्यों नहीं है, यह सवाल सामने आ खड़ा होता है। वे सफेद फूलों के भौर अब उसे अच्छे नहीं लगते।

लोक-जीवन भी कवि के मानस की अवस्था के अनुकूल ही अपना स्थान काव्य में प्राप्त कर पाता है। तो ये नये चित्र वस्तुतः पथ का अन्वेषण ही हैं। अपने-आप में जो चित्र पूर्ण हैं, वे अपने आकर्षण के कारण ही। अधिक सुधमा है उन कविताओं में, स्वानुभूति ने बाह्य चित्रण को हटा दिया है। 'ग्रामवधू की विदा' में कवि एक सपूर्ण चित्र खींचता है। यह सारे चित्र मध्यवर्गीय जीवन के चिपचिपे ढोंग से बाहर जाने के प्रयत्नों को प्रस्तुत करते हैं। विदा की घड़ी अब आ गई है और बधू जा रही है :

विदा की घड़ी है कि टप टप टपटप

बहे जा रहे ढोल के स्वर पवन में

भारतीय परंपरा में वैभे तो पत्नी-मिलन की परंपरा है, परंतु प्रेम-मिलन भी कम नहीं है। इसीलिए स्वकीया का महत्त्व ही कार्य रूप में प्रयोग करनेवालों ने राधा-कृष्ण के परकीया प्रेम का रस खूब लिया है और एतराज करनेवालों को आत्मा-परमात्मा का नाम लेकर चुप कर दिया है। हमारा नया कवि किसी दूसरे की पत्नी को नहीं चाहता, कुमारी-प्रेम में रत है। समाज उसे पुस्तने नहीं देगा। मजाज के शब्दों में

हदें बह बाँध रखी हैं हरम के पासबानों ने

कि विन मुजरिम हुए येगाम भी पहुँचा नहीं सकता।

जहाँ तक हिंदू समाज का साधारण मानसिक स्तर है वह तुलसीदास के काव्य के लिए उपयुक्त है, जिसमें समाज के धनेक पक्षों का धार्मिक विवेचन है। इसके-मिजाजी पहले भी थे, लेकिन उन्हें केवल मनोरंजन के लिए लिया जाता था। अब अंग्रेजी पढ़े युवकों ने व्यक्तिपक्ष को पकड़ा। साधारण जीवन में अब तुलसीदास का सस्ता संस्करण मैथिलीकरण गुप्त हैं। तो नया कवि आगे पाठकों में मध्यवर्ग से नीचे नहीं उतर पाता। निम्न मध्यवर्ग में भी नहीं, क्योंकि दैनिक जीवन ऐसा घिरा हुआ है, अभी तक अपने धार्मिक कार्य-कलाप के अधकचरे विश्वासों में कि उसका नये कवि और उसकी आधुनिक मान्यताओं से पूरा मेल नहीं बघता।

वास-जीवन में कवि ने स्वतंत्रता को प्रमुखता दी।

धूल उड़ती है नगर में

साँभ भटभंती उतरती,

और दिन की हड्डियों को

राख है नभ में बिखरती !

काँपती है सभ्यता,

दीवार पर दीवार गिरती

और टूटी मजारों पर

आँसुओं की धार गिरती !

बज रहे घड़ियाल मंदिर

गूँजते हैं भारती से,

आज मेरा गीत प्रेरित

है स्वयं माँ भारती से !

—नगदीश

दिन की हड्डियों की राख नभ में उड़-उड़कर बिखर गई। सभ्यता कापने लगी और पुरानी दीवारें ढहाने लगी। लेकिन दीवार पर दीवार का गिरना जिस गति को बताता है, वह काव्य-भक्त्य है, लोक-भक्त्य नहीं। आज भी स्वतंत्रता, आधुनिकता पढ़े-

तुम्हारी नाव क्या तट से बंधी रह जाएगी
 लहर को काटकर अपना निराला पथ बनाने को
 नये संधर्ष में सजीवनी से डूब जाने को
 बड़े विश्वास से पतवार को हमने चलाया है
 तुम्हारी नाव क्या मझधार से घबराएगी।

नई आशा नई हिम्मत नये ससार वाले हम
 नहीं जिसको सुना तुमने वही हुंकार वाले हम
 हमारी दृष्टि में निर्भीक साहस ही समाया है
 तुम्हारी आँख क्या नीचे मुकी रह जाएगी ?

—बीरेन्द्र मिश्र

यह नये ससार का रहनेवाला है। उसमें नवीन साहस है। जैसे बालक को सब कुछ नया-नया-सा लगता है, नये कवि को भी वसी ही अनुभूति होनी है। यह जाति के जागरण का चिह्न है। पुरानी जाति से यह दृष्टि प्रायः मोक्षन-भी हो जाती है। तो यह है नया साहस। प्रवृत्ति आह्वान की भी उतनी ही सहारा है, जितनी वह पलायन की।

कवि-हृदय इतने में ही मोमित नहीं है। वह अपने चारों ओर की सृष्टि को भी नवीन स्फुरण से भरा हुआ देखना चाहता है

नई गति दो पवन को और

सागर को नया-सा ज्वार दो

वही सपना धरा को दो

उभाने का नया जो द्वार हो।

समय की बाँसुरी सौई

नये स्वरकी नयी ऋनकार दो।

नई पीढ़ी ! न सोओ तोरियों में

यह सबेरा है नया

हँसा वह भोर का सूरज

धंधेरे का सम्भ्रम भी गया।

धंधेरे में डुबा देते हमारी

नींद के भोंके हमे

छुमारी में न पी लेगा

भला निर्माण को विध्वंस क्या ?

सुनहरी जगमगाती युव की

रेखा किरण के जाल में

जा रहे हैं, यह पता नहीं चलने परता। सितारे भी दगा करने पर उतारू हैं। चांद सोने नहीं देता, क्योंकि जबानी तो हर हालत में जबानी है। और देह और मन का हाल यह है कि असमय में ही पतभर छा गया है। जिसकी जड़ों में पानी न पहुंचे, उसका और होगा भी क्या ! जो कुछ है एक गरीब की हसी उड़ाई जा रही है। किसीमें भी सहानुभूति नहीं।

तब एक विश्वास और बोलता है

चांदी के सर्पों-सी बल खाई नदियों की

कल-कल, छल-छल के उस पार—

कि, देखो !

पर्वत की उस स्पाह ऊंचाई पर से कोई भ्रूंक रहा है,

उठ सकती कित्त हृद तक ऊंची

इस धरती की कुचली मिट्टी,

लाल रंग से आसमान पर भ्रूंक रहा है।

—नवरत्न स्वर्णकार

भाषा बहुत बड़ी है। दूर पर जहां परिश्रम का फल दिखाई दे रहा है, जहां अपने अरमान पहुंच रहे हैं, जिसे हम एक ऐसी ऊंचाई समझते हैं, जहां तक पहुंचना श्लाघ्य है, वहां तक कवि का विश्वास उठता है। इस धरती की कुचली मिट्टी कितनी ऊंचाई तक उठ सकती है। देख रहा है प्रकाश का प्रतीक कि मनुष्य की गति कहा तक हो सकती है। वह मनुष्य जो कि कुचला पशु है, उसका उरथान कहा तक संभव है। प्राय ही माटी आज मानव और जीवन का प्रतीक है। कल तक इम माटी को भौतिक-भौतिक कहकर इसे तिरस्त्रुत किया जाता था, क्योंकि मनुष्य को आत्मा के रूप में देखा जाता था। आज कवि के दृष्टिकोण में यह बहुत बड़ा परिवर्तन आया है कि माटी को वह मत्य-धिक महत्व दे रहा है। आत्मा क्या है ? माटी की ही चेतना है। उसे माटी में अलग करके कोई देखना नहीं चाहता। यदि शकराचार्य होते तो न जाने कितना शोक करते। तुलसीदास होते तो इस बात पर मिर धुनते कि जो सरस्वती राम का जप करने को मिली वह माटीस्तोत्र गाते हुए नहीं थक रही है। आज के कवि को यह बहुत करके लग रहा है कि उसके अस्तित्व में महत्त्व हो या नहीं हो, परंतु उसका अपमान अवश्य हो रहा है। सारास में मैं कहूँ कि आज उसका अहंकार पुराने कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक है क्योंकि वह सब-कुछ अपने लिए चाहता है, जबकि पुराना कवि मानता था कि यह सब अपना नहीं है, हम तो एक सराप में आकर बने हुए मुसाफिर हैं। दूसरा कवि कहता है

लहर सागर का नहीं भ्रुंगार

उसकी विकलता है,

रन-सी छा जाती है। गति इतनी है कि ध्वनि निकलने लगती है जैसे कालिदास के मेघ-दूत में शब्द, वही-कही क्या, प्राय ही ध्वनि गुजाने लगते हैं। नीरज की विशेषता है उसकी भाषा की सरलता। समय के साधन की कल्पना भी नहीं है। यहाँ कवि मेघ और शक्ति को मिला देता है, किंतु यहाँ वह विरोध भी उत्पन्न करता है। बाधनेवाला भी गिरकर माटी हो जाता है, और बादल भी। प्रतिक्रिया और शक्ति का एक-सा भ्रत ठीक नहीं जचता। किंतु कविता में यह भावना उतनी ग्राह्य नहीं है, जितना है उसका सजीव चित्रण, कवि के अपने सत्य में और काव्य के सत्य में भेद है। काव्य का सत्य इसीलिए सुन्दर बन पड़ा है कि उसमें जीवन का द्वि-सुन्दर रूप से उतर आया है। प्रकृति के दुर्दम रूप को भी जीत लेना आज मानव की प्राकाशा हो गई है

प्रलय में, तिमिर में, न तूफान में भी

कदम घे रके हैं न रुक पायेंगे ही।

न में चाहता मूर्खित को प्राप्त करना,

न में चाहता व्यक्त का रूप धरना,

सभी विश्व मेरा, सभी प्राण मेरे

घलूंगा सभी विश्व को साथ धरे,

सभी स्वप्न हैं देखते एक मूर्खित

सभी जापरण में निहित एक ही दिल

भटकते हुए भी उधर ही चलेंगे

भटकते हुए भी उधर ही चलेंगे

जहाँ फूल-सा विश्व खिलता रहेगा

सहर पर जहाँ शक्ति मचलता रहेगा

जहाँ एक ही जाति होगी धरा पर

जहाँ एक नर शक्ति होगी धरा पर

जहाँ सघ में प्राण अनुरक्ति होगी

वहाँ प्रेम होगा—यहाँ शक्ति होगी,

वहाँ स्वर्ग होगा मनुज के हृदय में

किसी दिन कभी तो पहुँच जाएँगे ही।

—उदयशंकर भट्ट

प्रलय, तिमिर, तूफान, इनमें न मनुष्य के षण बंधे हैं, न रकेंगे ही। प्राचीन और मध्यकालीन कवियों ने भी इस सत्य को और प्रकार के शब्दों में अभिव्यक्ति दी है। किंतु इतना व्यापक रूप हमें कम मिलता है। सकल ससार को शक्ति की कामना तो बहुत प्राचीन कवियों ने भी की है। नया कवि सर्वत्र जागरण को प्यास देख रहा है। वह ऐसा

घिसे हुए पीतल-सी पादुर
 पूस मास की धूप सुहावन
 स्तनपायी नीरोग गौर-छवि
 त्रिभु के गालों-जंसी मनहर
 पूस मास की धूप सुहावन
 फटी दरी पर बंठा है चिर रोगी बेटा
 राशन के चावल से ककड
 बीन रही पत्नी बंचारी
 गर्भ-भार से असस-शिशिल
 है अग-अग,
 मुंह पर उसके मटमली आभा,
 छप्पर पर बंठी है बिल्ली
 किसके घर से जाने क्या कुछ खा आई है
 चला-चलाकर जीभ स्वाद लेती होठों का
 सब कुछ है, कोपला नहीं है
 कैसे काम चलेगा बोलो ?
 चावल नहीं सिद्धा सकती है
 रोटी नहीं सेंक सकते है
 भाजी नहीं पका सकती है
 नरम-नरम ऊनी लियास-सी
 पूस मास की धूप सुहावन ।

—नागार्जुन

घिसे पीतल के रंग की-सी धूप । बहुत सुन्दर चित्र है । एक स्वरस्र वालक के गालों जैसी पूस की धूप । और फिर वह आना है घर की और । वहा कोपला नहीं है । बिना कोपले के रेल वा दूजन नहीं चलता । नागार्जुन की कविता कैसे चले ? अग्नि ही नहीं है । पूस की धूप का कवि क्या करे ? प्रकृति की पटली मांग है पेट की भूख मिटाना । दूसरी मांगें बाद में आती हैं ।

जीवन के दैनिक सघर्ष इनने कठोर हो गए हैं कि कवि घुटा जा रहा है । भूने कवि को पड़ोस में कुछ चाट आई त्रिन्ली त्रिननी सुनी लग रहा है कि वह बड़े ध्यान से उसको निहारकर उसका पूरा वर्णन करना है । जय यह समस्या नहीं रहेगी, तब अचर्य इस कविता का महत्व कम हो जाएगा, त्रिभु आज वो इसके तीमेपन में शक्ति है, यह त्रिभुन अलन बात है । कवि की दृष्टि रज और नहीं, सज ही और होनी चाहिए । महा

सामोश पथ पर सम्भता, सस्कृति पुनीत—
आदर्श का बोधा उठाए जा रही दुनिया ।

X

वही सुपना रहा है छल कि 'हम ऐश्वर्यशाली पूर्वजो के पुत्र
जिनकी कीर्ति थी अनूपम, हजारों दास-दासी
सेषचुम्बो भवन उन्नत, हाथी, अश्व, सुन्दर रथ,
रथहले छत्र, सुनहरी झालरों से युक्त ।'
वही सुपना रहा है छल कि 'हम धीलाद हैं'
उन शहशाहो की, नवाबों की
कि जिनके महल आलीशान, बरसता या विभव जिनमे
हरम में बेगमातों, लीडियो से ओ' गुलामों से
चूहत रहती सुबह से शाम, भूमकते घुंघरुओ की छुम
अदा अदाज, नखरे नाज, नाजुक हाथ
साकी की कंटोली तीर-सी नजरें, सलकते लख
और बे मय के छलकते जाम ।

—देवेन्द्रनारायण वर्मा

तो यह बहुत स्पष्ट है कि अथ प्रकृति चित्रण में मनुष्य और उसका समाज प्रमुख स्थान ले चुका है। प्रकृति के वर्णन से कब कवि हमें कहा लाकर ठहरा देगा, हम इसके बीच में कोई रेखा नहीं खींच सकते। वह क्या अनुभव करता है, वही उसकी विशेषता है। तो यहाँ हम यह कह सकते हैं, प्रकृति को गीण स्थान मिला है, पथ की खोज के कारण, क्योंकि अथ प्रकृति अपने-आप में कुछ नहीं। वह तो मनुष्य के सुख-दुःख की छाया से प्रस्त है। अतः यह भी कहा जा सकता है, आज प्रकृति को उद्दीपन के रूप में प्रायः देखा जाता है, यह बात और है कि उद्दीपन के आधार बदल चुके हैं। वे व्यक्तिपरक से बढ़कर समाजपरक होने की और उन्मुख हैं।

'ऋतुमहार' में नयी दृष्टि का भेद स्पष्ट होता है। कालिदास के 'ऋतुमहार' में आज का कवि कितनी दूर हो चुका है। भावना के क्षेत्र में उसमें भी वही 'रति' है, परन्तु जान करने का ढंग ही बदल गया है

मेरे हाथ के शरीर से यह अभी तक लाल है
और, जेसो की कोठियों की मेरी माला से अभी तक सुगंधित
तकियों के बीच में पड़ा यह लम्बा बाल
प्रिये, तेरे वियोग में मुझे डँस रहा है।

कालिदास की सघन नैश-राधिया आकर एक बाल में सिमट गई हैं। और यह

घास्या दोनों के साथ-साथ चलने के कारण दो प्रतिष्ठापनाएँ सग-सग चलती हैं, जिसका फल होता है विचार और भाव का साथ-साथ दिखाई पड़ना। कभी-कभी हम व्यापक में भी मन्त्रोच को देखते हैं।

प्रतीक्षा की बहुत जोहा बाट
जेठ बीता, हुई वर्षा नहीं,
नभ यो ही रहा खल्वाट ।

×

आज होगी, सजनि, वर्षा, हो रहा विश्वास
हो रही है भवनि पुलकित ले रहो निश्वास
किन्तु अपने देश में तो
सुमुल्लि, वर्षा हुई होगी एक ब्या कं बार
गा रहे होंगे मुदित हो लोग खूब मलार
भर गई होगी घरे यह वाग्मती की धार
उगे होंगे पोखरो में कुमुद, पद्म, भलान ।

—नगाजुन

आकाश का खल्वाट रूप अच्छी अभिव्यक्ति है। खल्वाट में दो भाव है। एक तो यह कि यहाँ से एक समृद्धि उजड़ चुकी है, और दूसरी यह है कि अब यहाँ कुछ जमेगा भी नहीं। खल्वाट में कुरूपता तो है, परंतु नीरसता भी है। कवि अब अपने देश को दाद करता है। यहाँ वह सकुचित हो जाता है, क्योंकि देश और जन्मभूमि को मिलाना ठीक नहीं है, और फिर एक भूलगंड की प्रशंसा निरवय ही यह भी भाव जगाती है कि दूसरा भूलगंड बुरा है। और कवि आकर वहाँ फस गया है। इस कविता का रस वही ले सकता है, जिसके यहाँ वर्षा बरसी हो जाये हो। सौभाग्य से सभी कवियों में यह होड नहीं चली है यद्यपि इसका मूलपात कुछ गर्बिलि कर चुके हैं। इस आत्मप्रशंसा से हमारे व्यापक दृष्टिकोण को भक्ता पहुंचता है, अतः यह स्वाभाव्य नहीं है। वस्तुतः जो यहाँ सुंदर है, वह है कवि का वर्षा का वर्णन और वर्षा की अनुभूति से जन्म लेनेवाला उसका आनंद।

‘एक ब्या कं बार’ में ताल-पोखर लवालव दीखते हैं और वर्षा ऋतु का सारा शृंगार सामने आ जाता है।

पुराना कवि सुंदर को ही अपनाता था। यद्यपि अब भी अधिक विविधता हमारे पहा नहीं आई है, फिर भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं।

‘बबूल’ एक ऐसी ही कविता है। बबूल पर बसत आया और वह हरा हो उठता है :

धनि - धनि प्रभु तोरे बदरा - बदरिया
 धनि-धनि हल-बैल धनि-धनि खेतवा ।
 धनि खेतहारिनि श्री'धनि है किसनवाँ
 जाके बल लह-लह ऊसर क रेतवा ॥
 अबकी तो श्रीरौतना चलत बपरिया
 मचलि-मचलि जात खेतवा के धनवाँ ॥

×

अब न पसीना बही बिरथा बेगार जइहाँ,
 अब न लगनवाँ मा बिकि हैं गहनवाँ ।
 सब भ्राजा पूरी करी हरा-भरा खेतवा
 अबना बिदेस जाइ मोरा पू किसनवाँ ॥

—चंद्रभूषण त्रिवेदी

मध्यकालीन कविता में ऐसे सुन्दर चित्रण हमे सेनापति में अवश्य मिलते हैं । शब्द-तालित्थ के प्रतिरिक्त जो भाषा का चमत्कार सेनापति ने साथ में रस्सी-सा बट दिया है, उसके कारण वह हाथ में अरखती है। यहा सहज वर्णन है। सत्यनारायण के घोए-घोए पात और नजीर के खेतों के-से ये खेत मुहावने हैं। हिंदी की बोलियों में कितनी सामर्थ्य अभी दबी पड़ी है यह स्पष्ट प्रकट होता है। किन्तु भ्रत में कविता में कृपक-स्तवन-सा आ जाता है। और प्रकृति मानो मनुष्य की जय बोलने लगती है। कवि यह नहीं भूल पाता कि यह सब मनुष्य वा रचाया हुआ सौंदर्य है जिसके बल ऊपर भी लह-लहा रहा है। जैसे—'पगु चढे गिरिवर गहन ।' भगवान की दया है, वैसे ही यह मनुष्य की भेटनत का लतीजा है। कविता के अंतिम भाग में किसान का पेट के लिए बिदेस जाना कहना जगता है और लगता है कि कवि की वेदना बहुत सार्थक है। जामसी के 'दीठि दंबगरा' और कालिदास के 'खिनो' से इसकी तुलना करिए

यह अघाट का पहला दिन गिर चुका दोंगरा गहरा
 धुले हुए सब पेड, प्रकृति का अंचल फिर से लहरा ।
 उमड़ी साँधी गध मटैली तपन मिटी घरती की,
 आज लिल गडे मुरभाई कलियाँ किसान के जी की ।

किसान के जी की कलियाँ मिली । पेड-भत्ते साफ हो गए । घरती से साँधी गध उठने लगी और तपन मिट गई । और चिंता के रूप में घर और प्रकृति दोनों साथ-साथ मिलते हैं

बाह-बाह में धलते जाते मंहगू के भी सपने
 जबकि कटेंगे धान मुनहले दिन भी होंगे अपने

सग-मग यह - रग भयुर फल - दल - धास्वादन
 वन - विहार पाँलें पसार लघु भार पवन - तन
 प्रव्याहृत, निश्चित, शान्त अपनी दिनचर्या
 जिन्हा आगामिनी यामिनी की प्रिय चर्चा
 या कि बधिक के फरे से बचने का कौशल
 प्रयथा सोच-विचार रहों—अग्ने वाला कल
 कोन कहे, मुँट सोल रही, क्या बोल रही है
 मानव-मन-सा होगा उनका भी चञ्चल चित ?

—जानकीवल्लभ शास्त्री

महज जीवन का कितना कोमल वर्णन है। ये दो पक्षी भारतीय दर्शन में पहली बार उपनिषदों में आते हैं। एक मन से वे आत्मा के ही दो रूप हैं, दूसरे मन से वे आत्मा और परमात्मा हैं। किन्तु जानकीवल्लभ के पक्षी कीट्स की एक जाड़े की ऋतु में पत्ते गिरे वृक्षों को याद दिलाने हैं। कीट्स ने कहा है—क्या इन वृक्षों को भी याद आती है अपनी पीटाएँ ? वही भाव बोधना है कि क्या इनका मन भी मनुष्य जैसा चञ्चल होगा ? कवि अपने जीवन की चिन्ताएँ देखकर पक्षियों के जीवन से तुलना करता है। उसे वे निश्चिन्त लगते हैं। बहुत ही सूक्ष्म रूप में कवि जीवन के उद्देश्य के बारे में पूछ रहा है कि भ्रमिष्य क्या है ? क्या स्वाभाविक रूप में जीवित रहना ही काफी है, या मनुष्य के रूप में जो यह प्राणी अपने को इतना अधिक महत्व देता है, वही प्रमुख है ? क्या प्राणी-मात्र अपने को सुरक्षित रखने की चेष्टा में लगा हुआ नहीं है ? व्यापक है यह दृष्टि जो आगामी कल में भी यही समस्या रखेगी क्योंकि इन प्रश्नों को मनुष्य बहुत दिन से सोचता चला आ रहा है।

आनन्द और विना जीवन के दो रूप हैं। एक है अपने अस्तित्व का पूर्ण आनन्द अनुभव करना, दूसरा है उसे बनाए रखने का प्रयत्न। वस्तुतः यह प्रयत्न भी आनन्द की ही प्राप्ति का एक साधन है, एक प्रतिरूप है। प्रयत्न विना जीवन नहीं है। सब बहे जा रहे हैं, किन्तु अपनी इच्छाओं में भी वे उतने ही तल्लीन हैं, जितने अपनी सामूहिकता में। एक कवि पूछता है

बोल-बोला मन मोन,
 गुनहगार है कीन ?
 जीनेवाला या जीने की चाह !
 बोलाने मन ठीक नहीं है
 कभी किसीकी छलना
 मृत्यु बहुत भली है मेरे

हो गया है, इसी प्रकार कवि प्रकृति में प्रेरणा लेना चाहता है। सम्य युग के उन्नयन में घृणा का आश्रय देखकर वह यह कहता है कि बलिदान मुक्ति दे सकता है। स्याहियों में जिदगी की आग के पख को-सी रेल बहुत मुदर कल्पना है, जो वाली घटा में चमकती हुई दामिनी के लिए की गई है। युग स्वयं अपनी तस्वीर गढ़ रहा है। यह युग एक नया 'पात्र' है, जिसका नये स्वरो से गायन किया गया है। इसका रूप क्या है? एक भावना-मात्र। नयी कविता का यह नया 'नायक' है। जिन प्रकार पुराने और मध्ययुगी में नायक के साथ प्रकृति वर्णन होता था, उसी प्रकार इस नये 'नायक' के साथ भी होता है। वह कितने ही प्रकारान्तरो से होता है।

वह धाम, लोकचित्रण से लेकर, उद्बोधन और नवचेतना के गर्जनों के अति-रिक्त हमें व्यक्तिपदा में भी मिलता है। कहीं-कहीं हम प्रकृति में नीति परकता सदृश दर्शन की झलक भी पाते हैं

यदि फूलों को सुपमा चाहो
सीखो पत्थर बनकर रहना
यदि मानस की सीमा चाहो
सीखो बधन बनकर रहना
मंने दो बिल्व बनाए हैं
जिसमें चाहे उंगली धर दो।

—शिववहादुरसिंह

फूलों की सुपमा के लिए पत्थर बनना और सीमा प्राप्त करने को बधन बनना, दोनों ही विरोधी तत्व हैं। दर्शन के क्षेत्र में दोनों उचित हैं। जो मुक्त है, वह असीम है अतः अनन्त दाह है। जो केवल बोलता है, मुदर है, वह जीवन की स्थिरता और सपर्य से दूर है। अतः यद्यपि फूल और पत्थर का कोई संबन्ध नहीं है, फिर भी बात बैठ जाती है। यह प्रकृति का नये ढंग का चित्रण है। अलंकारशास्त्रियों को भी नयी कविता में नतोप अवश्य हो सकता है

वर्ण-वर्ण भेरी कविता के नाविक बन-बनकर आते हैं

धर्म-कल्पना-तरणि में पग रख पथी पार उतर जाते हैं।

इस गतिमय धारा के बदले प्रबन्ध मृत तट का नाम न लूना।

सहस्रमया के दोहरे—नाविक के तीर थे। अत्र वर्ण ही नाविक हैं और कल्पना की नाव में वे पाव रगकर पार उतर जाते हैं। कवि को यह धारा पसन्द है, क्योंकि उसमें उसकी नाव तो चलती है। मुर्दा किनारे को तो वह नाम भी नहीं लेना चाहता।

उपनिषद् में यह भगवा आशा है कि आस, नाक, कान और प्राण में कौन सबसे बड़ा है। ऐसी कल्पनाएँ जिनमें व्यक्ति और परमात्म के टन्ड हैं, पुराने युगों में देवता

इतिहास के उन स्वर्णहृम्यों पर विपुल ।
 उच्च वह प्रासाद पीवन का गुलाबी लिए स्वप्नोन्माद,
 जिनकी जड़ें सिचतीं मनुज-शिशु की विपुल शोणित राशि से ।
 बजता पियानो, प्रेम का फिर स्वाग होता,
 और मेरी देखनी की सूखती मसि
 डुबोकर अपने कलेजे के लहू में मं मनोहर गीत सिखता ।

—मनतकुमार पापाय

अब सत्ता का प्रश्न इतना नहीं रहता, जितना यह भाव जागता है कि जीनेवाले जो क्यों नहीं पाते ? गीत के आकाश में भाव-चदा हसता है। वस्तुतः यहाँ प्रकृति नहीं है, किन्तु यह प्रकृति का ही रम्य रूप सामने लाता है। सागर, नक्षत्र, स्वर्गगा, सब ही हमें मिल जाते हैं। इसे शैली के रूप में नया ही समझना चाहिए क्योंकि यहाँ उपमान ही प्रमुखता प्राप्त करता है, अग्यथा इसमें कोई विशेषता नहीं है। शहीदों की याद के दीप, शोणित और शोषण, प्रेम का स्वाग और लहू में डूबी कलम, यह सब बाद में तब ही अपना प्रभाव दिखा पाते हैं जब वह पहला चित्र हम आत्मसात् कर लेते हैं।

कविता में रगीनी इतनी अधिक है कि वह आक्रोश नहीं जगाती, विस्मय जगाती है और इसलिए इसकी शैली के अनुरूप ही इसमें विषय का भी चमत्कार है।

समाजपक्ष का यह रूप प्रत्येक कवि में प्रायः मिल ही जाता है, क्योंकि यह तो धुग का प्रभाव है। सीधे-सीधे जो कह देने हैं, उनमें ऐसा सौंदर्य नहीं आता, दूसरे प्रकार का मिलता है।

सौंदर्य ही मूलतः केन्द्र है। दर्शन, मनन और चिंतन, मूलतः उसीको साकर प्रस्तुत करने की चेष्टा में लगे रहते हैं, कवि कहता है

किसी अधखिली आँख की ज्योति पीकर
 धरी डाल तेरा खिला फूल होगा।

किसी बूंद की जिदगी सोचता हूँ
 नदी को लहर में कभी मौन सोई
 कभी हंस पड़ो, चाँदनी से गले मिल,
 कभी बादलों का हृदय छेद रोई,

मगर अतः में बूंद, शृंगार तेरा
 नदी की निपति पर बँधा कूल होगा।

जीवन का यह सपर्यं बताता है, कि जीवन ही से जीवन को प्रथम प्राप्त है और यह गुणात्मक परिवर्तन अपनी महारमकता के भेद से नए-नए रूप धारण करते

कर दिया वह धन्य बनवासी समीर ।
हरित छुति जीवन-शिक्षा की एक भीठी प्रांच
अंतर में सँजो निज नवल अवयव प्रति दिवस
हे दीर्घ करता जा रहा जो सत्य उसकी
भूमि—अन्तर बदना ।

किन्हीं भारी दो शिलाओं की अंधेरी सन्धि में
उगते हुए उस सत्य को जिसने प्रखर उर-रश्मि के आघात से,
जिसने हृदय-एकत्र जीवन को सकल अनुभूति की
ध्याकुल-सजल बरसात से गभीर-महिमापूर्ण श्री-मय वृक्ष में
पों सहज परिपत कर दिया
उस रक्त-रश्मि विहानवाले ज्ञान-गुरु के सूर्य को
उस विकल जल-विस्तार-जल-विस्तार वाली
गहन मन बरमात को मेरे हृदय की किन्हीं नीरव
दो शिलाओं का कृतज्ञ प्रणाम है ।

—शबानन माधव मुक्तिदोष

माटी के निभूत में डूबकर बनवासी समीर ने लाकर बोज़ घर दिया । हरा रंग
जीवन की दीपशिखा की भीठी आग है । उस जीवन को कवि बदन करता है । इसी प्रकार
कवि के मन में भी दो शिलाएँ हैं, किंतु भीतर ही बरसात है और वह जीवन-शिक्षा भी
है । यह कवि का पूर्ण तन्मय रूप है । नये उपमान, नयी चित्रात्मकता, नयी शब्द-योजना,
सब ही बहुत आकर्षक हैं । यो पीछे की पवित्रियों में गहनता अधिक है जिसने कविता को
बोझिल बना दिया है, किंतु यह कविता भारी शिलाओं के स्वर से ही आरंभ होती है,
इसलिए इनका भारी होते जाना अधिक सौष्ठव ही लिए है । बरसात है जीवन की
सकल अनुभूति । मैं समझता हूँ कि 'सकल अनुभूति' और 'सजल बरसात' के स्थान पर
यदि कवि 'सजल अनुभूति' और 'सकल बरसात' लिखता तो कविता की प्रेक्षणीयता
कहीं अधिक सक्षम हो जाती । जीवन के प्रति यह ममता भी अपने आधार सर्वत्र दृढ़ता
हुई दिखाई देती है

बढ़ती जमुना की घाटा में लो कूद गया तराक बोर
कामर ही शका करते हैं उसने कब सोचा कहीं तीर !
नागिन - सौ प्रसन्नकर लहरें उठती हैं इसने आसमान
सब स्वयम् निगलने को बढ़तीं करतीं भोषण रण घमासान !
दिङ्मण्डल घर - घर भयरातर लहरों पर फेनों के पहाड

को भाति नहीं। वेदना का जो स्वरूप मनुष्य देखता है, आवश्यक नहीं है कि प्रकृति में भी वंसा ही हो। 'रेणु' में कवि ने अपनी आकुलता को इतिहासों में सराबोर करके भी देखा है, किंतु इसका अंत उसका नया मार्ग नहीं, पीडा ही है। धूल भी तो अपना महत्त्व रखती है

मनमानो किसी मथरा को मैं दारुण एक कहानी हूँ
साकेत वासिनी रहो कभी अब पंचवटी की रानी हूँ
जब गौरव-गिरि के सिर-किरीट बन हीरा-सी मैं जड़ी रही
अब किरणों के पथ अघरो की हमशोरा-सी मैं खड़ी रही
जब रत्नपीठिका शिव की त्रिभुवन की साधना - शिला थी मैं
उस समय अरी भोली जयती ! तू ले बेसुध-सी पड़ी रही ।

×

रे बुद्ध विश्व ! रे जरठ जीठ ! कुछ तो बचपन की बात बता
मेरा कंसा था प्रात ! और यह कंसा भीषण रात हुई ।

×

यह अतिम ग्रहर निशा का फिर मैं उपादीप नूरानी हूँ
क्षण अग्नि - परीक्षा ! फिर तो मैं साकेत - पुरी की रानी हूँ ।

—वेमरो

धूमि ! धूलि ही ! मनुष्य के इतिहास की साक्षी है। वह प्राचीन है। मनुष्य की देवकल्पना से भी प्राचीन। किंतु वह भी अपने विषय में कितना जानती है। उसका आदि कहा है ? कवि ने बहुत ही सराबोर कविता लिखी है, जैसे बहुत कम मिलेंगी। इस एक कविता में कितने उतार-चढ़ाव आकर समा गए हैं कि देखते ही बनता है। धूलि के कितने आवर्तन हैं जो अपने साथ स्मृति के कितने-कितने प्रकार धारण नहीं किए हुए हैं ! ज्ञान, सत्ता और मनुष्य की ममता, उसकी वासना, सबका ही यहा तादात्म्य हो गया है, क्योंकि कवि ने यहा उसे अपना विवधारी बनाया है, जिसका कि सारा ब्रह्माण्ड एक प्रसारमात्र है। मनुष्य के जीवन-भरण ने उसे हसाया है, रुसाया है। उसीने अपने लोक के अतिरिक्त अनेक लोकों की उसमें कल्पना करवाई है और अपने ही बनाए विद्वानों के रहस्य और रोमांस में मनुष्य में विभिन्न रसों की अनुभूति पाई है। किंतु प्रकृति में उसने एक साहचर्य पाया है। सब कुछ के बीच में रहना हुआ भी जैसे वह उसके बिना कुछ भी नहीं है। वह प्रकृति को भी अपनी वेदना को सहचरी बना लेना चाहता है

नहे-नहे भोले-भोले ओ मनबोले तारो, बोले
मेरे सूते सूनेपन में अपना मधुमय कसरत घोले

कर काम खेत में स्वस्य हुई
 होगी तलाब में उतर, नहा
 दे न्यार बंस को, फेर हाथ,
 कर प्यार, बनी माता धरती ।
 पक रही फसल, लद रहे घना
 से बूँट, पडी है हरी मटर
 तोमर^१ को साग और पौहो
 को हरा^२ भरी-पूरी धरती
 हो रही साँभ, धा रहे डोर,
 हैं रंभा रहीं गायें - भैंसों
 जगल से घर को लौट रही
 गोधूली बंला म धरती ।

—नरेन्द्र

एक भी पक्षि व्यर्थ नहीं है। पूरी धरती है, पूरा ग्राम-चित्र है, ग्राम-जीवन है।

एक 'सकलत्व' हमें यहाँ कितनी गहराई से मिलता है।

ग्राम का कवि हठ को भी आगे रखता है। प्रकृति के ही रूप में उसे सौंदर्य नहीं मिलता। अपनी मनचाही हो जाए तब ही उसे आनंद आए, तब ही उसे सुन्दरता भी दीख पड़े। यो मनुष्य तो दीन-हीन हो, परंतु प्रकृति सुन्दर-सी हो, तो भी वह हृदय कक्षा में मिलेगा उस रूप से, जो रूप का प्रभाव डाले। तभी वह कहता है

जब सजी बसती बाने में
 बहनें जौहर गाती होगी
 कातिल की तोपें उधर
 इधर नवपुत्रको की धाती होगी
 तब समझूँगा आया बसत ।

युग - युग से पीड़ित मानवता
 सुख की साँसें भरती होगी
 जब अपने होंगे बन - उपवन
 जब अपनी यह धरती होगी
 तब समझूँगा आया बसत ।

जब विश्व - प्रेम मतवालों के
 स्रुं से पथ पर लाली होगी

तिनका ? तेरे हाथों में है
 अमर एक रचना का साधन—
 तिनका ? तेरे पजे में है
 विधना के प्राणों का स्वप्न !

तू मिट्टी था, किंतु आज
 मिट्टी को तूने बांध लिया है
 तू था सृष्टि, किंतु सृष्टि का
 गुरु तूने पहचान लिया है !
 तिनका पय की धूल, स्वयं तू
 है अमर की पावन धूली—
 किंतु आज तूने नभ-पय में
 क्षण में बह अमरता लुली !

—अश्वेव

निशीना भरोना नहीं। अकेले चलना है। सक्ति अपने पास लेनी चाहिए, यह किसी भी तरह इतना हो कि जीवन की गति न रुक जाए। ऊपर, और ऊपर उठना है। तिनका क्या है ? रचना का साधन है, वह विधना के प्राणों का स्वप्न है। यह व्यक्ति मिट्टी है, किंतु जब आकार प्राप्त हो जाता है तब वह मिट्टी का स्वामी बन जाता है। सृष्टि का अंग होकर भी, वह सृष्टि बन जाता है, क्योंकि वह नया निर्माण करता है। अमर की पवित्र धूल है, और मारा खेल धूल का है, किंतु जब व्यक्ति उठता है, तब अमरता को छू लेता है।

किंतु व्यक्ति के पीछे जो महाज्ञान लगा हुआ है, वह उसके माहस को चुनौती है। अमरता एक भूल ही-सी दीसती है उसे, क्योंकि उसकी विद्यालना भी अतौगत्वा एक छोटी-सी सीमा है

महा स्वप्न में कल्पना जागती है

निशा चुप, दिशा चुप, गगल चुप खड़ा है।

निशा जा रही है, उपा द्या रही है

विपल, पल, कला को घड़ी खा रही है,

तिमिर चल रहा है टके सांत मेरो

गगन भी रहा है हृदय की भंजरी

×

महाकाल के प्राण केवल तजग हैं

नियम में बंधे ज्योति के चित्र लग हैं

वहाँ उमकी पकड़ नहीं हो सकी है। और वह भी तब जबकि नये कवि ने अपने विषय को बहुत सहज बनाकर प्रस्तुत करने की भी चेष्टा की है।

जो कविताएँ बोलियों में लिखी जाती हैं, उनकी प्रपणोपता कुछ सीमा तक अधिक होती है, परन्तु उपर्युक्त सीमा उसपर भी लागू होती है। कवि इस धरती का नया मालिक किमान को मानता है

बहु मन गलगल खेतवा के रनिपां
अब भा है धरती क मालिक किसनवां।

×

कारे - कारे छाये रहे भोर के बदरवा,
संग - संग भूमि रही खंबरी बदरिया।
धान के खेतवा निरावत किसनवां,
मोठे - मोठे गीत गावे चन्दामुख तिरिया।
बदरिन मइहाँ जैसे गोठ सागि सोने के
तैसी खेतहारिन कू छोडे है बदरिया।
होले - होले रमकि रही है पुरखइया,
भुकि - भुकि भूमि रही रस की बदरिया।
भम - भम भभक्त खेतवा के धनवां
जैसे उठे जमुना माँ बचल लहरिया।
पौछल हरेट देखि मगन किसनवां
तहर - तहर करे धना के बदरिया ॥

—चंद्रभूषण त्रिवेदी

काले बादलों के साथ सावरी बदरिया घूम रही है, धानों के खेत में नराव हो रहा है। खेत के धान भमभम ऐसे भमक रहे हैं जैसे जमुना में बचल लहरें उठती हैं।

किसान बाबू में धाया था करणा के जागने पर त्रिपु 'युग' उसका साथी बन गया। दया का स्थान 'अधिकार' ने ले लिया। और फिर मानवीय शक्तियों के विकास ने सिर उठाया। मनुष्य का बंधन, उसका गुस्सा सामने आया। उसमें जो भी मूजन-कर्ता है उसकी महिमा गाई गई। उसीमें किसान को भी स्थान मिला।

हूत मनुष्य का आयुष्य बना, और इस नाते उसने सजा पाई ब्रह्मा के सर्वतरत हाथ की।

वाघाएँ पर्वत कहलाई, प्रतिश्रिया को अधिकार कहा गया, और नवयुग का पर्याय बना उगता सूर्य। दलता सूर्यगत युग का प्रतीक बना। इन प्रकार प्रकृति के बहुत से रूप अपने गुण-साम्य के कारण एक विशेष चित्र देने लगे, जैसे नाम सप्त-युग में उन्होंने

जैसे कली का जीवन कोमल होने के कारण शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, परन्तु वह सहज नहीं मरता तो दुःख उठाता है और स्वयं ही अपने बल पर जीवित रहता है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है। यद्यपि कवि ने यहाँ प्रच्छन्न ढंग से वर्ण-सघर्ष की मान्यता को बल दिया है कि उच्चवर्गीय कला संरक्षण में पलने के कारण अशक्त है, और लोक की विद्रोह-भरी आकांक्षा को जीवित रखनेवाली कला शक्ति है, किंतु वह इतने इतना प्रकट नहीं करता, जितना इस सत्य को कि मनुष्य की धारणा को जीवित रहने के लिए सघर्ष करना ही आवश्यक है। क्या कवि कली का हलकापन दिखाकर उसकी अवहेलना करके सौंदर्य के एक मूर्त आधार को ही कम नहीं कर देगा, यदि हम मान लें कि वह अपनी सङ्कुचित राजनीतिक भावना में ठीक है? हमें यह नहीं देखना है कि कवि चाहता क्या है, हम तो यह देखते हैं कि कविता क्या बहती है।

व्यक्ति, समाज और सृष्टि के सघर्ष को हम यहाँ इस रूप में पाते हैं कि अपनी-अपनी सत्ता में सौंदर्य है। जीवन के अनेक रूप हैं। अब यह कि कौन-सा श्रेष्ठ है, यह कवि के अपने दृष्टिकोण पर निर्भर है। प्रकृति और मनुष्य का द्वन्द्व ही उसे इस जगह ले आया है, जहाँ अपने को जीवित रखने के लिए वह यदि असुन्दर में सुन्दरता देखता है, तो उप-योगितावाद के आधार पर सौंदर्य की शाश्वत भावना के प्रति भी सदेहास्पद हो उठता है। और सब कुछ होने पर भी वह अभी अपनी मजिल तक पहुँचा नहीं है।

फूल खिल-खिलकर सदा मुरझा रहे
 आज विस्मृति में पड़े मधुमात है
 भ्रूम मस्ती में हवाएँ जो वहीं
 आज वे ही बन गयी निश्वात हैं
 आज जीवन की सभी भंगटाइयाँ
 हो रही अपनी धिया में चूर हैं,
 या गई मजिल मगर वे दूर हैं।

—कुलदीप

मनुष्य की अपनी भावना ही सबको प्रतिबिम्बित करती है। हास है तो सब हास रहा है; दुःख है, तो सब ही रो रहा है। प्रिय या प्रिया के रूप के आधार पर ही सही, परन्तु जो कुछ उसका प्राप्तव्य है, वह अभी उसे मिल नहीं पाया है। अपनी विवशता की कुरूपता यदि मनुष्य प्रकृति पर लाद देगा तो क्या पाएगा वह? क्या हमके उत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य ही बुरूप नहीं बनता, प्रकृति में भी कुरूपता होनी है, तो क्या यह भी एक अर्द्ध सत्य नहीं है? सौंदर्य अपने-आप में नहीं, दो मतर्गों के क्षण के ही परिणाम में जन्म लेता है। आज के मनुष्य को अपनी विवृत्त दृष्टि को द्रोष्टना ही पड़ेगा और यह याद रखना पड़ेगा कि उपनिषदों के कवियों ने जब राम राम सुनना प्रारंभ

सोना - सोना चम्पा - चम्पा में चमक उठा
 धूलों में फलों का बसन्त छा गया हुलस
 मिट्टी की सोधी - सोधी सहक लगी उड़ने
 सरिता की धारा में जीवन छा गया सरस।
 जी-गेहूँ की स्वर्णम वाली

लहलहा उठी

उतरे विहग के बल के दल

गायन करते,

धामों के पल्लव, दूब,

किरण की शुचि पाती

हल की पूजा में जुटे

एक पल में अपने।

मानव की आत्मा का प्रकाश युग - युग से हल

जिसकी भोंकों में सामवेद मुलरित ललाम;

जिसकी मुस्कानों में पलती सभ्यता चरम,

उस हल को करता है पहाड भुक-भुक प्रणाम !

—देवनाथ पाडेय 'रसाल'

यह जो धन्न है, जिसकी उपनिषदों में महिमा गाई गई है कि हे धन्न ! तू ब्रह्म है ! वह नये युग में दूसरे शब्दों में अपनी अभिव्यक्ति पा सका है। अब धन्न को ब्रह्म का रूप तो नहीं माना जाता, परन्तु उसके महत्त्व को पहले से कहीं अधिक ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया है। सारी सृष्टि के अन्दर एक शक्ति है। वह शक्ति मनुष्य में भी है। मनुष्य की शक्ति उसके धर्म में है। हल उसी धर्म का एक प्रतीक है। तो जब वह हल गेहूँ उगाता है तब दूब, पत्ते, किरन, हल की पूजा में जुटते हैं। पत्ते धाम के हैं। परंपरा में उन्हें मंगलमय माना है। दूब भी मंगल-चिह्न है, और रुदकर भी न मरनेवाली हरि-माली है। किरन अषकार को हरती है। तो हल की पूजा करते हैं—मंगल-परंपरा, अक्षय जीवन और आलोक। इस हल में ही सभ्यता पलती है। इस हल को पहाड भी प्रणाम करता है क्योंकि इसकी गरिमा उसकी निराट काया से बही अधिक बड़ी है। इस प्रकार हल के रूप में मानव की आत्मा को ही उसकी मपूर्ण मृत्ता याद दिलाकर उसके ऊपर बिठाने का प्रयत्न हो रहा है।

एक ही प्राकृतिक व्यापार के हमें भिन्न-भिन्न रूपेण वर्णन प्राप्त होते हैं -

दूरगमन में टूट रहा है एक सितारा !

अषकार की छाती पर

प्रकृत धर्म और दर्शन

किधर जाऊँ ?

पूछता है मनुष्य ।

प्रकृति से सघपे करता हू कि मैं छोटा ब्रह्मा हू, तो क्या इसमें अभौतिकता देखूँ ? या एक-एक करके इसके रूपों को जानता चला जाऊँ ?

धीरे फिर पूछता है उसका विवेक

मनुष्य ! तेरा रहस्य खोलना ही क्या प्रकृति की सार्थकता है ? जब तू इस पृथ्वी पर नहीं था, तब इसकी क्या सार्थकता थी ? और तू नहीं रहेगा तब क्या होगी ?

यहूदी, ईसाई और इस्लामी तथा ऐसे मतों ने सृष्टि का ज़म मानकर भी उसके अंत तक की ही कल्पना की है, इसीलिए वे कब्र बनाकर अंत की प्रतीक्षा करने की भावना मानते हैं। परंतु हिंदू मानता है निरंतर्य, एक चक्र। बहुत दिन की प्रतीक्षा वह नहीं मानता, हाथ के हाथ सबका कार्य-कारण देखता रहा है वह। मनुष्य को उसने सृष्टि के अंत-गंत अन्यमतों की अपेक्षा अधिक माना है। इसलिए यह विचार भारतीय चिंतन में पहले नहीं मिलता। वहा तो विराट सृष्टि और विराट ध्वंस मिलते हैं। प्रलय अंतिम नाश है, परंतु उसके बाद भी एक सृष्टि है। नये कवि में यह परंपरा से उतर आई भावना तो अब भी है, परन्तु उसका 'माज' इतना बड़ा है और वह उसे इतना ही महत्व देने को विवश है कि 'नई' घास्या अभी तक वह पूर्णरूपेण खोजकर निकाल नहीं सका है।

समाज, स्त्री-पुरुष-सबध, अब हमें प्रकृति के व्यापक क्षेत्र में मिलते हैं, क्योंकि यौन सबध मूलतः प्रकृति के अन्तर्गत ही माना चाहिए। यहा हम इसकी विवेचन करते हैं। नया कवि कहता है

है आज प्रलय का आवाहन
बज-बज उठती है रणभेरी
तुम मूल मलीनकर बार-बार
अब व्यर्थ लगाओ मत देरी

बो बिदा, न यों प्रकुलाघो प्रिय,
भर-भरकर घालों में पानी

जब चन्द्रमा,
पश्चिम की भील के किनारे
अपने हरिण खोल देता है,
कभी दक्षिण और कभी उत्तरा
बनकर सुबह की हवाएँ
नील गायों की भाँति खेतों में
मूँह मारने लगती हैं,
और जब घड़े सेकती हुई फूली-फूली
तास बड़े फूलो-सी मुगियाँ, बाँग सुनाने लगती हैं,
सोने का एक अश्वत्थ बीज
आकाश अपने ठिठुरे हाथों से गाड़ने आता है ।

—नरेशकुमार मेहता

सुबह की हवाएँ नील गायों की तरह खेतों में मूँह मारती हैं । मुगियाँ लाल बड़े फूलो-सी दिखाई देती हैं । आकाश के हाथ ठिठुर गए हैं । वह एक बीज गाड़ने आता है । बीज है अश्वत्थ बीज । दानी पीपल का । अश्वत्थ शब्द ही अपने साथ बहुत बड़ी परंपरा लिए हुए है । वेद में यज्ञ जिसके मध्य में रहता है, और यातुधान उसको देखता है, वह अश्वत्थ बीज है । उपनिषद् में भी अश्वत्थ का उल्लेख है जो ऊर्ध्वमूल है । गीता का अश्वत्थ तो प्रसिद्ध ही है । यह अश्वत्थ निरंतर भारतीय चिंतन में अपना स्थान रखता आया है । बोधि द्रुम होने के कारण इसने आदर बीड़ों में भी पाया है । परंतु नरेशकुमार ने उसे अपनी दृष्टि से आलोक का बीज माना है । प्रकारांतर से आलोक भी दर्शन के अश्वत्थ का ही एक पर्याय है । कवि ने इस पक्ष को नहीं लिया । उसकी अपनी कल्पना है और जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, यह नये चित्रों में पुराने चित्रों का नवीनीकरण है ।

नरेश के शब्द बहुत चुने हुए होते हैं और वे जो प्रभाव चाहते हैं, वह स्पष्ट सामने आ जाता है

दोपहर तक सोने की पत्तियाँ
फूलों और फलों से लदा
सोने का घीसवान
अश्वत्थ बन जाता है
उसकी छाया में हमारी
घास गरम होनी है
हमारे पशु उसके नीचे बैठकर
जुगाली करने लगते हैं

होसिया लिए निज हाथ मे
 किस ओर जाएगा पयिक,
 यह तो अभी अज्ञात था ।
 बासी लिए रोटी बड़ा
 भाई वहाँ जब था खड़ा
 छोटा उठा मूँह टोकरी से
 दूध कहकर रो पड़ा
 मैं कैंप उठा था और टपका
 एक पीला पात था ।

—राधामगल सिंह 'सुमन'

कान्निदास का मेघ भी सुन्दरियो से खेलता था । उन्हें डराता था, उनके कटाक्षों से जीवन सफल करता था । वह भी पत्नी से भोगी मालिनो और किसानों की बधुओं को आराम देता था । सुमन का प्रभाव भी किसान-कन्याओं को छूनेवाले बात के कारण सुन्दर हो गया है । किन्तु उसका ध्यान किसी शिवा के पास सदेसा पहुचाने में नहीं है । उसे मनुष्य की भूल सता रहो है और इसलिए प्रभाव को वह नहीं देख पाया । यद्यपि वह बहुत सुन्दर था । उसकी दृष्टि फिर भी प्रतीक रूप पीले पात की ओर जाती है, जो जराजोर्ण था । वह मृत होकर गिरा या कठणा का अश्रु बनकर, दोनों ही अवस्थाओं में वह अपना समान प्रभाव छोड़ गया ।

स्त्री और वह भी जो कृत्रिमता से दूर कवि का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है, क्योंकि वहाँ उसे सहज जीवन की भाँकी मिलती है

खरी खेत में मूतकातो है किसी भील की रानी ।
 इसकी बाँहें नहीं कमल की नाल सरीखी कोमल,
 इसकी बाँहें पुष्ट जीम की शाखाओं-सी श्यामल !
 कनक कटोरे नागरिकाओं को ही रहें मुबारक
 विध्या के शिखरों-सा उन्नत है इसका वसस्थल !
 इसकी छाँवें भीत मृगी-सी नहीं विकल या चंचल
 इसकी छाँवों में सध्या के घोर, साँवले बादल !
 इसकी चितवन में हैं तीखे तोर न तेज कदार
 एक ज्योति है, छूसेती है जो प्राणों के तार ।

हसगामिनो या गजगामिनि इसे नहीं कह सकते,
 इसकी गति जगल के भरने-सी भल्लह मस्तानी

—रामदुमार चतुर्वेदी

मुममे जागृति की विद्युत है,
उठ ए नव युग के अप्रकृत !
उठ ए स्वदेश - श्री के सुहाग !
नव युग आया, नव युवक जाग ! !

—रतनलाल साधु

कहा कालिदास की भकारती मेखला पहने नितबिनी युवतियों का मादक वसत, कहा मादक वसत मे युवक और वह भी नवयुग का प्रतीक । प्राचीन कवि पुरुष अधिक था, स्त्री के क्षेत्र मे, नया है पौरुष का प्रतीक युग के क्षेत्र मे । यह एक बहुत बड़ा भेद है । प्रश्न आता है मनुष्य के स्थायी भाव का । युवती के प्रति 'रति' अब भी विद्यमान है । क्या युवक और युग के प्रति भी बनी रहेगी ? फिर प्रश्न है कि पुरुष दृष्टिकोण से स्त्री मे जो अनुरक्ति है, क्या स्त्री को भी वह उतनी ही आकर्षक लगती है ? क्या आज की बदली हुई नैतिक भावनाओं मे भी कालिदास की ऐसी उक्तियों का वही प्रभाव पड़ता है ? मैं समझता हू नहीं । आज उस स्थूलना से कवि-हृदय तुलनात्मक रूप मे सूक्ष्मता को अधिक महत्त्व देता है । युग कौन-सा युग है ! प्रत्येक युग नया है और प्रत्येक युग के प्रति मानव को अयनत्व की ममता होनी रहेगी । जैसे उपनिषदों के चिंतन से समस्याओं के बने रहने से हम अभी तक प्रभावित होते हैं, मैं समझता हू कि युग के प्रति होनेवाली आस्था मे ये कविताएँ अपना स्थान रखेंगी । अवश्य ही इनका अस्तित्व मानव के सर्वांगीण विकास को पूरी तरह से ढक नहीं सकेगा ।

युग के प्रति नरेन्द्र ने दूसरा चित्र दिया है । स्थायी भावों मे इन चित्रों को किस रम के अतर्गत माना जा सकता है, यह अभी तक प्रश्न ही है । कहता है -

आज रही है आज अभावस्था नयनों मे काजल
निश्चय नया चाँद कल उगता देखेगा जगती - तल !

शिष के अस्तक का आभूषण नये चाँद था अंकुर
यह जितना शोभाशाली है, है उतना ही निन्दुर ।
एकदत के एकदत - या राहु - याह से निर्भय
उन्नति का रथ - चक्र बनेगा यत्र चन्द्र निस्तशय !
नई ज्योति की अति बन, दाशि बन आएगा नवयुग कल !

—नरेन्द्र

अभावस्था का काजल पारना क्या अर्थ रखता है ? काले मे काला क्या दीखेगा । परनु इससे हम यही तात्पर्य निकाल सकते हैं कि अभावस्था उतनी काली नहीं, जितना उसका अघेरा है, यह भी सीच-तान करके ही । नया चाद अवश्य ही नवयुग बन जाएगा । इन कविताओं को रस की दृष्टि मे हमें वीर रम के अतर्गत रखना होगा, क्योंकि भाविर

जमुना के उस पार सहस्रहाते हरे खेत
उठता है एक स्वर

×

पानी बेती-बेती, निराती-निराती
यक गई होगी वह कृपक बाला : ग्राम युवती
जिसके श्वारेपन में शरमाता-मुस्कराता होगा
धौवन-धन, जाड़े की नरम-गरम धूप
क्षण-भर विलम्बा होगा उसका मन
कल्पना-निभूत निकुञ्ज में
छट चले हैं ये स्वर के मधु-दूत लालसा की ऊष्मा ले
प्यार की मंदिर सुरभि ले,
प्रतीक्षा की अकुलाहट का सन्देशा मुझे दे रहे
जाग्रो ठण्डे पवन भल्लोरे दूर मुझे परवाह नहीं है आज तुम्हारी
मत सहस्राग्रो मेरा भाया तप्त
नहीं चाहिए मुझे सहजने, तेरे में सब फूल—
दिखावट : सुरभिरहित,
में लिखता जाता हूँ जमुना के पार, उस पार
सहस्रहाते खेतों के बीच जहाँ से स्वर उठते हैं

—राजुचन्द्र दत्त

किंतु पहला चित्र टूटते ही कवि कुछ व्याकुल-सा हो जाता है। कृपक बाला - ग्राम युवती की धकान, उसका धौवन, धूप, जाड़े की नरम-गरम धूप, क्षण-भर विलम्बा उसका मन घोर फिर वह देखता है कि उसका माथा तप्त हो उठा है। सहजने के फूलों में सुरभि क्यों नहीं है, यह सवाल सामने आ खड़ा होता है। वे सफेद फूलों के भीतर घब उभे मच्छे नहीं लगते।

लोक-जीवन भी कवि के मानस की अवस्था के अनुकूल ही अपना स्थान काव्य में प्राप्त कर पाता है। तो ये नये चित्र वस्तुतः पथ का अन्वेषण ही हैं। अपने-आप में जो चित्र पूर्ण हैं, वे अपने आकर्षण के कारण ही। अधिक सुधमा है उन कविताओं में, स्वानुभूति ने बाह्य चित्रण को हटा दिया है। 'ग्रामवधू की विदा' में कवि एक सपूर्ण चित्र खींचता है। यह सारे चित्र मध्यवर्गीय जीवन के चिपचिपे ढोंग से बाहर जाने के प्रयत्नों को प्रस्तुत करते हैं। विदा की घड़ी अब आ गई है और बघू जा रही है :

विदा की घड़ी है कि टप टप टपाटप
बहे जा रहे ढोल के स्वर पवन में

वाकी स्त्रिया—हर जाति की—उनको पूज्य नहीं दिखाई दी। अतः जाति-प्रथा का खण्डन, मानव की सामान्य स्वीकृति इन युग की एक और देन है। मनुष्य के कार्य-व्यापार में प्रकृति को बाधकर जब चित्रण किया जाता है, तब एक सपूर्ण चित्र-खण्ड आकर उपस्थित होता है।

प्रकृति को रूपक के तौर पर लेने में प्रायः कवि एक ही बात को दुहरा-दुहराकर लिखते हैं, क्योंकि समय का चरण तो अभी बहुत तेजी से बढ़ता हुआ लगकर भी वास्तव में उतना बड़ा नहीं है जितने की आशा थी और कवि को बार-बार उसीका सामना करना पड़ता है

अधकार अपार भू पर व्यापमान
 अधकार अपार छाया आसमान
 अधकार सशक्त केवल अधकार
 कहां जीवन का विपुल विस्तार
 हास-विलास
 छा गए बादल, छिपे तारे, डंका आकाश
 कहां शेष प्रकाश
 व्यर्थ वृष्टि अदृष्ट जिससे सृष्टि साज
 हो रही है धन - तिमिर में वृष्टि आज
 नयन अकुर, नवल जीवन, नव समाज
 हो रहा निर्माण, नाश, विकास, हास—
 स—हास !
 आज का यह तिमिर करता क्षणिकदान
 समझने मानव लगा है शक्ति - ज्ञान
 स्वत्व, जीवन, प्रगति, सामञ्जस्य, मान,
 हो चला सघर्ष इससे जगत—
 का अधिवास !

—विनोचन शास्त्री

केवल अधकार समझन है। अधकार, अकुर, प्रकाश, सब अब अपना महत्त्व उतना नहीं रखते, जितना पहले रखते थे। मानव का स्वत्व आगे धाया है। इसका वारण है युग। युग यद्यपि एक प्रतीक है, परन्तु समस्या बनी हुई है। एक घोर इसकी प्रतिधिया हुई कि बार-बार वस्तु को दुहराने से काव्य नहीं बनता। दूसरी ओर हठ चला कि इसको विभिन्न करना ही आवश्यक है। इस द्वन्द्व में किसीने भी लोच-जीवन की गहराइयों में अभी तक चरण नहीं रखा। व्यापक जीवन प्रतीकों के रक्षण में नहीं फलता-

तुम्हारी नाव क्या तट से बंधी रह जाएगी
 लहर को काटकर अपना निराला पथ बनाने को
 नये सघर्ष में सजीवनी से डूब जाने को
 बड़े विश्वास से पतवार को हमने चलाया है
 तुम्हारी नाव क्या मझधार से घबराएगी।

नई भाषा नई हिम्मत नये सप्तार वाले हम
 नहीं जिसको सुना तुमने वही हुंकार वाले हम
 हमारी दृष्टि में निर्भीक साहस ही समाया है
 तुम्हारी श्राल क्या नीचे झुकी रह जाएगी ?

—वीरेन्द्र मिश्र

यह नये सप्तार का रहनेवाला है। उसमें नवीन साहस है। जैसे बालक को सब कुछ नया-नया-सा लगता है, नये कवि को भी वसी ही अनुभूति होनी है। यह जाति के जागरण का चिह्न है। पुरानी जाति से यह दृष्टि प्रायः ओझल-सी हो जाती है। तो यह है नया साहस। प्रवृत्ति आह्वान की भी उतनी ही सहारा है, जितनी वह पलायन को।

कवि-हृदय इतने में ही सीमित नहीं है। वह अपने चारों ओर की सृष्टि को भी नवीन स्फुरण से भरा हुआ देखना चाहता है

नई गति दो पवन को श्रौर
 सागर को नया-सा ज्वार दो
 वही सपना धरा को दो
 अमाने का नया जो द्वार हो !
 समय की बाँसुरी छोड़
 नये स्वरकी नयी ऋतुकार दो !
 नई पीढ़ी ! न सोओ लोरियों में
 यह सबेरा है नया
 हँसा वह भोर का सूरज
 अंधेरे का समन्दर घी गया ।
 अंधेरे में डुबा देते हमारी
 नौद के भोंके हमें
 लुमारो में न पी लेगा
 भला निर्माण को विध्वंस क्या ?
 सुनहरो जगमगाती पूरुं की
 रेखा किरण के जाल में

हैं अगम उमड़ चली सहस्र हज़ार
दल सँवार

जा रही हैं आज

कहीं दूर, दूर, दूर !

एक मील की झट्ट काजरी

तकीर

एक लक्ष्य जा रहों अदम्य

राह चीर—

×

राजा है कोई न कोई है रक

चींटी की दुनिया में चींटी निःशक !

×

रोकेगा कौन भला इनका दल ?

एक-एक चींटी में एक-एक गज का बल ।

—वीरेश्वरविह

इन चींटियों में ऊँच-नीच नहीं। अपनी दुनिया में चींटियों को शक भी नहीं है, चींटी में गज का बल होना जायसी की मायमती की आँसू से कौमो के काले पड़ जाने के समान होते हुए भी, अच्युत प्रभाव छोड़ता है, क्योंकि दल शब्द में ही शक्ति निहित मानी जाती है।

यह सामूहिक रूप से जो प्रकाश और धधकार का निरन्तर सघर्ष चल रहा है, वह भाविर क्यों ? यह सघर्ष है या मनुष्य इसकी कल्पना करने लगा है। नहीं। सत् और असत् के रूप में यह धारणा तो पहने से ही विद्यमान है। जिसे आधुनिक काव्य का 'गतिरोध' कहने हैं, वह वस्तुतः एक विशेष रीति के बाहर निकल पाने की असमर्थता ही है। कुछ ऐसा विचार हो गया है कि इस रीति-विशेष के बाहर निकलकर जो कुछ लिखा जाएगा वह काव्य नहीं हो सकेगा। रहस्यात्मक भावना तथा नए उपमानों का शोष इसी रीति के अंतर्गत हो सकता है, ऐसी मान्यता-सी बन गई है। किंतु रीति-विशेष ही काव्य की श्रेष्ठता का पर्याय नहीं हो सकता। यह सत्य है कि युग-विशेष के प्रभाव से निकलना सत्य नहीं है। किंतु युग में भी व्यक्ति की अपनी विशेषता होती है। वह हमें अवश्य मिलती है। कवि का चिंतन मुखर हो उठता है

मिट्टी के तिमिर गर्भ में तुम

सोए बनकर जब ज्योति-बीज

तब हृदय विघाता का जाने

क्यों कक्षा से उड़ा पसीज ?

रन-सी छा जाती है। गति इतनी है कि ध्वनि निकलने लगती है जैसे कालिदास के मेघ-दूत में शब्द, वही-कही क्या, प्राय ही ध्वनि गुजाने लगते हैं। नीरज की विशेषता है उसकी भाषा की सरलता। समय के साधन की कल्पना भी नहीं है। यहाँ कवि मेघ और श्रुति को मिला देता है, किंतु यहाँ वह विरोध भी उत्पन्न करता है। वाघनेवाला भी गिरकर माटी हो जाता है, और बादल भी। प्रतिविया और श्रुति का एक-सा मत ठीक नहीं जचता। किंतु कविता में यह भावना उतनी ग्राह्य नहीं है, जितना है उसका सजीव चित्रण, कवि के अपने सत्य में और काव्य के सत्य में भेद है। काव्य का सत्य इसीलिए सुन्दर बन पड़ा है कि उसमें जीवन का विद्व सुन्दर रूप से उतर आया है। प्रकृति के दुर्दम रूप को भी जीत लेना मात्र मानव की प्राकाशा हो गई है

प्रलय में, तिमिर में, न तूफान में भी
कदम ये रके हैं न एक पायोंगे ही।

न में चाहता मुक्ति को प्राप्त करना,
न में चाहता व्यक्ति का रूप धरना,
सभी विश्व मेरा, सभी प्राण मेरे
घतूंगा सभी विश्व को साथ धरे,
सभी स्वप्न हैं देखते एक मखिल
सभी जागरण में निहित एक ही दिल
भटकते हुए भी उपर ही चलेंगे
भटकते हुए भी उपर ही चलेंगे
जहाँ फूल-सा विश्व खिलता रहेगा
सहर पर जहाँ शशि मञ्जलता रहेगा
जहाँ एक ही जाति होगी धरा पर
जहाँ एक नर पति होगी धरा पर
जहाँ सघ में प्राण अनुरति होगी
यहाँ प्रेम होगा—यहाँ शक्ति होगी,
यहाँ स्वर्ग होगा मनुज के हृदय में
किसी दिन कभी तो पहुँच जाएंगे ही।

—उदयशंकर भट्ट

प्रलय, तिमिर, तूफान, इनमें न मनुष्य के पग बंधे हैं, न रकेंगे ही। प्राचीन और मध्यकालीन कवियों ने भी इस सत्य को और प्रकार के शब्दों में अभिव्यक्ति दी है। किंतु इतना व्यापक रूप हमें कम मिलता है। सकल ससार की शांति की कामना तो बहुत प्राचीन कवियों ने भी की है। नया कवि सर्वत्र जागरण की व्याप्त देख रहा है। वह ऐसा

बड़ी बेबसी, खो गई राह है ।
 गुफा कालिमा को निगलती चराचर ।
 गरम सांस यह काँपती-सी बराबर !
 गगन पर किरण मालिका तिलमिताती—
 घुटन बढ़ रही, मृत्यु का दाह है ।
 लगी आँख, सपने बहुत रंग दिखाते ।
 सुती आँख सुपने स्वयं टूट जाते ।
 धुली कल्पना जब हुई दृष्टि धूमिल
 बहे रग, छाका हुआ स्याह है ।
 अंधेरा बहुत, ज्योति की चाह है ।

—कुमारी रमाभिंद्र

प्रकृति का मय भी मनुष्य को बहुत सताता रहा है और अब भी उसका आतंक मौजूद है । ज्योति की चाहना आज बहुत बड़ी तृष्णा है । मध्ययुग का व्यक्ति यह नहीं मानता था कि वह प्रकृति के सवध में अधकार में डूबा हुआ है । प्रकृति को वह परमात्मा की महिमा के रूप में मान चुका था । उसकी अद्भुत शक्ति भी उसीके चमत्कार के रूप में मानी जाती थी । आज का मनुष्य अपने को अंधेरे में मानता है । उसके दीप इतने सशक्त नहीं हैं कि वे अंधेरे को पी जाए । यह मनुष्य की विवशता है । वह केवल कल्पना में मुख पाना है, यथार्थ बहुत कठोर है ।

मनुष्य का स्वप्न बहुत सशक्त है । वह स्वप्न में रहता है तो उसे "अपने चलने के साथ रवि, शशि किरणों के पख सजाए चलते नजर आते हैं । पृथ्वी, भरने, सरिताएँ, तर-लतिकाएँ, कानन और नया जीवन, सब उसे अपने साथ चलते हुए दिखाई देते हैं ।" (उदयशंकर भट्ट) इस स्वप्न को हम मनुष्य की बलवती आशा कहना ही अधिक उचित समझते हैं, क्योंकि उसीसे उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है ।

हो सकता है कि आगे बढ़ने का अर्थ कल बदल जाए, किंतु आज उसका यह दृढ-विश्वास-सा हो गया है कि वह विकाम कर रहा है । कवि हृदय इसे देखता है और व्यक्तिगत जीवन में उसके मन में मदाय भी हो उठता है

सुनहले सपन की रजत घाटियों से
 विमुष तन, विमुष मन चला धा रहा हूँ,
 अमृत दात करने चला पथ को मैं
 मगर पथ ही से छला जा रहा हूँ ।

क्या मनुष्य चल रहा है, या राह ही उसे छलती चली जा रही है ? दार्शनिक इस प्रश्न को मुनकर गूढ़ चिंतन में डूब जाता है । वैज्ञानिक अपने सीमित जीवन को ही

सामोश पय पर सम्पत्ता, सस्कृति पुनीत—
आदर्श का बोधा उठाए जा रही दुनिया ।

×

वही सुपना रहा है छल कि 'हम ऐश्वर्यशाली पूर्वजों के पुत्र
जिनकी कीर्ति थी अनुपम, हजारों दास-दासी
मेघचुम्बी भवन उन्नत, हाथी, अश्व, सुन्दर रथ,
व्यहले छत्र, सुनहरी झालरों से युक्त ।'
वही सुपना रहा है छल कि 'हम श्रीलाद हैं'
उन शाहशाहों की, नवाबों की
कि जिनके महल शालीमान, बरसता था विभव जिनमें
हरम में बंगमातों, लौडियों से श्री' गुलामों से
चूहल रहती सुबह से शाम, भूमकते घुंघरुओं की छूम
अदा अदाव, नखरे नाज, नाजुक हाथ
साकी की कंटीली तीर-सौ नजरें, ललकते लव
और थे मय के छलकते जाम ।

—देवेन्द्रनारायण वर्मा

तो यह बहुत स्पष्ट है कि अब प्रकृति चित्रण में मनुष्य और उसका समाज प्रमुख स्थान ले चुका है। प्रकृति के वर्णन से कब कवि हमें कहा लाकर ठहरा देगा, हम इसके बीच में कोई रेखा नहीं खींच सकते। वह क्या अनुभव करता है, वही उसकी विशेषता है। तो महा हम यह कह सकते हैं, प्रकृति को गीण स्थान मिला है, पय की खोज के कारण, क्योंकि अब प्रकृति अपने-आप में कुछ नहीं। वह तो मनुष्य के सुख-दुःख की छाया से ग्रस्त है। अब यह भी कहा जा सकता है, आज प्रकृति को उद्दीपन के रूप में प्रायः देखा जाता है, यह बात और है कि उद्दीपन के आधार बदल चुके हैं। वे व्यक्तिपरक से बढ़कर समाजपरक होने की ओर उन्मुख हैं।

'ऋतुमहार' में नयी दृष्टि का भेद स्पष्ट होता है। कालिदास के 'ऋतुमहार' से आज का कवि कितनी दूर हो चुका है। भावना के क्षेत्र में उसमें भी वही 'रति' है, परन्तु जान करने का ढंग ही बदल गया है

मेरे हाथ के धबीर से यह धभी तक लाल है
और, बेलों की कोठियों की मेरी माला से धभी तक सुगन्धित
तकियों के बीच में पड़ा यह तम्बा बाल
प्रिये, तेरे वियोग में मुझे डँस रहा है ।

कालिदास की सघन नैश-राशिया आकर एक बाल में सिमट गई है। और यह

उठना है और उसकी सास-सास कविता बन जाती है। जब वसन्त तितली के पल्ल लगाकर उड़ता है और तर-तर पर कुकुम पराग बिखाराता है, तब उसे धूलि की दुलहिन का मुहाग 'अक्षर' से भी अधिक अक्षर जान पड़ता है। कल-कल ध्वनि करती नदियों के पास जाकर उसके प्राणों की पायल स्वयं छनक उठती है।" (नीरज)

कंसा प्यार है। ओ घरती ! तेरा पुत्र है यह मनुष्य ! तुम्हें कितना प्यार करता है ! बीर भोग्ये वसुधरे ! यह दुर्दम पौरुष तुम्हपर कितना न्योझावर है ! किंतु जीवन को मार्यकता क्या है ! क्या है यह जीवन ? कवि करुण स्वर से पूछता है

मणि शय्या पर बालामो का प्यार
या सहरो का विष-मन्यन कर स्वीकार
क्या पाएंगे प्रभु, हम क्या पाएंगे ?

×

जिस दिन यह सारा आकुल प्रणयोन्माद,
रह जाएगा केवल पिछला अभ्यास,
जिस दिन सांसो में सांसें होंगी लीन,
पर मुर्दा होगी मन की सारी प्यास,
उस दिन होगा फिर यह सिद्ध
वैयक्तिक सोमा में धद्ध—
जितना भूठा है यह दुःख
उतना ही भूठा है सुख
सुख-दुःख इन दोनों के पार
क्या पाएंगे प्रभु, हम क्या पाएंगे ?

—धर्मवीर भारती

क्या होगा प्रभु ! जीवन का सार क्या है ! वैयक्तिक सोमा में धद्ध सुख और दुःख दोनों भूठे हैं। इनके पार क्या है ?

समस्त प्रकृति कवि को कोई प्रेरणा नहीं देती। अथ तक का प्रणयोन्माद एक पिछला अभ्यास बनकर रह जाएगा !

जीवन का रहस्य प्रकृति के अतर्गत ही आता है यहा, उसे हम दर्शन के अतर्गत नहीं ले सकते। क्योंकि यहा मनुष्य के जीवन का प्रश्न नहीं, उसका सृष्टि से तादात्म्य प्रमुख है। वह देखना है

"मदिरा-सी मादक रात, गगन में चादनी की भीनी उज्ज्वल साठी पहने मुस्करा रही है। उसके प्राचल से लहराती-झुलाती आनी मद पवन तन को छूकर मन में सिंह-रन-भर रही है। अमरों के सिन्धु उपवन में अठधेली कर रहे हैं। तितली की राजकुमारी

धनि - धनि प्रभु तोरे बदरा - बदरिया
 धनि-धनि हल-बैल धनि-धनि खेतवा ।
 धनि खेतिहारिनि ओ'धनि है किसनवा
 जाके बल लह-लह ऊसर क रेतवा ॥
 अबकी तो ओरीतना चलत बपरिया
 मचलि-मचलि जात खेतवा के धनवा ॥

×

अब न पसीना बही बिरया बेगार जइहाँ,
 अब न लगनवाँ मा बिकि हँ गहनवाँ ।
 सब प्राप्ता पूरी करी हरा-भरा खेतवा
 अबना बिदेस जाइ मोरा पू किसनवाँ ॥

—चंद्रभूषण त्रिवेदी

मध्यकालीन कविता में ऐसे सुन्दर चित्रण हमें सेनापति में अवश्य मिलते हैं । शब्द-तालित्थ के अतिरिक्त जो भाषा का चमत्कार सेनापति ने साथ में रसी-सा बट दिया है, उसके कारण वह हाथ में भरसती है । यहाँ सहज वर्णन है । सत्यनारायण के घोए-घोए पात और नजीर के सेतो के-से ये सेत सुहावने हैं । हिंदी की बोलियों में कितनी सामर्थ्य अभी दबी पड़ी है यह स्पष्ट प्रकट होता है । किंतु भ्रत में कविता में कृपक-स्वप्न-सा आ जाता है । और प्रकृति मानो मनुष्य की जय बोलने लगती है । कवि यह नहीं भूल पाता कि यह सब मनुष्य का रचाया हुआ सौंदर्य है जिसके बल ऊपर भी लह-लहा रहा है । जैसे—'पगु चढ़े गिरिवर गहन ।' भगवान की दया है, वैसे ही यह मनुष्य की मेहनत का नतीजा है । कविता के अतिम भाग में किसान का पेट के लिए बिदेस जाना कष्टना जमाना है और लगता है कि कवि की वेदना बहुत सार्थक है । जामसी के 'दीठि दंबगरा' और कालिदास के 'खेनो' से इसकी तुलना करिए

यह अयाद का पहला दिन गिर चुका दोंगरा गहरा
 घुले हुए सब पेड़, प्रकृति का आंचल फिर से सहरा ।
 उमड़ी सौंधी गध मटेली तपन मिटी घरती की,
 आज लिल गइँ मुरभाई कसियाँ किमान के जी की ।

किसान के जी की कतिया गिली । पेड़-पत्ते साफ हो गए । घरती से सौंधी गध उठने लगी और तपन मिट गई । और चिंता के रूप में घर और प्रकृति दोनों साथ-साथ मिलते हैं

बाँह-बाँह में घलते जाते मेंहूँ के भी सपने
 जबकि कटंगे धान सुनहले दिन भी होंगे अपने

जली नहीं प्रदीप - ज्योति पुंज - पुज छा गए
निकुज कुज से निकल जलम प्रदीप छा गए ।
ठहर न एक पल सके प्रकाश मे समा गए,

×

ये चाहते कि पोछ लें सुपल से प्रकाश को ।
कि चाट लें प्रकाश के समस्त चन्द्रहास को
इसीलिए जले स्वयं प्रदीप भी जला गए ।

—भारतीप्रसादमिश्र

जिनमे ज्योति की चाह है, वे ज्योति मे लीन हो जाते हैं ।

“पृथ्वी और आकाश मिले हुए झीलते हैं, पर क्षितिज का अंत नहीं मिलता ।
ऊपर मत देखो । किस्मत की आड़ लेकर असफलताओं से मत डरो । मैं प्रकृति-दूत हूँ,
तुम शक्ति-दूत हो ।” (विपिनचन्द्र चतुर्वेदी)

“ऋभावात छा रहा है ।

“परा के वक्ष पर उभरे हुए पहाड़ उरोज हैं । वह ऋभावात धाकर उन्हें मसलता
है, कडाकडाता है । सूक्ष्म रोम हैं । इन्हें वह ऋकभोरकर चीर जाता है । ऋरने, नदियां
सिरा-उपसिराए हैं । उनमें वह लहू की तप्त लपटों-सा प्रखर उद्दण्ड ज्वाला को विशिख-
सा सनसनाता है ।” (भारतभूषण अग्रवाल)

पृथ्वी के वक्ष और तूफान का यह वर्णन कितनी ध्याकुल वासना से भरा हुआ
है । वातिदास ने भी पृथ्वी के उरोज देखे थे । किसी भी रूप में ही, अंत में मानव अपने
जीवन-सपनों से ही उपमाएँ देता है, क्योंकि जिसे वह जानता है, वही उसकी रागवृत्ति
में बसे रहते हैं ।

मनुष्य इस तूफान से डरता नहीं । बहता है—“आओ ! इन चरणों से हे प्रलय
के समीर ! टकरा जाओ ! हे आकाश ! तुम शत-शत भानु हाथों में लेकर गरजो, लाख-
लाख किरणों के तीक्ष्ण तीर छोड़ो । परंतु मैं अभय हूँ । मुझमें प्रलिल तत्त्व बदी है । मैं
एक गाकार व्यष्टि हूँ जिसमें समष्टि प्रतिनादित हो रही है ।” (केदारनाथ मिश्र ‘प्रभात’)

“गिरि-सिखर मनुष्य का घ्येय है ।” (वच्चन)

इस सभ्रं में प्यार ही उसके जीवन का सबल बनकर निकलता है । वह
कहता है

घायल उर को देख तडपता किसने तोर संधाना
किसने पतघट के पक्षी पर छाहा जाल विद्याना
आओ मेरी बाँहों में तन-भन की आग बुझा लें
भन के बेरी को समझाने बिगड़ी आत धना लें,

हो गया है, इसी प्रकार कवि प्रकृति में प्रेरणा लेना चाहता है। सम्य युग के उन्नयन में घृणा का आश्रय देखकर वह यह कहता है कि बलिदान मुक्ति दे सकता है। स्याहियों में ज़िदगी की आग के पख की-सी रेत बहुत मुदर कल्पना है, जो काली घटा में चमकती हुई दामिनी के लिए की गई है। युग स्वयं अपनी तस्वीर गढ़ रहा है। यह युग एक नया 'पात्र' है, जिसका नये स्वरो से गायन किया गया है। इसका रूप क्या है? एक भावना-मात्र। नयी कविता का यह नया 'नायक' है। जिन प्रकार पुराने और मध्ययुगों में नायक के साथ प्रकृति वर्णन होता था, उसी प्रकार इस नये 'नायक' के साथ भी होता है। वह कितने ही प्रकारान्तरो से होता है।

वह धाम, लोकचित्रण से लेकर, उद्बोधन और नवचेतना के गर्जनों के अति-रिक्त हमें व्यक्तिपक्ष में भी मिलता है। कहीं-कहीं हम प्रकृति में नीति परकता सदृश दर्शन की झलक भी पाते हैं

यदि फूलों को सुपमा चाहो
सीखो पत्थर बनकर रहना
यदि मानस की सीमा चाहो
सीखो बधन बनकर रहना
मंने दो चिह्न बनाए हैं
जिसमें चाहे उंगली पर दो।

—शिववशादुरसिंह

फूलों की सुपमा के लिए पत्थर बनना और सीमा प्राप्त करने को बधन बनना, दोनों ही विरोधी तत्त्व हैं। दर्शन के क्षेत्र में दोनों उचित हैं। जो मुक्त है, वह अतीव है अत अन्त दाह है। जो केवल कोमल है, सुदर है, वह जीवन की स्थिरता और सपर्य से दूर है। अत यद्यपि फूल और पत्थर का कोई संबध नहीं है, फिर भी बात बँठ जाती है। यह प्रकृति का नये ढंग का चित्रण है। अलंकारशास्त्रियों को भी नयी कविता में नतोप अवश्य हो सकता है

वर्ण-वर्ण मेरी कविता के नाविक बन-बनकर आते हैं

और कल्पना-पत्थरों में बग रक्त-धरती-पार उतर जाते हैं।

इस गतिमय धारा के बदले अब मृत सट का नाम न लूँगा।

सतमेमा के दोहरे—नाविक के तीर थे। अब वर्ण ही नाविक हैं और कल्पना की नाव में वे पाव रगकर पार उतर जाते हैं। कवि को यह धारा पसंद है, क्योंकि उसमें उसकी नाव तो चलती है। मुर्दा किनारे की ती वह नाम भी नहीं लेना चाहता।

उपनिषद् में यह भगवा आता है कि आत्मा, नाक, कान और प्राण में कौन सबसे बड़ा है। ऐसी कल्पनाएँ जिनमें व्यक्ति और परमात्म के द्रव्य हैं, पुराने युगों में देवता

स्वागत आश्विन मास !
 भरते जन-जन में जीवन ।
 बाढ़-पीड़िता वसुंधरा का
 लीटे जीवन ।
 मिटे मनुज - सस्कृति विकास
 पय के घे इतइल
 करे कान्ति - रवि-किरण
 जगत का पय आलोकित ।
 शोषण की धारा न बहे फिर ।
 मरनेवाली पूंजीवादी सस्कृति का
 शोषक समाज का
 श्राद्ध करें हम पितृ पक्ष में ।
 खिले द्वितीया इंद्रुक्ता - सी
 बड़े नई सस्कृति दिन - प्रतिदिन ।
 घोर विजयदशमी फिर आए
 विजयदिवस जनता का पावन ।
 नगर-नगर में प्राम-प्राम में
 हो विजयोत्सव
 निर्धनता रूपी रावण को
 फूँके, प्राग जला समता को ।

—सूर्यदत्त दुबे

पय स्पष्ट होता आ रहा है। तीन बातें हैं—अपने-आप में प्रवृत्ति, प्रकृति और मनुष्य की वेदना, प्रकृति और मनुष्य का तादात्म्य। तीनों का विवेचन करने पर हमें नए रूप मिलते हैं। कवि सब एकमत नहीं हैं, न होंगे, फिर भी हमें दोषता स्पष्ट ही है कि जीवन की आस्था आज प्रकृति से उपदेश लेनी है, उससे लड़ती है, उसे प्यार करती है, सब कुछ इसलिए कि जो है सो अपना बनकर रहे, यह प्रकृति निरंतर सुंदर बनकर रहे और मानव को सुख देती रहे। वस, इतना ही उसका उद्देश्य है।

इसीलिए कवि सुन्दरता को तभी सुन्दर मान लेने को तत्पर है जब वह उसके मन की सुन्दरता की कल्पना से मेल खा जाए, अन्यथा नहीं। तभी वह कहता है कि जीवन का सपर्यं आज प्रमुख है।

जीवन के कुमुमित उपवन में
 शुद्धित मधुमय कण-कण होगा

कर दिया वह धन्य धनवासी समीर ।

हरित छूति जीवन-शिला की एक भीठी घाँच

घातर में संजो निज नवल अवयव प्रति दिवस

है दीर्घ करता जा रहा जो सत्य उसको

नमिच—घन्तर वदना ।

किन्हीं भारी दो शिलाओं की अंधेरी सन्धि में

उगते हुए उस सत्य को जिसने प्रखर उर-रश्मि के आघात से,

जिसने हृदय-एकत्र जीवन को सकल अनुभूति की

ध्याकुल-सजल बरसात से गभीर-महिमापूर्ण धी-मय वृक्ष में

यों सहज परिणत कर दिया

उस रक्त-रश्मि विह्वलवाले ज्ञान-गुरु के सूर्य को

उस विकल जल-विस्तार-जल-विस्तार वाली

गहन मन बरमात को मेरे हृदय की किन्हीं नीरव

दो शिलाओं का कृतज्ञ प्रणाम है ।

—गमानन्द माधव मुक्तिबोध

माटी के निभूत में डूबकर धनवासी समीर ने लाकर बोज घर दिया । हरा रंग जीवन की दीपशिखा की भीठी आग है । उस जीवन को कवि वदना करता है । इसी प्रकार कवि के मन में भी दो शिलाएँ हैं, किंतु भीतर ही बरसात है और वह जीवन-शिला भी है । यह कवि का पूर्ण तन्मय रूप है । नये उपमान, नयी चित्रात्मकता, नयी शब्द-योजना, सब ही बृहत् आकर्षक हैं । यो पीछे की पंक्तियों में गहनता अधिक है जिसने कविता को बोझिल बना दिया है, किंतु यह कविता भारी शिलाओं के स्वर से ही आरंभ होती है, इसलिए इसका भारी होते जाना अधिक सौष्ठव ही लिए है । बरसात है जीवन की सजल अनुभूति । मैं समझता हूँ कि 'सजल अनुभूति' और 'सजल बरसात' के स्थान पर यदि कवि 'सजल अनुभूति' और 'सकल बरसात' लिखता तो कविता की प्रेषणीयता वहीं अधिक सक्षम हो जाती । जीवन के प्रति यह ममता भी अपने आधार सर्वत्र दृढ़ता हुई दिखाई देती है

चढ़ती जमुना की धारा में लो कूद गया तंत्रक बीर

कायर ही शक्ता करते हैं उसने कब सोचा कहां तीर !

नागिन - लो प्रलयकर लहरें उठती हैं उसने घातमान

सब स्वयम् तिगलने को बढ़तीं करतीं भीषण रण घमासान !

दिङ्मण्डल घर - पर भयनातर लहरों पर फेनों के पहाड

समाज और युग-सीमा

जिस समाज में हम रहते हैं उनमें अनेक प्रकार के बन्धन हैं। वे शरीर और मन के विकास में बाधा डालते हैं। इसलिए उनका विरोध करना आवश्यक है, क्योंकि कवि तो पूर्णता चाहता है। उस पूर्णता का विरोध करने से ही विपदाएँ सामने आती हैं।

“दूषण सहस्र को चुनौती दे रहा है। मेरा स्वप्न है कि मैं उस पार जाऊँगा, और विद्यु बह रहा है कि मैं तरणी को डुवाऊँगा, और विश्वास बह रहा है कि मैं लहरों को टराऊँगा। क्या प्रवानी मीत से भयभीत होती है ?”

(हरिकृष्ण प्रेमी)

इस विद्रोह का सहारा यौवन है, क्योंकि यौवन में स्फूर्ति होती है। यौवन में व्यक्ति सुन्दर होता है। सुन्दरता शक्ति है और शक्ति का स्फुरण विलकुल ही स्वभाविक है। बलिदान परती के लिए है। वह कहता है, “पढ़ने मिट्टी को देह-दान देना चल। तू एक अमर जागरण है, अपने-बालों को स्नेह-दान देता चल।” (देवेन्द्रनारायण वर्मा)

माटी को दान देना महत्कर्म है, क्योंकि माटी ही अपने प्रकारांतर से जावित है और चेतना का रूप भी उसीसे विवक्षित होता है। इसके लिए नये विश्वास की आवश्यकता है।

“विश्वास सपने में बड़ा है। सपनों सुखों में बडकर है। विश्वास मनुष्य के जाग्रत पीरुप की अविरतता का स्वर है। वह मदियों से जागो मानवता को अंतरवाणी का घर है।” (मचल)

पीरुप को जिस प्रकार नया कवि जगाता है, वह पुराने कवियों से भिन्न है। पहले पीरुप इस प्रकार आत्मपरक रूप में नहीं जगाया जाता था। उस समय उसे किसी एक व्यक्ति विशेष में निहित कर दिया जाता था। यह आत्मपरकता यक्षु को व्यापक बनाने के लिए काम में लाई गई है। कवि कहता है

“मैंने नवीन विचारों के बीज बोए हैं। परती पर नया इतान उगा माता है।”

(श्रीहरि)

उसे किसी भी प्रकार का बंधन पड़ना नहीं है। समाज में कितने ही प्रकार के व्यवधान हैं। छूनछात, दरिद्र, धनी, बह सबको तोड़ देना चाहता है :

कर काम खेत में स्वस्थ हुई
 होगी तत्ताब मैं उतर, नहा
 दे न्यार बंस को, फेर हाथ,
 कर प्यार, बनी माता धरती ।
 पक रही फसल, लद रहे घना
 से बूँट, पडी है हरी भटर
 तोमर^१ को साग और पीहो
 को हरा^१ भरी-पूरी धरती
 हो रही साँभ, धा रहे डोर,
 हैं रंभा रहीं गायें - भंसों
 जगल से घर को लोट रही
 गोधूती बंला म धरती ।

—नरेन्द्र

एक भी पक्ति व्यर्थ नहीं है । पूरी धरती है, पूरा ग्राम-विश्व है, ग्राम-जीवन है ।

एक 'सकलत्व' हमें यहाँ कितनी गहराई से मिलता है ।

ग्राम का कवि हठ को भी आगे रखता है । प्रकृति के ही रूप में उसे सौंदर्य नहीं मिलता । अपनी मनचाही हो जाए तब ही उसे आनंद आए, तब ही उसे सुन्दरता भी दीख पड़े । यो मनुष्य तो दीन-हीन हो, परंतु प्रकृति सुन्दर-सी हो, तो भी वह हृदय कहा से मिलेगा उस रूप से, जो रूप का प्रभाव डाले । तभी वह कहता है

जब सजी बसती बाने में
 बहनें जौहर गाती होगी
 कातिल की तोपें उघर
 इधर नवयुवको की छाती होगी

तब समझूँगा आया बसत ।

युग - युग से पीड़ित मानवता
 सुख की लालें भरती होशरी
 जब अपने होंगे बन - उपवन
 जब अपनी यह धरती होगी

तब समझूँगा आया बसत ।

जब विद्व - प्रेम मतवालों के
 स्रुं से पय पर लालो होगी

भीतर और बाहर की घाग एकाकार हो गई है, तभी तो विद्रोह का पूर्ण स्फुरण दिखाई देता है।

“जीवन की हार—सहने की सीमा भी ठोकर खाते-खाते आज घगार बन गई है, वह घगार किसी दिन भूमण्डल में घाग लगा देगा। गली-गली में मर्यादाएं तूफान उठाएंगी, जिनके आवर्तों में लोहे की बुनियादें तिनको-सी उड़ जाएंगी। लक्ष-लक्ष तल-वारों कण-कण में जग घाएंगी। अपमानों की घोर घटाएं भीषण वज्र गिराएंगी, तब भू से नम तक बोधि-वृक्ष की हरी टहनियां लहराएंगी।” (नीलकण्ठ तिवारी)

सहन करने की भी एक सीमा होती है। कब तक आखिर अपमान सहा जाए। लेकिन शोषण से कभी तो मनुष्य ऊबेगा ही और वह प्रतिरोध अवश्य लेगा। कायर प्रवर्य अपने लिए डरते हैं

जिनकी भुजाओं की शिराएँ फड़कीं ही नहीं
 जिनके लहू में नहीं बेग है अनल का।
 शिव का पदोदक ही पेय जिनका है रहा
 चखला हो जिन्होंने नहीं स्वाद हलाहल का।
 जिनके हृदय में कभी घाग मुलगी ही नहीं
 ठेस लगते ही झटकार नहीं छलका,
 जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है
 बँटते भरौसा किए वे ही घ्रात्य बल का।
 उसकी सहिष्णुता, क्षमा का है महत्त्व ही क्या
 करना ही आता नहीं जिसकी प्रहार है ?
 करुणा क्षमा को छोड़ और क्या उपाय उसे
 ले न सकता जो बरिषों से प्रतिकार है ?
 सहता प्रहार कोई विवश, कदमं जीव
 जिसकी नसों में नहीं पौरुष की धार है,
 करुणा क्षमा है बत्तीब जाति के कसक घोर
 क्षमता क्षमा की दूरबोरों का सिंगार है।
 सदृश कहीं भी एक तृण जो शरीर से तो
 उठता बराल हो फणीश फुफकार है
 सुनता गजेन्द्र की चिघाड जो बनो में कहीं
 भरता गूहा में ही मृगेन्द्र हृदुकार है
 शूल घुभते हैं, छूते घाग है जलाती, भू को—
 खोलने को देखो गजंमान पारावार है

वहाँ उमकी पकड़ नहीं हो सकी है। और वह भी तब जबकि नये कवि ने अपने विषय को बहुत सहज बनाकर प्रस्तुत करने की भी चेष्टा की है।

जो कविताएँ बोलियों में लिखी जाती हैं, उनकी प्रेम्णोपमा कुछ सीमा तक अधिक होती है, परन्तु उपर्युक्त सीमा उसपर भी लागू होती है। कवि इस धरती का नया मालिक किमान को मानता है

बहु मन गलगल खेतवा के रनिपां
प्रथ भा है धरती क मालिक खिसनवां।

×

कारे - कारे छाव रहे भोर के बदरवा,
संग - संग भूमि रही खंबरी बदरिया।
धान के खेतवा निरावत खिसनवां,
मोठे - मोठे गीत गावं चन्दामुख तिरिया।
बदरिन मइहाँ जंसे गोट सागि सोने के
तंसी खेतिहारिन कू छोडे है बदरिया।
होले - होले रमकि रही है पुरखइया,
भुकि - भुकि भूमि रही रस की बदरिया।
भम - भम भमकत खेतवा के धनवां
जंसे उठे जमुना मां चचल लहरिया।
पौछल हरेट देलि मगन खिसनवां
लहर - लहर करं धना के बदरिया॥

—चन्द्रगुप्त त्रिवेदी

काले बादलों के साथ सावरी बदरिया घूम रही है, धानों के खेत में नराच हो रहा है। खेत के पान भमभम ऐसे भमक रहे हैं जैसे जमुना में चचल लहरें उठती हैं।

किसान वाश्य में धाया या करणा के जागने पर किन्तु 'युग' उसका साथी बन गया। दया का स्थान 'अधिकार' ने ले लिया। और फिर मानवीय शक्तियों के विवाम ने सिर उठाया। मनुष्य का वैभव, उमरा गुरुत्व सामने आया। उसमें जो भी मृज्ज-वर्ता है उसकी महिमा गाई गई। उसीमें किसान को भी स्थान मिला।

हत मनुष्य का आयुध बना, और इस नाते उसने सत्ता पाई ब्रह्मा के सर्जनरत हाथ की।

वाषाएँ पर्वत कटलाईं, प्रतिजिया को भयकार कहा गया, और नवयुग का पर्चाय बना उगना सूर्य। टलला सूर्यगत युग का प्रतीक बना। इन प्रकार प्रकृति के बहून में रूप अपने गुण-साम्य के कारण एक विरोध चित्र देने लगे, जैसे नाथ सन-युग में उन्होंने

उन निर्जीव शून्य श्वासों में आज फूँद दूँ तो नव जीवन भर दूँ उनमें तूफानों का अगणित भूचालों का कम्पन ! जल - श्वाला भूकम्प तुम्हारे ही अतुलित बल के परिचायक पाँधी श्री' तूफान तुम्हारे शक्तिमान श्वासों के वाहक उठी - उठी ऐ सीते सागर तई सृष्टि को ले नव कम्पन क्षीर सिधु भी, वन्द्य, तुम्होंमें जिसमें स्थिति अग-जग का कारण जागो पहचानो अपने को मानव हो, समझो निज गौरव अन्तस्तल की छाँड़ें खोलो देखो निज अतुलित बल संभव अहंकार श्री' स्वाधिकार—
दो पृथक् - पृथक् पथ हैं बंदी।

—जरेन्द्र

मानव को अपना गौरव पहचानना है। वह तो एक सागर है, किंतु ऐसी नींद में डूबा है कि अपने को भूल गया है। क्रान्ति ही उसे जगा सकती है। क्रान्ति अब आ गई है। "विपथगा की पायल तलवारों को भ्रकार में भ्रकार रही है। वह अगड़ाई लेती है तो भूचाल घाते हैं। पायल की पहली भ्रमक में सृष्टि में कोलाहल छा जाता है। जिधर उसके पाव पड़ते हैं उधर भूगोल दब जाता है। जब दिशाओं में लपट सहराती है तब खलभल कर खगोल अकुला उठता है।" (रामपारीसिंह दिनकर)

दिनकर की क्रान्ति में उत्पात बहुत है। जैसे क्रान्ति न हुई शिव का ताण्डव हो गया। किंतु ये अतिशयोक्तिया प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। सुलभ अभिव्यञ्जना के कारण कवि सम्मेलनों में यह कविता अच्छा असर डालती रही है। यदि अर्था को छोड़कर देखा जाए, तब भी इसमें जान है, क्योंकि इसमें एक स्फुरण की भलक प्रवस्य मिलती है। इस वाति के रूप में निर्माण कम है, विध्वंस अधिक है

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात किस रोद्ध किधर से आऊंगी
मिट्टी से किस दिन जाग अट्ट धर में आग लगाऊंगी
छाँड़ें अपनी कर बन्द देश में जब भूकम्प मचाऊंगी
किसका दूटेगा श्रृंग, न जाने, किसका महल गिराऊंगी
निबंध अूर, निर्मोह सदा, मेरा करार नतन, गर्जन,
भन - भन

धध की अगस्त्य की बारी है, पापों के पारावार ! सजग
बँडे विसूविषय के मुस पर, भोले, अदोष मसार ! सजग
रेशों का रक्त वृशान् टुघा ओ जुत्मी की तलवार ! सजग

सोना - सोना चम्पा - चम्पा में चमक उठा
 फूलों में फलों का बसंत छा गया हुलस
 मिट्टी को सोधी - सोधी महक लगी उड़ने
 सरिता की धारा में जीवन छा गया सरस।
 जो-जोई की स्वर्णिम बाली

लहलहा उठी

उतरे विहग के बल के दल

गायन करते,

शामो के पल्लव, दूब,

किरण की शुचि पाती

हल की पूजा में जुटे

एक पल में अपने।

मानव की आत्मा का प्रकाश युग - युग से हल
 जिसकी भोंकी में सामवेद मुद्रित खलाम;
 जिसकी मुस्कानों में पलती सभ्यता वरम,
 उस हल को करता है पहाड़ झुक-झुक प्रणाम !

—देवनाथ पाटेल 'रसाल'

पह जो अन्न है, जिसकी उपनिपदों में महिमा गाई गई है कि हे अन्न ! तू ब्रह्म है ! वह नये युग में दूसरे शब्दों में अपनी अभिव्यक्ति पा सका है। अब अन्न को ब्रह्म का रूप तो नहीं माना जाता, परन्तु उसके महत्व को पहले में कहीं अधिक ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया है। सारी सृष्टि के अंदर एक शक्ति है। वह शक्ति मनुष्य में भी है। मनुष्य की शक्ति उसके अन्न में है। हल उसी अन्न का एक प्रतीक है। तो जब वह हल गेहूँ उगाता है तब दूब, पत्ते, किरन, हल की पूजा में जुड़ते हैं। पत्ते अन्न के हैं। परंपरा में उन्हें मंगलमय माना है। दूब भी मंगल-चिह्न है, और रुदकर भी न मरनेवाली हरि-याली है। किरन अन्नकार को हरती है। तो हल की पूजा करते हैं—मंगल-परंपरा, अक्षय जीवन और आलोक। इस हल में ही सभ्यता पलती है। इस हल को पहाड़ भी प्रणाम करता है क्योंकि इसकी गरिमा उसकी गिराट काया से कहीं अधिक बड़ी है। इस प्रकार हल के रूप में मानव की आत्मा को ही उसकी मपूर्ण मद्दता याद दिलाकर उसके ऊपर बिठाने का प्रयत्न हो रहा है।

एक ही प्राकृतिक व्यापार के हमें भिन्न-भिन्न रूपों में वर्णन प्राप्त होते हैं -

दूर गगन में टूट रहा है एक सितारा !

अन्नकार की धाती पर

को अकेला मुलभा तो नहीं सकता। 'मानव' ने सहज रूप से अच्युत चित्र खडा किया है।

"मैंने कहा, तू पढ़ती क्यों नहीं? मोरा चौककर बोली, बाबू! हमें कौन पढा-एगा? मैं यह उत्तर सुनकर इस पुष्प देश की गरीब वर्ण-व्यवस्था पर सोचने लगा। विशिष्टो ने ज्ञान पर अधिकार कर लिया है। दया क्षण को उमडी किंतु कगारे पाकर सीमित हो गई, वह नहीं सकी। वह बोली मैं बहुत देर को प्यासी हू। मैंने कहा सुराही सामने रखी है, गिलास से पानी पी ले। उसने कहा मैं तो जात की चमारी हू। मैंने कहा मैं भी चमार हू, चल पी ले पानी। वह पीती जाती थी और रोती हुई मुझे देखती जाती थी।" (विश्वम्भर 'मानव')

इस लडकी को कवि इनाम देता है, परंतु बाद में अफसोस करता है। इसी बीच लडकी अपनी मेहनत के पैसों के अलावा पैसे लेकर वापस करने लौट आती है।

क्रान्ति का सूत्रपात ऐसी ही तीखी मारो में हुआ करता है। हिंदी में क्रान्ति का रंग भावावेश अधिक रहा। उसके पीछे तीखे चित्र कम उभरे। सब कुछ को जैसे सामान्य करके रखा गया

मैं आती हूँ बन नयी सृष्टि
ध्वंसो के प्रलय प्रहारो मे
मैं आती हूँ घर कोटि चरण
युग के अनंत हुकारो मे!

मैं आती हूँ ले नव भाषा
मैं आती ले नव अभिताया
नव शब्द छंद लय ताल भीड
नव गमकों को गुञ्जारो मे।

चौरती रुडियो की छाती
बिजली बन तमसा को ढाती,
मैं आती हूँ कंधे पर चढ
मृत्युञ्जय अभय कुमारो मे।

जड गतानुगतिवा हिला-हिला
अधानुकरण पर बनी शिला
आती हूँ कसक कराह लिए
मे मरती हूँ बेदारो मे।

कवि को देती धरदान नये
रवि को देती मंदान नये

जब चन्द्रमा,
 पश्चिम की भील के किनारे
 अपने हरिण खोल देता है,
 कभी दक्षिणा और कभी उत्तरा
 बनकर सुबह की हवाएं
 नील गायो की भांति खेतों में
 मुंह मारने लगती हैं,
 और जब घड़े सेकती हुई फूली-फूली
 लाल बड़े फूलो-सी मुगियां, बांग सुनाने लगती हैं,
 सोने का एक अश्वत्थ बीज
 आकाश अपने ठिठुरे हाथों से पाउने आता है ।

—नरेशकुमार मेहता

सुबह की हवाएं नील गायों की तरह खेतों में मुंह मारती हैं । मुगियां लाल बड़े फूलो-सी दिखाई देती हैं । आकाश के हाथ ठिठुर गए हैं । वह एक बीज पाउने आता है । बीज है अश्वत्थ बीज । यानी पीपल का । अश्वत्थ शब्द ही अपने साथ बहुत बड़ी परंपरा लिए हुए है । वेद में यक्ष जिसके मध्य में रहता है, और यानुषान उसकी देखता है, वह अश्वत्थ बीज है । उपनिषद् में भी अश्वत्थ का उल्लेख है जो ऊर्ध्वमूल है । गीता का अश्वत्थ तो प्रसिद्ध ही है । यह अश्वत्थ निरंतर भारतीय चिंतन में अपना स्थान रखना आया है । बोधि द्रुम होने के कारण इसने आदर वीडों में भी पाया है । परंतु नरेशकुमार ने उसे अपनी दृष्टि से आलोक का बीज माना है । प्रकारांतर से आलोक भी दर्शन के अश्वत्थ का ही एक पर्याय है । कवि ने इस पक्ष को नहीं लिया । उसकी अपनी कल्पना है और जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, यह नये चित्रों में पुराने चित्रों का नवीनीकरण है ।

नरेश के शब्द बहुत चुने हुए होते हैं और वे जो प्रभाव चाहते हैं, वह स्पष्ट सामने आ जाता है

दोपहर तक सोने की पत्तियाँ
 फूलों और फलों से लदा
 सोने का बीजबान
 अश्वत्थ बन जाता है
 उसकी छाया में हमारी
 घास गरम होनी है
 हमारे पशु उसके नीचे बंठकर
 जुगाली करने लगते हैं

उसके भागे पथ अनंत है, आदिहीन है। उसपर इतनी ही जगह है कि एक ही पाव रखा जा सके। वह पाव उसी विद्रोही का है, यानी 'हम' का है। वह कठोर चरण है जो माततायो को रौंद देगा। अतीत के काले पापों के अधकार में यहा लाल भाग का रस भावो शौर्य का चिह्न बनकर भागता हुआ दिखाई देता है।

परंतु दासैनिक का कहना है कि यह यात्रा तो योही चलती रहेगी। यह लकेगी नहीं। सफर बराबर बना ही रहेगा। न जाने कितना समय बीत चुका है। इसकी गणना करना भी एक भ्रम ही है। यह तो अनादि अनंत पथ है। इसका भेद असल में कोई पहचानता नहीं है

धर्मियों को चीरता इन्सान चलता ही रहेगा
 हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।
 एक युग क्या कल्प बोले, कल्प भी भ्रम एक मन का,
 है न कोई आदि, कोई अंत है इसके सृजन का।
 जग इसे निर्मित किसी को कल्पना से जानता है।
 पर न कोई ठीक इसके भेद को पहचानता है।
 स्वप्न के सो - सो भुवन रचता, मिटाता, मुस्कराता,
 बादलों पर तैरता, नभ जगमगाता, भू हिलाता—
 धर्मियों को चीरकर इन्सान चलता ही रहेगा,
 हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।

×

फूल - सा इसका हृदय तो शूल - सी इसकी जवानी,
 आँसुओं को धार आदिरल, है कहीं मीठी कहानी।
 दीप - सा जलना इसे भाता, शलभ - सा भूमना भी,
 है सुधा प्रिय तो इसे प्रिय है गरल को चूमना भी।

×

ले अटल विश्वास, सरथो को जगता, जगमगाता,
 रौंदता फटे कुमुम, शव पातनाओ के उठाता।
 है उगलता प्राण, आहो से उगलता ही रहेगा
 हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।

—शान्तिस्वरूप 'बुधुम'

परंतु मनुष्य की यात्रा नहीं रहेगी। उसका हृदय कोमल है और यौवन चुम्बने-वाला तथा साहसिक है। इसका काम है अपना स्नेह जसाकर जलते रहना, आलोक फैलाते रहना। यह भ्रमूत वा प्रेमी तो है ही, परंतु विष भी पीता रहता है।

तुममे जागृति की विद्युत् है,
उठ ए नव युग के अग्रवृत् ।
उठ ए स्वदेश - धी के सुहाग !
नव युग आया, नव युवक जाग ! !

—रतनलाल साधु

कहा कालिदास की भरारती मेखला पहले नितविनी युक्तियों का मादक वसत, कहा मादक वसत मे युवक और वह भी नवयुग का प्रतीक । प्राचीन कवि पुरुष अधिक था, स्त्री के क्षेत्र मे, नया है पौरुष का प्रतीक युग के क्षेत्र मे । यह एक बहुत बड़ा भेद है । प्रश्न आता है मनुष्य के स्थायी भाव का । युवती के प्रति 'रति' अब भी विद्यमान है । क्या युवक और युग के प्रति भी वनी रहेगी ? फिर प्रश्न है कि पुरुष दृष्टिकोण से स्त्री मे जो अनुरक्ति है, क्या स्त्री को भी वह उतनी ही आकर्षक लगती है ? क्या आज की बदली हुई नैतिक भावनाओं मे भी कालिदास की ऐसी उक्तियों का वही प्रभाव पड़ता है ? मैं समझता हू नहीं । आज उस स्थूलता से कवि-हृदय तुलनात्मक रूप मे मूढमता को अधिक महत्त्व देता है । युग कौन-सा युग है ! प्रत्येक युग नया है और प्रत्येक युग के प्रति मानव को अयतनत्व की ममता होनी रहेगी । जैसे उपनिषदों के बितन से समस्याओं के घने रहने से हम अभी तक प्रभावित होते हैं, मैं समझता हू कि युग के प्रति होनेवाली आस्था मे ये कविताएँ अपना स्थान रखेंगी । अवश्य ही इनका अस्तित्व मानव के सर्वांगीण विकास की पूरी तरह से ढक नहीं सकेगा ।

युग के प्रति नरेन्द्र ने द्वारा चित्र दिया है । स्थायी भावों मे इन चित्रों को किस रम के अतर्गत माना जा सकता है, यह अभी तक प्रश्न ही है । कहता है -

आज रही है आज अभावस्था नयनों मे काजल
निश्चय नया चाँद कल उगता देखेगा जगती - तल ।

शिव के मस्तक का आभूषण नये चाँद का अंकुर
यह जितना शोभाशाली है, है उतना ही निष्ठुर ।
एकदत के एकदत - सा राहु - ग्राह से निर्भय
उन्नति का रथ - चक्र बनेगा वक्र चन्द्र निस्तनय ।
मई, ज्योति, कीर्ति, मन, शक्ति, अहम्, आत्मा, नवयुग, अस्त

—नरेन्द्र

अभावस्था का काजल पारना क्या अर्थ रखता है ? काले मे काला क्या दीखेगा ! परन्तु इससे हम यही तात्पर्य निकाल सकते हैं कि अभावस्था उतनी काली नहीं, जितना उसका अधेरा है, यह भी सीच-सान करके ही । नया चाँद अवश्य ही नवयुग बन जाएगा । इन कविताओं को रस की दृष्टि मे हमें वीर रम के अतर्गत रखना होगा, क्योंकि आखिर

जल गए साधो-करोड़ो मर गए मानव
 डोपते घड़ें और हत-भ्रात, घसल्यो शव !
 किंतु मरकर वे गए वे मुक्त जीवन-धर !
 मृतिक की परियाँ उतरतीं आज सपटो पर ।

—ठेठनारायण काक

मृत्यु का विरोध प्रारंभ हो गया । लक्ष्य भ्रम सत्ता से ऊपर उठ आया । मृत्यु जीवन को उठाने का माध्यम बन गई । कवि कहता है "माधो ! आज तुम जय राग गाओ । समस्त विहाग को भैंरवी में लीन होने दो । तुम्हारी हृदय वीणा क्यों निस्पंद पड़ी है । आज आत्मा का ज्वलत गुहाग लुट न जाए । जागरण के गति चुनकर आज मृत भी फिर जाग उठे ।" (सुधीन्द्र)

यो विद्रोह चलता रहता है । हृदय की वीणा में फिर झंकार भरी जाती है । सारे-सारे राग मिलाकर उद्गोधन के स्वर में लाकर डुबाए जाते हैं । आत्मा का सौंदर्य अधुण रक्षना उसका ध्येय हो गया है ।

तो क्या सचमुच सब कुछ सोया हुआ था ! नहीं ! जागरण और गुणवृद्धि मन के विस्वासा हैं । प्रतीक हैं । पुराने कवि को भी अपने ही सुप्त-दुःख में प्रकृति को देखने की भावना थी और वह कवि में आज तक वैसी ही बली आ रही है । यहाँ व्यक्ति मूलतः नहीं बदला है । उसको एक भावना है

मृतिक की मनाल जल,
 साल-साल ज्वाल जल !

घोर घघनार है
 खल रही बयार है
 वृष्टि दुनिवार है
 देश तिमिर प्रस्त है
 देश श्लेष्म प्रस्त है
 ज्योति यह मिटे नहीं
 प्राण यह बुझे नहीं
 मृतिक की मनाल जल !

आज द्वार - द्वार पर
 नगर घाम बाट पर
 आज घाट - घाट पर
 विष्व ज्योति यह जले

वाकी स्थिया—हर जाति की—उनको पूज्य नहीं दिखाई दी। अतः जाति-प्रथा का खण्डन, मानव की सामान्य स्वीकृति इन युग की एक और देन है। मनुष्य के कार्य-व्यापार में प्रकृति को बाधकर जब चित्रण किया जाता है, तब एक सपूर्ण चित्र-खण्ड आकर उपस्थित होता है।

प्रकृति को रूपक के तौर पर लेने में प्रायः कवि एक ही बात को दुहरा-दुहराकर लिखते हैं, क्योंकि समय का चरण तो अभी बहुत तेजी से बढ़ता हुआ लगकर भी वास्तव में उतना बढ़ा नहीं है जितने की आशा थी और कवि को बार-बार उसीका सामना करना पड़ता है

अधकार अपार भू पर व्यापमान
अधकार अपार छाया आसमान
अधकार सगर्वत केवल अधकार
कहाँ जीवन का विपुल विस्तार
हास-विलास

छा गए बादल, छिपे तारे, डंका आकाश
कहाँ शेष प्रकाश

व्ययं दृष्टि अदृष्ट जिससे सृष्टि साज
हो रही है घन - तिमिर में दृष्टि आज
नवल अकुर, नवल जीवन, नव समाज
हो रहा निर्माण, नाश, विकास, हास—
स—हास !

आज का यह तिमिर करता शक्तिदान
समझने मानव लगा है शक्ति - ज्ञान
स्वरूप, जीवन, प्रगति, सामञ्जस्य, मान,
हो चला सघर्ष इससे जगत—
का अधिवास !

—विनोदन शास्त्री

केवल अधकार सशक्त है। अधकार, अकुर, प्रकाश, सब अत्र अपना महत्त्व उतना नहीं रखते, जितना पहले रखते थे। मानव का स्वल्प आगे आया है। इसका कारण है युग। युग यद्यपि एक प्रतीक है, परन्तु समस्या बनी हुई है। एक ओर इसकी प्रतिश्रिया हुई कि बार-बार वस्तु को दुहराने से काव्य नहीं बनता। दूसरी ओर हठ चला कि इसको चित्रित करना ही आवश्यक है। इस द्वन्द्व में किसीने भी लोक-जीवन की गहराइयों में अभी तक चरण नहीं रखा। व्यापक जीवन प्रतीकों के रक्षण में नहीं फलता-

व्यक्ति तक सीमित रहे वह हर्ष क्या है
 प्रेय जिसका स्वार्थ, वह सघर्ष क्या है
 विश्व के अगणित प्रताड़ित मानवों को
 दे न जो सतीय, वह उत्कर्ष क्या है,
 सृष्टि का कल्याण गति की चेतना है
 भूख प्रपना सुख जागृत का दुःख धटा तू ।
 सर्वप्राप्ति द्वेष बन मृदु प्यार जागे
 क्रूरता का धार बन गल-हार जागे
 नाश जागे सृजन का नव देवता बन
 और स्रष्टित विश्व बन परिवार जागे
 मांग भरने शून्य बलि की वेदिका की
 बड़ अकेला, शीश निर्भय हो कटा तू ।

— परमसिंह शर्मा 'कमलेश'

अपना दुःख क्यों सोचा जाए ! लोक में क्या कम दुःख है ! सायद बुद्ध ने भी ऐसा ही सोचा होगा, परन्तु तब वह विजयी हुआ था । उसने बलिदान दिया था अपने सुखों का । नये युग की समस्या नया बलिदान चाहती है । सभी कवि अब बलिदान की व्याख्या करता है

“अधरो की मुस्कान विजय का पुरस्कार नहीं है, पथ की सीमाओं का ज्ञान कर्म की पूति नहीं है । स्वतन्त्रता दासता से तन की उन्मुक्ति नहीं, आत्मत्याग की शक्ति है । अब इतिहास की देन को बरदान बनाना है । रात बीत गई । विहान हो गया । जहाँ कल्पना चरम सत्य का तत्त्व पा लेती है, वहाँ मानवता देवत्व पाने को उत्सुक होती है ।”

(विद्यावती मिश्र)

केवल कह जाना काफी नहीं है । हमारी हड्डारों सीमाएँ हैं, परन्तु उनका जान लेना ही क्या काफी हल है । तन दासता से छूट गया तो क्या हुआ, मन भी तो साथ ही बदलना चाहिए, क्योंकि उसके बिना दम ही चारों ओर छा जाएगा । जो अधिकार प्राप्त करने को बड़ रहे हैं, उनका मानसिक स्तर अत्याचारियों से कहीं अधिक ऊँचा होना चाहिए । इसलिए आत्मत्याग की शक्ति होनी चाहिए । भारतीय चिंतन इस सत्य को सदा से ही स्वीकार करता आया है । पहले यह वैयक्तिक रूप में था, अब यह समष्टि रूप में है

जल रहा रक्त की ज्वाला में

ककाल विषमता का विषाद

हैं धाम उमड़ चली सहस्र हज़ार
दल सँवार

जा रही हैं आज

कहाँ दूर, दूर, दूर !

एक मोल की झट्ट काजरी
तकीर

एक लक्ष्य जा रही अदम्य
राह चीर—

×

राजा है कोई न कोई है रक
चींटी को दुनिया में चींटी निदशक !

×

रोकेगा कौन भला इनका दल ?

एक-एक चींटी में एक-एक गज का बल । —बारेस्वरसिंह

इन चींटियों में ऊँच-नीच नहीं । अपनी दुनिया में चींटियों को शका भी नहीं है, चींटी में गज का बल होना जायसी की भागनती की धातों से कौमो के काले पड जाने के समान होते हुए भी, अछड़ा प्रभाव छोड़ता है, क्योंकि दल शब्द में ही शक्ति निहित मानी जाती है ।

यह सामूहिक रूप से जो प्रकाश और धधकार का निरन्तर सघर्ष चल रहा है, वह प्राग्विर क्यों ? यह सघर्ष है या मनुष्य इसकी कल्पना करने लगा है । नहीं । सत् और असत् के रूप में यह धारणा तो पहने से ही विद्यमान है । जिसे आधुनिक काव्य का 'गतिरोध' कहने हैं, वह वस्तुतः एक विशेष शैली के बाहर निकल पाने की असमर्थता ही है । कुछ ऐसी विचार हो गया है कि इस शैली-विरोध के बाहर निकलकर जो कुछ लिखा जाएगा वह काव्य नहीं हो सकेगा । रहस्यात्मक भावना तथा नए उपमानों का शोध इसी शैली के अंतर्गत हो सकता है, ऐसी मान्यता-सी बन गई है । किंतु शैली-विरोध ही काव्य की श्रेष्ठता का पर्याय नहीं हो सकती । यह सत्य है कि युग-विरोध के प्रभाव से निकलना सहज नहीं है । किंतु युग में भी व्यक्ति की अपनी विशेषता होती है । वह हमें अवश्य मिलती है । कवि का चिंतन मुखर हो उठता है

मिट्टी के तिमिर गर्भ में तुम
सोए बनकर जब ज्योति-बीज
तब हृदय विघाता का जाने
क्यों कदगा से उठ्ठा पसोज ?

ककालों की आहूति पड़ती
 यह ऐसी भीषण धिकराता !
 अब तो रहा नहीं जाता है
 अब तो सहा नहीं जाता है
 क्यों न क्षार कर दें उसको
 जिसने जग क्षार - क्षार कर डाला !
 आग घघकती ही जाती है
 पर इसपर सज्जा आती है
 कैसे बचा अभी तक जिसने
 इन मामूलों का घर जाला !

—शिवमगलसिंह 'सुमन'

अब वह सबसे ऊपर 'जन' को रखता है। वह सत्ता बयो बनी रहे जोकि सुख में काटे डाल रही है, आग लगा रही है। उसकी सत्ता बची हुई है यह कितनी सज्जा की बात है। उसे तो कभी का नष्ट कर देना चाहिए था। यह कितनी बड़ी कचोट है? तभी कवि कहता है

"हे कवि! सब कुछ भवोन देकर भी बिघाता ने तुम्हें चिर ज्वलित व्याधा का रोग दिया है। फूलों से गात रचकर, भाग्य में फूलों का भोग सिख दिया। जीवन का रस-पीयूष तुम्हें नित्य जग को दान करना है। तुम नीलकंठ हो! तुम्हें तो गरलपान ही लिखा था। तुम सतोष करो। शायद खारी तहरो पर तिरता आशा का तुम्हें कौक मिल जाए। हे कवि, रोओ। शायद आमू के बीच धरणी को नया आलोक मिल जाए।" (दिनकर)

तो क्या कवि का हृदय मवेदनशील होने के कारण ही उसे सब कुछ शीरो की तुलना में अधिक व्याकुल करता है। परन्तु यह सत्य है कि कवि सत्य की वह तक जाता है, क्योंकि वह उसे सोचता-भाव नहीं, उसका अनुभव भी करता है। बात मस्तिष्क से हृदय पर उतर आती है। उसे इमीलिए यह लगता है कि मभवत उसकी वेदना से ही मनुष्य के कल्याण को सहारा मिलेगा, वह कहता है

मैं अपनी चंष्टाओं को चील की भ्रष्ट नहीं बनाऊंगा
 कि जहाँ सडा-गला दीला चोंच मार दो,
 विचारों को भूले भंडिये की जीभ नहीं बनाऊंगा कि जहाँ
 दुधमुंह गोदत दीला दति मार दिए।
 मन जो काई के गड्ढे में धंस गया है
 बुद्धि जो अगारे की तरह र्द के स्तरों में मुलण रही है
 सीना जो छटपटाहट हाहाकार से चील रहा है

बड़ी बेबसी, खो गई राह है ।
गुफा कालिमा को निगलती बराबर ।
गरम साँस यह काँपती-सी बराबर !
गगन पर किरण मालिका तिलमिलाती—
घुटन बढ़ रही, मृत्यु का दाह है ।
लगी आँख, सपने बहुत रंग दिखाते ।
तुली आँख सुपने स्वयं टूट जाते ।
धुली कल्पना जब हई दृष्टि धूमिल
बहे रग, छाका हुआ स्याह है ।
अंधेरा बहुत, ज्योति की चाह है ।

—कुमारी रत्नामिह

प्रकृति का भय भी मनुष्य को बहुत सताता रहा है और अब भी उसका आतंक शीघ्र है । ज्योति की चाहना आज बहुत बड़ी तूष्णी है । मध्ययुग का व्यक्ति यह नहीं मानता था कि वह प्रकृति के सबध में अधकार में डूबा हुआ है । प्रकृति को वह परमात्मा की महिमा के रूप में मान चुका था । उसकी अद्भुत शक्ति भी उसीके चमत्कार के रूप में मानी जाती थी । आज का मनुष्य अपने को अंधेरे में मानता है । उसके दीप इतने सशक्त नहीं हैं कि वे अंधेरे को पी जाए । यह मनुष्य की विपन्नता है । वह केवल कल्पना में मुख पाता है, यथार्थ बहुत कठोर है ।

मनुष्य का स्वप्न बहुत सशक्त है । वह स्वप्न में रहता है तो उसे "अपने चलने के साथ रवि, शशि किरणों के पक्ष सजाए चलते नजर आते हैं । पृथ्वी, फरने, सरिताएँ, तर-सतिकाएँ, कानन और नया जीवन, सब उसे अपने साथ चलते हुए दिखाई देते हैं ।" (उदयशंकर भट्ट) इस स्वप्न को हम मनुष्य की चलवती आशा कहना ही अधिक उचित समझते हैं, क्योंकि उसीसे उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है ।

हो सकता है कि आगे बढ़ने का अर्थ कल बदल जाए, किन्तु आज उसका यह दृढ-विश्वास-सा हो गया है कि वह विक्रम कर रहा है । कवि हृदय इसे देखता है और व्यक्तिगत जीवन में उसके मन में मशय भी हो उठता है

सुनहले सपन की रजत घाटियों से
बिमुद्य तन, बिमुद्य मन चला आ रहा हूँ,
अमृत दान करने चला पथ को मैं
मगर पथ ही से छला जा रहा हूँ ।

क्या मनुष्य चल रहा है, या राह ही उसे छलती चली जा रही है ? दार्शनिक इस प्रश्न को सुनकर गूढ़ चिन्तन में डूब जाता है । वैज्ञानिक अपने सीमित जीवन को ही

यह कड़ी पड रही है कि क्षितिज के रबत सने
 ये कडे दांत थककर ढीले पडते जाते
 धरती का लोह भी विथ बनता जाता है
 तन सभी दिशाओं के नीले पडते जाते ।

×

यह रो-रोकर थक गई कि घांसू सूख गए
 अब यह निज चरणों मे आकाश भुंकाएगी
 यह सप्पर भरकर दाकर के बसस्यल पर
 फिर भूमेगी, तब नूतन विश्व बसाएगी ।

यह आज मुक्ति के गाएगी फिर भीत नये
 परवशता का प्रन्दन इसको स्वीकार नहीं ।

—श्रीहरि

ईश्वर को शोषको ने अपना साधन बना रखा है, इसलिए कवि पृथ्वी और आकाश
 का भगडा दिखाता है । कालिदास ने भी राजा की तुलना सूर्य से की थी । नया कवि
 उसी कल्पना को आगे बढ़ाता है और नये तथ्य सामने रखता है । परतु केवल गीतों से
 होता भी क्या है ?

“गीत दु ख कम नहीं कर पाते । लिये भला कोई क्या-क्या किस-किस पर !
 रुडिग्रस्त जड हुए विद्व में अपनी के अपनी से नाते !” (गाँठ)

यों कर्म अलग हो उठता है, उद्बोधन अलग । यह इसलिए कि मनुभूति केवल
 कहने-सुनने से तो अपनी तृप्ति नहीं कर पाती ।

केवल रोने से काम नहीं चलता ।

मुक्ति का गीत गाने की अभिलाषा इसीलिए है कि परवशता का प्रन्दन कवि
 स्वीकार नहीं करना चाहता ।

प्रकारांतर से, भिन्न-भिन्न कोणों से समस्या पर कवि लिखते हैं और उसे अधिक
 से अधिक जनतर के पास ले जाने की चेष्टा करते हैं ।

जागरण एक ज्वाला है । ज्वाला उस शक्ति का पर्याय है, जिसमे विध्वंस की
 शक्ति भी है और प्रकाश भी है

ज्वाला है यह ज्वाला !

नरहँ-नन्हें दीन भोषडों मे

जो सुतगी घीरे-घीरे

साल-साल गटछट सपटों की

माता है यह माता !

उठना है और उसकी सास-सास कविता बन जाती है। जब वसन्त तितली के पल लगा-कर उड़ता है और तर-तर पर कुबुम पराग बिखराता है, तब उसे धूलि की दुलहिन का मुहाग 'अक्षर' से भी अधिक अक्षर जान पड़ता है। कल-कल ध्वनि करती नदियों के पास जाकर उसके प्राणों की पायल स्वयं छनक उठती है।" (नीरज)

कंसा प्यार है। घो घरती ! तेरा पुत्र है यह मनुष्य ! तुम्हें कितना प्यार करता है ! बीर भोग्ये वसुधरे ! यह दुर्दम पौरुष तुम्हारे कितना न्योझावर है ! किंतु जीवन की मार्थकता क्या है ! क्यों है यह जीवन ? कवि करुण स्वर से पूछता है

मणि शय्या पर बालामो का प्यार
या लहरो का विष-मग्नन कर स्वीकार
क्या पाएंगे प्रभु, हम क्या पाएंगे ?

×

जिस दिन यह सारा आकुल प्रणयोन्माद,
रह जाएगा केवल पिछला अभ्यास,
जिस दिन साँसों में साँसें होंगी लीन,
पर मुर्दा होगी मन की सारी प्यास,
उस दिन होगा फिर यह सिद्ध
वैयक्तिक सीमा में बद्ध—
जितना भूटा है यह दुःख
उतना ही भूटा है सुख
सुख-दुःख इन दोनों के पार
क्या पाएंगे प्रभु, हम क्या पाएंगे ?

—धर्मवीर भारती

क्या होगा प्रभु ! जीवन का सार क्या है ! वैयक्तिक सीमा में बद्ध सुख और दुःख दोनों भूटे हैं। इनके पार क्या है ?

समस्त प्रकृति कवि को कोई प्रेरणा नहीं देती। अब तक का प्रणयोन्माद एक पिछला अभ्यास बनकर रह जाएगा !

जीवन का रहस्य प्रकृति के अतर्गत ही आता है यहाँ, उसे हम दर्शन के अतर्गत नहीं ले सकते। क्योंकि यहाँ मनुष्य के जीवन का प्रश्न नहीं, उसका सृष्टि से तादात्म्य प्रमुख है। वह देखता है

"मदिरा-सौ मादक रात, गगन में चादनी की भीनी उज्ज्वल साड़ी पहने मुस्करा रही है। उनके आचल से लहराती-झुलती आनी मद पवन तन को छूकर मन में सिंह-रन-भर रही है। भ्रमरो के शिशु उपवन में झटछेली कर रहे हैं। तितली की राजकुमारी

मैं अचेतन और उपचेतन सभी पर
 चार करता जा रहा हूँ
 व्यक्तिवादी सभ्यता को
 ध्वस्त बिलकुल कर रहा हूँ ।
 मैं हिमालय को रगड़कर
 रास्ते की धूलि का कण कर रहा हूँ
 स्वर्ग में बैठे हुए छवि देवता को
 मानवों के साथ जीने
 और मरने के लिए सलकारता हूँ
 सामने जाकर उसे धिक्कारता हूँ
 और कहता हूँ कि आ,
 इन हड्डियों से लोल अपना काव्य कायर !
 देवियों के रूप के धाराघको को—
 जो बँधे हैं प्रेम के स्वर-तार से ही—
 लोह की कटु श्रुतता से बांधकर मैं खींचता हूँ
 और जन्म-संघर्ष में लाकर उग्रे,
 फौजी बनाकर छोड़ता हूँ ।

—केदारनाथ भण्डाल

यह 'मैं' एक अतिशयोक्ति बन गया । यह 'मैं' 'हम' नहीं बना, क्योंकि इसमें
 समय से पहले ही एक 'यह' का उदय हो गया । वास्तव में यह कवि में एक हीनत्व को
 भावना हुई, क्योंकि उसे दिन-प्रतिदिन राजनीतिक कार्यकर्ताओं से सामना पड़ता था ।
 वे कर्मठ बनते थे और कवि जो कि उन्हें राह दिखाता था, अब वे कवि की राह दिखाने
 लगे और तब कवि को धपती ईमानदारी और वीरता की व्याख्या देनी पड़ी कि—मैं भी
 लड़ रहा हूँ, तुम सिर्फ भेरे भोचों को देखो । नतीजा यह हुआ कि यथार्थ ऊहा बन गया
 और तनिक ही कोण के बदल जाने से बात भी बदल गई । परंतु फिर भी राजनीतिज्ञों
 पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा । हिंदी कवियों में यह योडा-मा दोष अवश्य रहा कि,
 राजनीति की वजाय वे राजनीतिज्ञों से दब गए, यद्यपि राजनीतिज्ञों का चेतन स्तर कवि
 की तुलना में निम्न स्तर का होता है । परंतु सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ

धाज न जिसने कलम गड़ाई
 पशुवत अत्याचारों में
 उस कायर कवि की गिनती है
 नवयुग के हत्यारों में ।

जली नहीं प्रदीप - ज्योति पुंज - पुज छा गए
निकुज कुज से निकल शलभ प्रदीप छा गए ।
ठहर न एक पल सके प्रकाश मे समा गए,

×

ये चाहते कि पोल्ल लें मुपल से प्रकाश को ।
कि चाट लें प्रकाश के समस्त चन्द्रहास को
इसीलिए जले स्वय प्रदीप भी जला गए ।

—भारसीप्रसादमिड

जिनमे ज्योति की चाह है, वे ज्योति मे लीन हो जाते हैं ।

“पृथ्वी और आकाश मिले हुए दीखते हैं, पर क्षितिज का अंत नहीं मिलता ।
ऊपर मत देखो । किस्मत की आड़ लेकर असफलताओं से मत डरो । मैं प्रकृति-दूत हूँ,
तुम शक्ति-दूत हो ।” (विपिनचंद्र चतुर्वेदी)

“ऋभावात आ रहा है ।

“परा के वक्ष पर उभरे हुए पहाड़ उरोज हैं । वह ऋभावात आकर उन्हें मसलता
है, कड़ाडाता है । वृक्ष रोम हैं । इन्हें वह ऋकभोरकर चीर जाता है । ऋरने, नदिया
शिरा-उपशिराए हैं । उनमें वह लहू की तप्त लपटो-सा प्रखर उद्दण्ड ज्वाला को विशिख-
सा सनसनाता है ।” (भारतभूषण अग्रवाल)

पृथ्वी के वक्ष और तूफान का यह वर्णन कितनी ध्याकुल वासना से भरा हुआ
है । कालिदास ने भी पृथ्वी के उरोज देते थे । किसी भी रूप में ही, अंत में मानव अपने
जीवन-सपनों से ही उपमाएँ देता है, क्योंकि जिसे वह जानता है, वही उसकी रागवृत्ति
में बसे रहते हैं ।

मनुष्य इस तूफान से डरता नहीं । कहता है—“आओ ! इन चरणों से हे प्रलय
के समीर । टकरा जाओ ! हे आकाश ! तुम शत-शत भानु हाथों में लेकर गरजो, लाख-
लाख किरणों के तीक्ष्ण तीर छोड़ो । परंतु मैं अभय हूँ । मुझमें अखिल तत्त्व बदी हैं । मैं
एक माकार व्यष्टि हूँ जिसमें समष्टि प्रतिनादित हो रही है ।” (केदारनाथ मिश्र ‘प्रभात’)

“गिरि-शिखर मनुष्य का ध्येय है ।” (वचन)

इस सभ्य में प्यार ही उसके जीवन का सबल बनकर निकलता है । वह
कहता है

घायल उर को देख तडपता किसने तौर सँघाना
किसने पनघट के पक्षी पर चाहा जाल विद्याना
आओ मेरी वार्हीं मे तन-मन की आग बुझा लें
मन के बेरी को समझाने विगड़ी बात धना लें,

घाता है तो घाने दो घन के भ्रजगर को फन फंलाए,
 देखें रक्त-भरे घ्याले को उन भ्रघरो से कौन लमाए ।
 अहरीसी उरबांस गरल की जो भागे बडकर पीता है,
 नई बिदगी की ताजो घूटें पी-पीकर जो जीता है ।
 ताजों कदमो से जटमो है उसका फन प्रब सड़ा पडा है,
 आज लहू से भीया भण्डा सब की शान बनेगा सायो ।

—मृगाल

इसका कारण है जनना मे भाषा का अतगाव । हिंदी प्रात मे अनेक बोलिया
 हैं । यही कविता यदि किसी बोली मे होती तो लोक मे उतर गई होती । हिंदी के कवि
 को इसकी बड़ी भारी हानि रही है कि जिस साहित्यिक भाषा मे वह लिखता है, वह
 व्यापक तो बहुत है, परंतु कही भी प्रादेशिक नहीं है । शिक्षा ही इस व्यवधान को दूर कर
 सकती है । साहित्य की भाषा शिक्षित वर्ग की भाषा है ।

शिक्षितों पर इस काव्य ने प्रभाव डाला है, यद्यपि इसकी एकांगिता तब ही तक
 मोह सकी जब तक कि समस्या अपने वाह्य रूप मे प्रखर और ज्वलत रह सकी । उसका
 प्रभाव आज भी है अवश्य

जय जय जय जनधारा

जय जन-जीवन-धारा ।

प्रथम कल्प के अरण्यज-भृंगों से जो गति फूटी,
 उस सरिता की धारा क्षत कल्पों मे कभी न टूटी ।
 महाकाल के जटा-जूट मे खोई यह जन गगा,
 छोई कभी युगों के गिरि गह्वर मे चपल तरंगा ।
 मौन मरण मे बार-बार जीवन की गति को घेरा,
 प्राण तरंगित ज्योति शिक्षा को डंसने लगा भ्रंघेरा,
 नव विकास के यती, प्रगति की गगा के अभिमानी,
 जन जीवन के अमर साक्षरों ने एर हार न मानी ।
 खुला पुन घत सतिला का उत्स गिरि-शिखर तल से,
 ज्योतिर्मय स्वर जल तरंग के उठे घरा अचल से ।
 जिसे भगीरथ ने सिक्के के धरती बीच उतारा,
 स्वप्नों के दीपों से जिसका गतिमय रूप सँवारा !

जय जन गगा धारा—

—रामभूषार्थसिंह

परंतु उतना नहीं त्रितना तब था । इसका कारण यही है कि जहां सैद्धांतिक

स्वागत आदिवन मास !
 भरे जन-जन मे जीवन ।
 बाढ़-पीडिता वसुंधरा का
 छोटे जीवन ।
 मिटें मनुज - सस्कृति विकास
 पय के ये दलदल
 करे शान्ति - रवि-किरण
 जगत का पय आलोकित ।
 शोधन की धारा न बहे फिर ।
 मरनेवाली पूंजीवादी सस्कृति का
 शोषक समाज का
 श्राद्ध करें हम वितृ पक्ष मे ।
 खिले द्वितीया इंद्रकुला - सी
 बड़े नई सस्कृति दिन - प्रतिदिन ।
 धीरे विजयदशमी फिर आए
 विजयपवित्र जलता का पावन ।
 नगर-नगर मे ग्राम-ग्राम मे
 ही विजयोत्सव
 निर्धनता रूपी रावण को
 फूँके, प्राग जला समता को ।

—सूर्यदत्त दुबे

पय स्पष्ट होता आ रहा है। तीन बातें हैं—अपने-आप मे प्रवृत्ति, प्रकृति और मनुष्य की वेदना, प्रकृति और मनुष्य का तादात्म्य। तीनों का विवेचन करने पर हमें नए रूप मिलते हैं। कवि सब एकमत नहीं हैं, न होंगे, फिर भी हमें क्षीयता स्पष्ट ही है कि जीवन की धाम्धा आज प्रकृति से उपदेश लेनी है, उससे लड़ती है, उसे प्यार करती है, सब कुछ इसलिए कि जो है सो अपना बनकर रहे, यह प्रकृति निरंतर सुंदर बनकर रहे और मानव को मुक्त देती रहे। वस, इतना ही उसका उद्देश्य है।

इसलिए कवि सुन्दरता को तभी सुन्दर मान लेने को तत्पर है जब वह उसके मन की सुन्दरता की कल्पना से भेल खा जाए, अन्यथा नहीं। तभी वह कहता है कि जीवन का सपने आज प्रमुख है।

जीवन के कुसुमित उपवन मे
 गुञ्जित मधुमय कण-कण होगा

ग्राह्यता भी है, उसमें दूर जाना भी है, परंतु जन-जीवन का वस्तुपरक चित्र नहीं है। आत्मपरक संयोजन ही कविता का प्राण नहीं बन सकता, उससे एकरसता आ जाती है।

‘आत्मकला कविता के प्रति’ कवि कहता है

‘हे सुरसरि’ जन-सिंधु की ओर चलो। तुम व्यापक लोक का आधार स्वीकार करो।’ (जानकीवल्लभ शास्त्री)

चलो। करो। मरो।

चले। किया। मरे। यह नहीं हुआ।

कहने और करने में भेद आ गया।

किंतु जहां भावभूमि को तैयार करने का प्रयत्न या वह हिंदी में ठीक-ठाक हुआ। और यन्त्रा हुआ, यद्यपि उसका श्रेय किसी एक कवि को नहीं दिया जा सकता। इसका कारण था कि कवि अपने को सैनिक समझने थे, नायकत्व राजनीतिज्ञों के हाथ में था।

अधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो

सर्वनाश क्या नवस सृष्टि का सपना कभी भिन्न पाया है?

क्या न प्रलय के मरुप्रदेश में जीवन-उत्स जमड आया है?

क्या न निशा के शून्य अक्ष में ही जागो ऊंचा सुकुमारी?

अधु स्रोत की रेखाओं पर मेरा यह मधुमास जयी हो।

अधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो।

पतझड़ पर छा जाने वाला मेरा यह मधुमास जयी हो,

अवसादों पर हंसनेवाला मेरा यह उल्लास जयी हो

अधकार को पीनेवाला मेरा यह निष्कम्प निराकुल

अधकार को पीनेवाला मेरा प्रखर प्रकाश जयी हो।

अधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो।

—विनेन्द्रुमार

सब कुछ जयी हो, परंतु जयी ही—राजनीतिज्ञ ही, क्योंकि कवि लोककथाओं में नहीं उतरा। इसीलिए आगे चलकर एव और कुत्सिन समाजशास्त्र की अति हुई, दूसरी ओर व्यक्तिपरक प्रयोग प्रारंभ हो गए और जहां काव्य को लोक में उतरना था वहां वह असफल हो गया।

सिद्धांत अपने-प्राप में अपूर्ण सत्य होता है। वह जन-जीवन के यथार्थ से जब तक मेल नहीं खाना, तब तक वह अपना प्रसार नहीं कर पाता। कवि झुंझला उठता है

‘कैसे रूढ़ गया? निष्पुरुता सस्नी होनी जा रही है। यह अंधेर नगरी है, भूख घासक है। उनके भाव जड़वत् हैं।’ (दीनानाथ व्यास)

समाज और युग-सीमा

जिस समाज में हम रहते हैं उनमें अनेक प्रकार के बन्धन हैं। वे शरीर और मन के विकास में बाधा डालते हैं। इसलिए उनका विरोध करना आवश्यक है, क्योंकि कवि तो पूर्णता चाहता है। उस पूर्णता का विरोध करने से ही विपदाएँ सामने आती हैं।

“सूफान साहस को चुनौती दे रहा है। मेरा स्वप्न है कि मैं उस पार जाऊँगा, और तियु कह रहा है कि मैं तरणी को डुबाऊँगा, और विश्वास कह रहा है कि मैं सहरो को टराऊँगा। क्या जबानी मौत से भयभीत होती है?”

(हरिकृष्ण प्रेमी)

इस विद्रोह का सहारा यौवन है, क्योंकि यौवन में स्फूर्ति होती है। यौवन में व्यक्ति सुन्दर होता है। सुन्दरता शक्ति है और शक्ति का स्फुरण बिलकुल ही स्वभाविक है। बलिदान धरती के लिए है। वह कहता है, “पत्ने मिट्टी को बेह-दान देना चल। तू एक घमर जागरण है, जयनेवालों को स्नेह-दान देना चल।” (देवेन्द्रनारायण वर्मा)

माटी को दान देना महत्कर्म है, क्योंकि माटी ही अपने प्रकारांतर से जाबित है और चेतना का रूप भी उसीसे विकसित होता है। इसके लिए नये विश्वास की आवश्यकता है।

“विश्वास अपने में बड़ा है। अर्थों सुरों में बडकर है। विश्वास मनुष्य के आप्त पोष्य की अविरलता का स्वर है। वह मर्दियों से जागो मानवता को अंतरवाणी का वर है।” (अचल)

पोष्य को जिस प्रकार नया कवि जगाता है, वह पुराने कवियों से भिन्न है। पहले पौरुष इस प्रकार आत्मपरक रूप में नहीं जगाया जाता था। उस समय उसे किसी एक व्यक्ति विशेष में निहित कर दिया जाता था। यह आत्मपरकता बस्तु को स्थापन बनाने के लिए काम में लार्द गई है। कवि कहता है

“मैंने नवीन विचारों के बीज बोए हैं। धरती पर नया इंसान उगा माता है।”

(श्रीहरि)

उसे किसी भी प्रकार का वैयर्थ्य पसन्द नहीं है। समाज में किये ही प्रकार के व्यवधान हैं। छूतछात, दरिद्र, धनी, वह सबको तोड़ देना चाहता है :

पुलकित तन हो
मुकुलित मन हो
हरित-भरित-पूरित जीवन हो !

×

सतत अभ्युदित
जन-जन प्रमुदित
सर्व सुखद सुन्दर समाज हो !

धधर-धधर पर

हास मनश्चर

सिर-सिर पर अमिताभ ताज हो !

×

मिटे वनु जदल

हटे अमगत

जल, धल, नभ सर्वत्र शांति हो !

—नागार्जुन

प्रार्थना का-सा गीत भी गाया । अपने स्वप्न को उसने साकार भी देखा । ऐसा हो जाए ! कैसे ! यह तो हुई मार्ग की बात, परतु कल्पना की सुन्दरता ध्येय का विष बनो घोर आपेय बना विरवास ।

“शैपनाग ने कंबुल छोडो, धरती ने काया पलटी । नास घोर निर्माण के दो पग रखकर निरति-नटी नाच रही है । सदियों के विपत्ते अगारे बुझने-बुझते भडकेंगे । बहूत घोर होगा, किंतु कंठी की बठिन हथकडिया टूटकर ही रहेंगे । देश-देश के जन जागेंगे । वर्ग-स्वार्थ की तलवारें चमकेंगी । विगत युगों के विवृत अभावों के विस्फोटक फूटेंगे ।”

(नरेन्द्र)

अविध्य मे धारा को प्रमुत्ता दी गई । इसका यही कारण था कि बवि का यथार्थ, लोक के यथार्थ से अगरे रहा । दिनकर ने युग-समस्या को 'कुरघेत्र' के पानों मे रखा । चित्र उभरे । किंतु यह एक बौद्धिक चीज बनकर रही । मोक्ष-मात्र ही तो व्यापक बविता नहीं है । यदि दिनकर का सत्य और व्यापक धनता, तो मभवत वह भी 'साक्षेत्' और 'प्रियप्रवास' जैसा काव्य बन जाता, जो अपनी बाह्य वस्तु-परकता के कारण 'कामायनी' जैसे नहीं बन सके, या जिनकी वस्तुपरकता के अभाव मे कामायनी उन-सी न बन सकी । नया बदि चिल्लाता रहा ।

विद्रोह करो, विद्रोह करो

आघो बोरोचित कर्म करो

भीतर और बाहर की घाय एककार हो गई है, तभी तो विद्रोह का पूर्ण स्फुरण दिखाई देता है।

“जीवन की हार—सहने की सीमा भी ठोकर खाते-खाते आज भ्रगार बन गई है, वह भ्रगार किसी दिन भूमण्डल में भ्रग लगा देगा। गली-गली में मर्यादाएँ तुफान उठाएंगी, जिनके आवर्तों में लोहे की बुनियादें तिनको-सी उड़ जाएगी। लक्ष-लक्ष तल-वारों कण-कण में उग जाएगी। भ्रपमानों की घोर घटाएँ भीषण वज्र गिराएंगी, तब भू से नभ तक बोधि-वृक्ष की हरी टहनियाँ लहराएंगी।” (नीलकण्ठ तिवारी)

सहन करने की भी एक सीमा होती है। कब तक आखिर भ्रपमान सहा जाए। लेकिन शोषण से कभी तो मनुष्य ऊबेगा ही और वह प्रतिकोध अवश्य लेगा। कायर धवस्य अपने लिए डरते हैं

जिनकी भुजाओं की शिराएँ फडकीं ही नहीं
 जिनके लहू से नहीं बेग है अन्त का।
 शिव का पदोदक ही पेय जिनका है रहा
 चखा हो जिन्होंने नहीं स्वाद हलाहल का।
 जिनके हृदय में कभी ध्राग मुलगी ही नहीं
 डेस लगते ही घहकार नहीं छलका,
 जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है
 बँडते भरोसा किए वे ही घ्रात्म बल का।
 उसकी सहिष्णुता, क्षमा का है महत्त्व ही क्या
 करना ही आता नहीं जिसको प्रहार है ?
 करुणा क्षमा को छोड़ और क्या उपाय उसे
 से न सकता जो बरिषो से प्रतिकार है ?
 सहता प्रहार कोई विघ्न, कल्पे जीव
 जिसकी नसों में नहीं पोरप की धार है,
 करुणा क्षमा है बलीव जातिके फलक घोर
 क्षमता क्षमा की शूरवीरों का सिंगार है।
 सड़ता क्यों भी एक तृण जो शरीर से तो
 उठता बरात हो फणीश फुफकार है
 मुनता यजेन्द्र की चिंघाड जो यनो में कहीं
 भरता गुहा में ही मृगेन्द्र हटुकार है
 दूल धुभते हैं, छूते भ्रग है जलाती, भू को—
 खीलने को देखो यजमान शरारवार है

उन निर्जीव क्षुब्ध श्वासों में आज फूँद वूँ लो नव जीवन भर वूँ उनमें तूफानों का अगणित भूचालों का कम्पन ! जल - श्वासा भूकम्प तुम्हारे ही अतुलित बल के परिवारक घाँधी श्री' तूफान तुम्हारे शक्तिमान श्वासों के बाहक उठो - उठो ऐ सोते सागर नई सृष्टि को ले नव कम्पन क्षीर सिधु भी, वन्द्य, तुम्होंमें जिसमें स्थिति अग-जग का कारण जागो पहचानो अपने को मानव हो, समझो निज गौरव अन्तस्तत की घाँवें खोलो देखो निज अतुलित बल संभय अहंकार श्री' स्वाधिकार—
दो पृथक् - पृथक् पय हैं बंदी।

—नरेन्द्र

मानव को अपना गौरव पहचानना है। वह तो एक सागर है, किंतु ऐसी नींद में डूबा है कि अपने को भूल गया है। क्रान्ति ही उसे जगा सकती है। क्रान्ति अब आ गई है। "विपयगा की पायल सलवारो को भ्रकार में भ्रकार रही है। वह अगड़ाई लेती है तो भूचाल आते हैं। पायल की पहली भ्रमक से सृष्टि में कोलाहल छा जाता है। जिधर उसके पाव पड़ते हैं उधर भूगोल दब जाता है। जब दिशाओं में सपट लहराती है तब खलभल कर खगोल अकुला उठता है।" (रामपारीसिंह दिनकर)

दिनकर की क्रान्ति में उत्साह बहुत है। जैसे क्रान्ति न हुई शिव का ताण्डव हो गया। किंतु ये अतिशयोक्तिया प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। मुलभ अभिव्यञ्जना के कारण कवि सम्मेलनों में यह कविता अच्छा असर डालती रही है। यदि अर्धा को छोड़कर देखा जाए, तब भी इसमें जान है, क्योंकि इसमें एक स्फुरण की भावक अवश्य मिलती है। इस नाति के रूप में निर्माण कम है, विध्वंस अधिक है।

मुझ विपयगामिनी को न ज्ञात किस रोज़ किधर से आऊँगी
मिट्टी से किम दिन जाग झूठ खबर से आज लयाऊँगी
घाँवें अपनी कर बन्द देश में जब भूकम्प मचाऊँगी
दिसका दूरेगा भूग, न जाने, किसका महल गिराऊँगी
निबंध खूर, निर्मोह सदा, मेरा करारत नतन, गर्जन,
भवन - भवन

धध की अगस्त्य की बारी है, पापों के पारावार ! सजग
बंटे विसूचिपस के मुख पर, भोले, प्रबोध मसहार ! सजग
रेशों का रक्त वृत्तान्त हुआ घो जुल्मी की तलवार ! सजग

आत्म और लोकसंवहन

राष्ट्रीयता जब उम्र नहीं होती तब प्रेम मानव-मात्र से होता है।

"पच्छिम में काले और सफेद फूल हैं और पूरव में पीले और लाल। उत्तर में नीले रंग के और हमारे यहाँ चमई सावले। दुनिया में हरियाली कहा-कहा नहीं है, जहाँ भी आसमान जरा बादलों में पोछे जाते हैं। आज गुलदस्तों में रंग-रंग के फूल सजे हुए हैं। आसमान इन नुनियों का आईना है।" (शमशेर बहादुरसिंह)

नया कवि देश के लिए पृथ्वी के प्रेम को भी स्वीकार करता है। किन्तु अपना देश जब परतल है तो निश्चय ही ध्यान उसीकी ओर केन्द्रित हो जाता है। उसकी व्याथा भी सिमट आती है।

"ओ मन, नूहसता है कि रोना है ? तू वीणा के मन की हूक नहीं कह पाता, बस खिचे-खिचाए तार छेड़ना चलता है।" (वीरेन्द्र मिश्र)

वह देश के लिए नया स्फुरण चाहता है। देश पिसा हुआ है। विदेशियों का दमन-चक्र उसपर चल रहा है। उमे बह कैसे देखे बिना रह सकता है ? और विरोधनया उस समय जबकि सब भयर्ष में लगे हुए हों।

"प्राची में नव जीवन का कवि, रवि निकल रहा है। वह तम के पत्रों पर ज्योति के प्रसार लिख रहा है। किरणों के स्वर से महान मानव अभिनदिन है। अपने नीद-भरे नयन खोल रहा है। कोटि-कोटि कण्ठ एकसाथ मंत्र बोल उठें—जय महान एशिया ! जय महान एशिया !" (शभुनाथसिंह)

सारा महादीप ही ललकार रहा है। भारत को जो आण पुनरुत्थान के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मैथिलीशरण गुप्त तक राष्ट्रीय बनी रही थी, वह अब देश की सोमा में ही बंद नहीं रहना चाहती। अब वह पुरातनता को लौटाना नहीं चाहता। वह देखता है कि अन्यत्र भी दासता के विरुद्ध मयर्ष हो रहा है।

देश तो मा है। उमका बुरा हाल कैसे देला जा सकता है। पहले तो स्वदेशी राजा के लिए माग थी, भ्रष्ट ऐसा नहीं है। अब तो देश की जनता का भी प्रश्न है।

भक्ति तो पतकों, उधारी नेत्र

भल साए नयन रणबाँकुरे

को अकेला मुलभा तो नहीं सकता। 'मानव' ने सहज रूप से अन्धकार चित्र खड़ा किया है।

"मैंने कहा, तू पढ़ती क्यों नहीं? मोरा चौककर बोली, बाबू! हमें कौन पढाएगा? मैं यह उत्तर सुनकर इस पुष्प देश की गृहित वर्ण-व्यवस्था पर सोचने लगा। विशिष्टो ने ज्ञान पर अधिकार कर लिया है। दया क्षण को उमड़ी किंतु कगारे पाकर सीमित हो गई, वह नहीं सकी। वह बोली मैं बहुत देर को प्यासी हू। मैंने कहा सुराही सामने रखी है, गिलास से पानी पी ले। उसने कहा मैं तो जात की चमारो हू। मैंने कहा मैं भी चमार हू, चल पी ले पानी। वह पीती जाती थी और रोती हुई मुझे देखती जाती थी।" (विश्वम्भर 'मानव')

इस लडकी को कवि इनाम देना है, परंतु बाद में अपसोस करता है। इसी बीच लडकी अपनी मेहनत के पैसे के अलावा पैसे लेकर वापस करने लौट आती है।

क्रान्ति का सूत्रपात ऐसी ही तीखी मारो में हुआ करता है। हिंदी में क्रान्ति का रंग भावावेश अधिक रहा। उसके पीछे तीखे चित्र कम उभरे। सब कुछ को जैसे सामान्य करके रखा गया

मैं आती हूँ बन क्यों सृष्टि
ध्वंसो के प्रलय प्रहारो मे
मैं आती हूँ घर फोटि चरण
युग के प्रगत हुकारो मे!

मैं आती हूँ ले नव भाषा
मैं आती ले नव अभिलाषा
नव शब्द छंद लय ताल भीड़
नव गमकों की गुञ्जारो मे।

चीरती रुडियो की छाती
विजली बन तमसा को डाती,
मैं आती हूँ कंधे पर चढ़
मृत्युञ्जय अभय कुमारो मे।

जड़ गतानुगतिका हिला-हिला
अधानुवरण पर बनी शिला
आती हूँ कसक कराह लिए
मैं मरती हूँ झेंडारो मे।

कवि को देती घरदान नये
रवि को देती भंडान नये

सूख गया प्राणो का रस निज पीठ के निर्माण में,
 बाधाओं के मस्तक पर चढ़ शकड़े जो तुफान में।
 रेतें नहीं समय के फरसे खरबूजे की फाँक में,
 जीवन की हृत्दीघाटी में मिटें न जो घिस खाक में।
 टूट पड़े उन्चास पवन जो सजकर तीर-कमान में,
 पाषाणो ठोकर खा लीटें ठुरुराए धरमान में।
 रोँदे टाप न सघर्षों की डिगे न डगमग-भार में,
 फटे नहीं मजबूत कलेजा नियागरा की धार में।
 पिघल उठे यदि अन्तर मेरा उद्वेलित अतज्ञान में,
 गमा-जमना फूट बहें तो जग के रेगिस्तान में।

—रामरत्नलाल मिश्र 'राकेस'

गंगा और यमुना की धाराएँ हिंदी कवि के मन में नया उल्हास उद्वेलित करने लगी। वह खनाने बडसे गाने के विस्तार हो गया

प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ
 चडती जवानियों का श्रृंगार माँगता हूँ।
 तम-भेदिनी फिरण का सधान माँगता हूँ
 ध्रुव की कठिन घड़ी में पहचान माँगता हूँ।
 पचास्य नाद नीयण विकराल माँगता हूँ
 जड़ता विनाश को फिर भुवाल माँगता हूँ।
 उन्माद बेकली का उत्थान माँगता हूँ
 बिस्कोट माँगता हूँ तुफान माँगता हूँ
 बिध का सदा लहू में संचार माँगता हूँ
 बेचैन जिदगी के मैं प्यार माँगता हूँ।

—दिनेश्वर

देश के लिए बलिदान मांगा जाने लगा। स्वदेश एक बेदी बन गया। जवानों से कहा गया कि धाम्रो बलिदान दो। एक हलचल जाग उठी। बेचैन जिदगी के प्यार मांगने लगी।

“माथें मूढ़े, धक्के प्रकाश में बव तब पड़े रहोगे ! लडहर तो छोड़ दो ! भूगोल और सगोन डोल रहे हैं। निद्रा और तन्द्रा के हाथो बेमोल विकेहुओ ! प्रव जाग उठो !” (जानकीवल्लभ दासनी)

पुरातन के प्रति मोह से कुछ लाभ न था। हम क्या थे, क्या हो गए—इसीपर रोने से कोई लाभ नहीं था। वह जो बीन गया, बीन गया। वह लौटकर नहीं आ सकता।

उसके भागे पथ अनंत है, आदिहीन है। उसपर इतनी ही जगह है कि एक ही पाव रखा जा सके। वह पाव उसी विद्रोही का है, यानी 'हम' का है। वह कठोर चरण है जो माततायी को रौंद देगा। अतीत के काले पापों के अघकार में यहा लाल आग का रस भावी शौर्य का बिह्वल बनकर भ्रमता हुआ दिखाई देता है।

परंतु दार्शनिक का कहना है कि यह यात्रा तो योही चलती रहेगी। यह रुकेगी नहीं। सफर बराबर बना ही रहेगा। न जाने कितना समय बीत चुका है। इसकी गणना करना भी एक भ्रम ही है। यह तो अनादि अनंत पथ है। इसका भेद असल में कोई पहचानता नहीं है

आंधियों को चीरता इन्सान चलता ही रहेगा
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।
एक युग क्या कल्प बीते, कल्प भी भ्रम एक मन का,
है न कोई आदि, कोई अंत है इसके सृजन का।
जग इसे निर्मित किसी की कल्पना से जानता है।
पर न कोई ठीक इसके भेद को पहचानता है।
स्वप्न के सी - सी भुवन रचता, मिटाता, मुस्कराता,
बादलों पर तैरता, नभ जगमगाता, भू हिलाता—
आंधियों को चीरकर इन्सान चलता ही रहेगा,
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।

×

फूल - सा इसका हृदय तो शूल - सी इसकी जवानो,
आँसुओं की धार अद्विरल, है कहीं मीठी कहानी।
दीप - सा जलना इसे भाता, शलभ - सा भ्रमना भी,
है मुग्धा प्रिय तो इसे प्रिय है गरल को चूमना भी।

×

ले अटल विश्वास, साथो को जगाता, जगमगाता,
रौंदता फाँटे कुमुम, शव पातनाओं के उठाता।
है उगलता आप, आहो से उगलता ही रहेगा
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।

—शान्तिस्वरूप 'कुमुम'

परंतु मनुष्य की यात्रा नहीं रुकेगी। उसका हृदय कोमल है और जीवन चुभने-वाला तथा साहसिक है। इसका काम है धपना स्नेह जलाकर जलते रहना, आलोक फैलाते रहना। यह भ्रमूत वा प्रेमी तो है ही, परंतु विष भी पीता रहता है।

तुम्हें जानना है मनुष्य तुम नहीं गुलाम देवताओं के
और न उनके दया पात्र ही, और न उनके ऊपर निर्भर
तुम्हें आत्म श्रवण चाहिए ।

तुम्हें जानना है मनुष्य तुम और मानवी अधिकारों पर
जबकि खड़े होगे तुम डटकर कोई शक्ति नहीं ऐसी जो
तुम्हें हटा दे तिल-भर पीछे, तुम्हें आत्म विश्वास चाहिए ।

×

इसीलिए यह अपनी वाणी तुम्हें भेजता हूँ चंदे मे
संभव है तुमको कुछ बल दे और कांतिका करे प्रेरणा
निकल पडो तुम सहसा कहकर—

अपनी रोटी अपना राज,

इन्कलाब जिन्दाबाद ।

—बच्चन

कवि अब वाणी भेजता है चंदे मे । नया ही प्रयोग है । अपनी रोटी और अपना
राज । दो फुकार हैं । पूर्ण स्वतन्त्रता । अरे वैभव के मोह । तू तो बार-बार सता रहा
है । कहा गया वह भारत का गौरव ।

“नू अबध पूछ कि राम कहा है । बूढ़ा । वनाओं घनराम कहा है । ओ भगध ।
तेरे अघोक, चद्रगुप्त—वे बलघाम कहा है । मिथिला मिस्त्रारिणी-सी पडी है । इमने
अपनी सारी धनत निधिया कहा गवा दी । ओ कपिलवस्तु । बुद्धदेव के वे मंगल उपदेश
कहा गए ?” (रामधारीमिष्ट दिनकर)

सब कुछ चला गया ।

क्यों ?

अतीत या न ?

हम अपने स्वत्व को सभान नहीं सके ।

बितु हम मरे तो नहीं ?

मरेंगे कंते ! हमारी तो घरती मे जडे है । हम नभी जीविन हैं

वह फूल भला क्या फूल, भरा जिसमे जीवन्त पराग न हो ?

वह यौवन क्या, जिस यौवन मे जीवन को जलती आग न हो ?

—दिजेन्द्र

यौवन भी है, क्योंकि उसमे मर मिटने की तमन्ना है । वाराणार क्या कवि का
मन तोड सकता है । भला वह क्या तोडेगा ?

संबन्धो-हृदयों कारा मे तडप रहे हैं । कवि भी उन्ही मे से एक है । वह भी अपने
को दु स मे केवल मुछी रखने के लिए पीछे नहीं भाग सकता ।

जल गए सातो-करोडो मर गए मानव
 दोपते घट्टे और हत-भ्रातृ, असह्यो शव !
 किंतु मरकर दे गए थे मुक्त जीवन-धर !
 मृत की परिचा उतरतीं आज सपटो पर ।

—देवनायक शक

मृत्यु का विरोध प्रारंभ हो गया । लक्ष्य अब सत्ता से ऊपर उठ आया । मृत्यु जीवन को उठाने का माध्यम बन गई । कवि कहता है "गाग्रो ! आज तुम जय राग गाग्रो । समस्त विहाग को भैरवी में लीन होने दो । तुम्हारी हृदय वीणा कयी निस्पंद पड़ी है । आज आत्मा का ज्वलत गुहाग तुट न जाए । जागरण के गान सुनकर आज मृत भी फिर जाग उठे ।" (शुषीन्द्र)

यो विद्रोह चलता रहता है । हृदय की वीणा में फिर झटार भरी जाती है । सारे-सारे राग मिलाकर उद्गोधन के स्वर में लाकर डुबाए जाते हैं । आत्मा का सौंदर्य प्रक्षुण्ण रखना उसका ध्येय हो गया है ।

तो क्या सचमुच सब कुछ सोया हुआ था ! नहीं ! जागरण और सुषुप्ति मन के विद्वान्त हैं । प्रतीक हैं । पुराने कवि को भी अपने ही सुप्त-दुःख में प्रकृति को देखने की आदत थी और वह कवि में आज तक वैसी ही चली आ रही है । यहा व्यक्ति मूलतः नहीं बदला है । उसको एक भावना है

मृत की मंगल जल,
 सात-सात ज्वाल जल !

घोर अंधकार है
 चल रही बयार है
 वृष्टि दुर्निवार है
 देश तिमिर प्रस्त है
 देश श्लेश प्रस्त है
 ज्योति यह मिटे नहीं
 प्राग यह बुझे नहीं
 मृत की मंगल जल !

प्राज द्वार - द्वार पर
 नगर प्राग बाट पर
 प्राज घाट - घाट पर
 विष्य ज्योति यह जले

वह जब थक जाती है तो पुराने—अतीत में प्रथम खोजती है। अतीत भन्दा लगता है। यह मनुष्य की एक सहज निर्बलता है। क्यों? क्योंकि अतीत पर मिलमिल छाया रहती है।

नालदा। "वह मधुमय ससार एक सपना-सा था। आह! वह अनंत छवि-जाल! पुण्य प्राची का स्वर्णिम काल था। हत! आज उस स्वर्णिक जग का यह दुरत ककाल पडा है।" (केसरी)

इस कर्काल को ध्रुव कब तक वे पुराने गीत सुनाए जाए। उनसे लाभ क्या है?

कुन्द नहीं। इसे तो नयी शक्ति चाहिए।

कवि इसे जानता है।

तभी वह नवीनता की ओर अदिक अग्रसर है। वह बड़ी ईमानदारी से पूछना है कि यदि तुम बलिदान का मोल चाहते हो, तुम स्वतंत्रता कैसे चाहते हो? सपना में तो न जाने किसने अज्ञात बलि-वीर अपने को होंग देते हैं, तब जाकर फल प्राप्त होता है।

जो मिटते हैं, वे अकारण नहीं मिट जाते। वे एक नया स्वप्न साकार करके जाते

हैं:

मिट्टी बतन को पूछती,

वह कौन है, वह कौन है,

इतिहास जिस पर मौन है!

जिसके सह को बूंद का टोका हमारे भाल पर
जिसके सह की स्तितिमा स्वातन्त्र्य शिशु के भाल पर
जो झुझ गया धिरकर गगन से निमित्त में तारा सद्गता
बच ओत जितना भी न पाया अर्थ जिसका कास पर
जो दे गया जीवन बिजन के फूल-सा हंस नाश को
जिसके लिए दो बूंद भी स्याही नहीं इतिहास को!

वह कौन है?

जिसके मरण के नेह से दीपक नये युग का जला,
काजल नयन के मेह से भरवल मनुज मन का फला।
चुनता गया पद-पद्म से कटक मनुज को राह का,
बिध दासता को, मूर्ति को निज मृत्यु का धमूत पिला,
सुभती न स्मृति जिसकी कभी जी से कितोके शूल-सी
भरसे न जिसपर शीघ्र से दो शानुधों के फूल हों।

—इमनुमार तिरा:

उनकी गर्भु भी धमूत होती है। शहीद एक धादरा हो गया। शहीद पर न

व्यक्ति तक सीमित रहे वह हर्ष क्या है
 प्रेम जिसका स्वार्थ, वह सघर्ष क्या है
 विश्व के अगणित प्रताड़ित मानवों को
 दे न जो सतोष, वह उत्कर्ष क्या है,
 सृष्टि का कल्याण गति की चेतना है
 भूल अपना सुख जगत् का दुःख धरा तू ।
 सर्वप्राप्ति द्वेष बन मूढु प्यार जागे
 क्रूरता का चार बन गल-हार जागे
 नाश जागे सृजन का नव देवता बन
 और स्रग्दल विश्व बन परिवार जागे
 मांग भरने शून्य बलि की वेदिका की
 बढ़ अरेला, शीश निर्भय हो कटा तू ।

— प्रमोद शर्मा 'कमनेरा'

अपना दुःख क्यों सोचा जाए ! लोक में क्या कम दुःख है ! सायद बुद्ध ने भी
 ऐसा ही सोचा होगा, परन्तु तब वह विजयी हुआ था । उसने बलिदान दिया था अपने
 सुखों का । नये युग की समस्या तथा बलिदान चाहती है । सभी कवि अब बलिदान की
 व्याख्या करता है

“अधरो की मुस्कान विजय का पुरस्कार नहीं है, पथ की सीमाओं का ज्ञान कर्म
 की पूर्ति नहीं है । स्वतंत्रता दासता से तन की उन्मुक्ति नहीं, आत्मत्याग की शक्ति है ।
 अब इतिहास की देन को बरदान बनाना है । रात बीत गई । विहान ही गया । जहाँ
 कल्पना चरम सत्य का तत्त्व पा लेती है, वहाँ मानवता देवत्व पाने को उत्सुक होती है ।”

(विद्यावती मिश्र)

केवल कह जाना काफी नहीं है । हमारी हज़ारों सीमाएँ हैं, परन्तु उनका जान
 लेना ही क्या काफी हल है । तन दासता से छूट गया तो क्या हुआ, मन भी तो साथ ही
 बदलना चाहिए, क्योंकि उसके बिना दम ही चारों ओर छा जाएगा । जो अधिकार प्राप्त
 करने को बड़ रहे हैं, उनका मानसिक स्तर अत्याचारियों से कहीं अधिक ऊँचा होना
 चाहिए । इसलिए आत्मत्याग की शक्ति होनी चाहिए । भारतीय चिंतन इस सत्य की
 सदा से ही स्वीकार करता आया है । पहले यह वैयक्तिक रूप में था, अब यह समष्टि रूप
 में है

जल रहा रक्त की ज्वाला में

ककाल विषमता का विषाद

ककातो की आहूति पडती
 यह ऐसी भीषण विकराला !
 ध्रुव तो रहा नहीं जगता है
 ध्रुव तो सहा नहीं जाता है
 क्यों न क्षार कर दें उसको
 जिसने जग क्षार - क्षार कर डाला !
 प्राग घथकती ही जाती है
 पर इसपर लज्जा आती है
 कैसे बचा अभी तक जिसने
 इन मासूमों का घर जाता !

—शिवमगलसिंह 'सुमन'

भव वह सबसे ऊपर 'जन्म' को रखता है। वह सत्ता बचो बनी रहे जोकि सुख में काटे डाल रही है, प्राग लगा रही है। उसकी सत्ता बचो हुई है यह कितनी लज्जा की बात है। उसे तो कभी का नष्ट कर देना चाहिए था। यह कितनी बड़ी कचोट है ? तभी कवि कहता है

"हे कवि ! सब कुद्वन्वीन देकर भी विघाता ने तुम्हें चिर ज्वलित व्यथा का रोग दिया है। फूलों से गात रचकर, भाग्य में शूलों का भोग सिख दिया। जीवन का रस-पीयूष तुम्हें नित्य जग को दान करना है। तुम नीसकठ हो ! तुम्हें तो गरलपान ही लिखा था। तुम सतोष करो। शायद खारी तहरो पर विरता आशा का तुम्हें कौक मिल जाए। हे कवि, रोओ ! शायद आनू के बीच धरणी को नया आलोक मिल जाए।" (दिनकर)

तो क्या कवि का हृदय मवेदनशील होने के कारण ही उसे सब कुछ औरों की तुलना में अधिक व्याकुल करता है ? परन्तु यह सत्य है कि कवि सत्य की वह तक जाता है, क्योंकि वह उसे सोचता-मात्र नहीं, उसका अनुभव भी करता है। बात मस्तिष्क से हृदय पर उतर आती है। उसे इमीलिए यह लगता है कि मभवत उसकी वेदना से ही मनुष्य के कल्याण को सहारा मिलेगा, वह कहता है

मैं अपनी चंष्टाओं को चील की भ्रष्ट नहीं बनाऊँगा
 कि जहाँ सडा-गला दीखा चोंच मार दी,
 विचारी को भूखे भंडिये की जीभ नहीं बनाऊँगा कि जहाँ
 दुधमूँह गोस्त दीखा दाँत मार दिए।
 मन जो काई के गड्ढे में धँस गया है
 बुद्धि जो भगारे की तरह रई के स्तरों में मुलग रही है
 सीना जे छटपटाहट हाहाकार से चील रहा है

सूतिमान हो गई जहाँ सुरूप कामना ।
 देश में अनेक वर्ग वर्ण जाति धर्म हैं
 भाव हैं अनेक बोल हैं अनेक कर्म हैं
 कोटि-कोटि रूप में परतु एक प्राण हैं ।
 मान एक ज्ञान एक, ध्यान एक गान हैं ।
 एक आज शक्ति है, एक भाव भक्ति है ।
 कोटि-कोटि प्राण की अभिन्न आज भावना
 आज कोटि-कोटि का जिसे कि बाहुबल मिला
 कौन कह रहा कि वीरभूमि आज निर्बला
 आज जागरण हुआ कि हम सदा स्वतन्त्र हैं
 आज लोक के स्वकीय तत्र मत्र यत्र हैं
 आज एक कल्पना, आज एक चिंतना
 आज भावना यही, ममस्त सिद्धि साधना ।

—सुधीन्द्र

यह कविता बहुत ही गेय और ऊर्जस्वित गरिमा का प्रतिनिधित्व करती है ।
 स्वर्गीय सुधीन्द्र की अमर कीर्ति की स्थापना के लिए यह एक कविता ही काफी है । यहाँ
 हम केवल यशोगान नहीं पाते, प्रकृति का वरदान भी पाते हैं । जाति-द्वेष हटता हुआ
 दीव्यता है और करोड़ों की अपार शक्ति हरहरानी हुई सुनाई देती है । यह कवि की
 एक श्रेष्ठ कविता है, जिसे देश-प्रेम की कविताओं में अवश्य ही मकलित करना चाहिए ।

देश और विश्व का मर्घ्य भी एक होता दीखता है

जागे मंगल वाणी ।

नवयुग की पगध्वनि में जागे अखिल विश्वकल्याणी ।

जागे जन पद-ग्राम-नगर में

गृह-वन में सरिता-सागर में

अथक विहग-सीनोलाम्बर में

जागे जनगण के अंतर में

स्वप्न-भग-से निर्भर-सी फिर बहे अमर युगवाणी ।

महामृत्यु के पय में गुंजे कवि की भैरववाणी ।

जागे जन पशुहीन नगर में

नवयुग के उन्नत शिर नर में

अशुभोदय-से नीलाम्बर में

जो म - - के र में

यह कड़ी पड रही है कि क्षितिज के रक्त सने
वे कड़े बात थककर ढीले पडते जाते
घरतों का लोह भी बिय बनता जाता है
तन सभी दिशाओं के नीले पडते जाते ।

×

वह रो-रोकर थक गई कि घाँसू सूख गए
अब वह निज चरणों में आकाश भुंकाएगी
वह क्षापर भरकर शकर के बक्षस्यल पर
फिर भूमेगी, तब नूतन विश्व बसाएगी ।

वह आज भुक्ति के गाएगी फिर गीत नये
परवशता का क्रन्दन इसकी स्वीकार नहीं ।

—भीहरि

ईश्वर को शोषको ने अपना साधन बना रखा है, इसलिए कवि पृथ्वी और आकाश का भगडा दिखाता है । कालिदास ने भी राजा की तुलना सूर्य से की थी । नया कवि उसी कल्पना को आगे बढ़ाता है और नये तथ्य सामने रखता है । परतु केवल गीतों से होता भो क्या है ?

“गीत दुःख कम नहीं कर पाते । लिखे भला कोई क्या-क्या किस-किस पर !
रूडिग्रस्त अब हुए विश्व में अपनी के सपनों से नाते !” (शक्ति)

यों कर्म अलग हो उठता है, उद्बोधन अलग । यह इसलिए कि अनुभूति केवल कहने-सुनने से तो अपनी तृप्ति नहीं कर पाती ।

केवल रोने से काम नहीं चलता ।

मुक्ति का गीत गाने की अभिलाषा इसीलिए है कि परवशता का क्रन्दन कवि स्वीकार नहीं करना चाहता ।

प्रकारांतर से, भिन्न-भिन्न कोणों से समस्या पर कवि लिखते हैं और उसे अधिक मे अधिक जनता के पास ले जाने की चेष्टा करते हैं ।

जागरण एक ज्वाला है । ज्वाला उस शक्ति का पर्याय है, जिसमे विध्वंस की शक्ति भी है और प्रकाश भी है

ज्वाला है यह ज्वाला !
ताहें-नन्हें दीन भोपड़ों ने
जो सुतगी धीरे-धीरे
सात-सात गडखट लपटों की
माला है यह माला !

मे अचेतन और उपचेतन सभी पर
घार करता जा रहा हूँ

व्यक्तिवादी सभ्यता को
घुसा बिलकुल कर रहा हूँ ।
मे हिमालय को रगडकर
रास्ते की धूलि का कण कर रहा हूँ
स्वर्ग में बंठे हुए छवि देवता को
मानवों के साथ जीने
और मरने के लिए ललकारता हूँ
सामने जाकर उसे धिक्कारता हूँ
और कहता हूँ कि आ,
इन हठधियो से तोल अपना काव्य कायर !
देवियों के रूप के धाराधको को—

जो बंधे हैं प्रेम के स्वर-तार से ही—

तौह को कटु श्रुतता से बांधकर मे छोचता हूँ
और जन-सपथ में लाकर उगहे,
फौजो बनाकर छोडता हूँ ।

—फैरानाथ भद्रवाल

यह 'मे' एक प्रतिशयोक्ति बन गया । यह 'मे' 'हम' नहीं बना, क्योंकि इसमें समय से पहले ही एक 'यह' का उदय हो गया । वास्तव में यह कवि में एक हीनत्व को भावना हुई, क्योंकि उसे दिन-प्रतिदिन राजनीतिक कार्यकर्ताओं से सामना पडता था । वे कमंठ बनते थे और कवि जो कि उन्हें राह दिखाता था, अब वे कवि को राह दिखाने लगे और तब कवि को अपनी ईमानदारी और वीरता की व्याख्या देनी पडी कि—मे भी लड रहा हू, तुम सिर्फ मेरे मोचों को देखो । नतीजा यह हुआ कि यथार्थ ऊहा बन गया और तनिक ही कोण के बदल जाने से बात भी बदल गई । परंतु फिर भी राजनीतिज्ञों पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पडा । हिंदी कवियों में यह थोडा-सा दोष यवदय रहा कि, राजनीति की बजाय वे राजनीतिज्ञों से दब गए, यद्यपि राजनीतिज्ञों का चेतन स्तर कवि की तुलना में निम्न स्तर का होता है । परंतु सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ

आज न जिसने कलम गडाई

पनुवत अत्याचारों में

उस कायर कवि की गिनती है

नवयुग के हत्यारों में ।

परेशान हो गया, जैसे हिन्दी साहित्य के इतिहासकार परवर्ती रीति कवियों की भीड़ देखकर होते रहे हैं। युग-विशेष में जैसे स्वर में स्वर मिलता ही है, वही बात है, परंतु अधिकांश उसमें नया स्वर है

आज शत-शत कण्ठ में फिर स्वरों का वरदान जागा
 आज जन-जन के हृदय में शक्ति का सम्मान जागा
 आज जागा शेष कि काँपी घरा नभ डगमगाया
 ज्येष्ठ के मध्याह्न से स्वर-ताप जब मने चुराया
 कण्ठ में स्वर नवल जागा हृदय में बन सबल जागा
 नयन में नव ज्योति जागी देह पर नव वैश जागा
 आज मेरा देश जागा देश का अभिमान जागा
 आज मेरे देश के अपमान का प्रतिदान जागा
 आज कण-कण के हृदय में शक्ति का उपमान जागा !

—नगदीरा

शत, कोटि, हा आग आनेवाले शब्द है। इतना निश्चित है कि हिन्दी का कवि एक बहुत बड़े भिविर में आ गया था और उसे अनीत की उसभक्त रोक नहीं पाती थी।

“अनीत के हिन भोवने से क्या लाभ ! चिर नदीन के अमर राग से घीणा को सुलरित करो। नियति क्रूर और निर्मम है। उससे भिशा मत मागो। जीवन तो वर्तमान ही में है।” (मनोरजनप्रसाद सिंह)

वर्तमान के प्रति इनकी अधिक आसक्ति देखकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक बार चौंक उठे थे। उन्होंने कहा था कि कवि का सदेश राष्ट्रीय परिधि के भीतर बंधकर नहीं रह सकता, क्योंकि देश के म्वनत्र हो जाने पर समस्याएँ बदल जाएगी। किंतु युग की पुकार बहुत सबल थी। उनका भी स्वर डूब गया। राष्ट्रियता घर-घर का दीपक बन गई। जो भी हो, आवेश को तो एक रूप प्राप्त करना ही था, और उस समय वह जन्मभूमि के नाम पर मूर्त हो उठा। हम देखते हैं कि भारतीय चेतना की परंपरा के कारण ही जन्मभूमि के प्रति आसक्ति बाह्य रूप तक ही सीमित नहीं रही, उसका अतस्थ भी कवियों ने प्रदर्शित करने का यत्न किया क्योंकि यहाँ की सामाजिक व्यवस्था का संझातिक निरूपण पहले निश्चित हो जाने की परंपरा हमें वेद के ‘द्विराट पुरण’ में ही मिल जाती है।

अपि ! तुम भूतल पर आदि-किरण की माता
 दिव का मस्तक भी जिसे देख भुक जाता
 ले रश्मिलोक का मंगल मुकुट करो मे
 - * तेरे पथ्य पगो तक - । .

घाता है तो घाने दो घन के अजगर को फन फंलाए,
 देखें रक्त-भरे प्याले को उन अघरो से कौन लगाए ।
 अहरीली उर्बांस गरत की जो आगे बढ़कर पीता है,
 नई ब्रिदगी की ताढी घूँटे पी-पीकर जो जीता है ।
 लाखों कदमों से खरमी है उसका फन अब सड़ा पडा है,
 आज तहू से भीया भण्डा सब की क्षान बनेगा साथी ।

—मृगाल

इसका कारण है जनता में भाषा का अलग-आप। हिंदी प्रांत में अनेक बोलिया
 हैं। यही कविता यदि किसी बोलियों में होती तो लोक में उतर गई होती। हिंदी के कवि
 को इसकी बड़ी भारी हानि रही है कि जिस साहित्यिक भाषा में वह लिखता है, वह
 व्यापक तो बहुत है, परंतु नहीं भी प्रादेशिक नहीं है। शिक्षा ही इस व्यवधान को दूर कर
 सकती है। साहित्य की भाषा शिक्षित वर्ग की भाषा है।

शिक्षितों पर इस काव्य ने प्रभाव डाला है, यद्यपि इसकी एकाग्रता तब ही तक
 गेहूँ तक जब तक कि समस्या अपने वास्तव रूप में प्रखर और ज्वलत रह सकी। उसका
 प्रभाव आज भी है अचरित्य

जय जय जय जनधारा

जय जन-जीवन-धारा ।

प्रथम कल्प के अरण्यज-भृंगों से जो गति फूटी,
 उस सरिता की धारा क्षल कल्पों में कभी न टूटी ।
 महाकाल के जटा-जूट में खोई यह जन गगा,
 खोई कभी युगों के गिरि गह्वर में चपल तरंगा ।
 मौन मरण में बार-बार जीवन की गति को घेरा,
 प्राण तरंगित ज्योति शिखा को डँसने लगा अंधेरा,
 नव विकास के खती, प्रगति की गगा के अभिमानों,
 जन जीवन के अमर साधकों ने पर हार न मानी ।
 धुला पुन अत सतिला का उत्स गिरि-शिखर तल से,
 ज्योतिर्मय स्वर जल तरंग के उठे घरा अचल से ।
 जिसे भगीरथ ने बिबेक के धरती बीच उतारा,
 स्वप्नों के दीपों से जिसका गतिमय रूप सँवारा !

जय जन गगा धारा—

—राभूनाथमिश्र

परंतु उतना नहीं ब्रितना तब या । इसका कारण यही है कि जहाँ सैद्धांतिक

सदियों यो ही रह्यो, हाय, तुम अद्वा-कामकुमारी !
 पूर्णराम देवेन्द्र इन्द्र ने ठगा, तजा गौतम ने
 रघुनायक ने निर्वासित कर दिया लोकरजन मे ।
 लक्ष्मण और बुद्ध ने तप का समझा कव अधिकारी ।
 नाच नचाता स्वर्ग, बलाकर तुम्हें उबंसी-रम्भा ?
 गिरने पर भी नहीं गिरी तुम रह्यो शक्ति जगदम्बा ?
 सती आज भी दक्ष प्रजापति अहम्मन्य अविचारी ?
 मदीनत हैं मनुज आज भी स्वामी बन सत्ता के
 कर शिव को निर्वासित रचते यज्ञ शक्तिमत्ता के ।
 शकर प्रलयकर की सहचरि बारी पुन तुम्हारी ।
 युग-युग से इस पुण्य देश पर घन जडत्व मंडराया
 महिषासुरमर्दिनी बनो फिर भुवन-विमोहिनि माया ।

×

बनो महालक्ष्मी, अधियारी—जपती करो उजारी ।
 सागर का नीलोत्पल, इयामल शतदल वसुन्धरा का
 पदतन पाने को लातामित उदित भानु रंगराता ।
 प्रजापारिमिता दर्शन दो पावन मंगलकारी ।—

उसने अबहेला भी की, परंतु भारतीय मन्त्रति तो बहुत व्यापक है । अत मे
 उसे भारतीय परपरामं ही उपमान मिल गए । वह केवल दृष्टिकोण का भेद चाहता है ।

भारत ज्यो-ज्यो देशांतरों के सपर्क मे आया और जैसे उसने अपने अतीत को
 देखा, उसके दृष्टिकोण की सकीर्णता भी कम होनी गई । देश के भगडों को देखकर कवि
 समझता है

×

गंगा किसकी नदी नहीं है भारतवर्ष न किसका है ?
 आयं, बौद्ध, हिंदू, ईसाई सभी गोद मे खेन चुके,
 सहरो के उत्थान पतन को, मुस्लिम जन भी भेले चुके,
 सबने इसका फल पाया है स्निग्ध दग्ध का स्वाद लिया,
 इस मिट्टी की हवा रोगनी अन्न और जलपान किया ।
 भावपूर्ण जीवन का दर्शन शाश्वत हर्ष न किसका है ?

×

पृथ्वी का है मुकुट हिमालय भूमण्डल का है सागर
 भारत की सीमा क्या कोई? यह क्या किमी जाति का घर ?

आह्वान भी है, उससे दूर जाना भी है, परंतु जन-जीवन का वस्तुपरक चित्र नहीं है। आत्मपरक संयोजन ही कविता का प्राण नहीं बन सकता, उससे एकरसता आ जाती है।

‘आत्मकला कविता के प्रति’ कवि कहता है

“हे सुरमरि ! जन-सिंधु की ओर चलो। तुम व्यापक लोक का आधार स्वीकार करो।” (जानकीवल्लभ शास्त्री)

चलो ! करो ! मरो !

चले ! किया ! मरे ! यह नहीं हुआ।

कहने और करने में भेद आ गया।

किंतु जहां भावभूमि को तैयार करने का प्रयत्न था वह हिंदी में ठीक-ठाक हुआ। और यन्त्रा हुआ, यद्यपि उसका श्रेय किसी एक कवि को नहीं दिया जा सकता। इसका कारण था कि कवि अपने को मैनिक समझने थे, नायकत्व राजनीतिज्ञों के हाथ में था।

अधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयो हो

संभ्रमण क्या नवस सृष्टि का सपना कभी भिटा पाया है ?

क्या न प्रलय के मरुप्रदेश में जीवन-उत्स उमड़ आया है ?

क्या न निशा के क्षुब्ध अंक में ही जागो ऊया सुकुमारी ?

अधु श्रोत की रेखाओं पर मेरा यह मधुहास जयो हो।

अधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयो हो।

पतझड़ पर छा जाने वाला मेरा यह मधुमास जयो हो,

अवसादों पर हँसनेवाला मेरा यह उल्लास जयो हो

अधकार को पीनेवाला मेरा यह निष्कम्प निराकुण्ड

अधकार को पीनेवाला मेरा प्रखर प्रकाश जयो हो।

अधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयो हो।

—जिनेन्द्रकुमार

सब कुछ जयो हो, परंतु जयो हो— राजनीतिज्ञ ही, क्योंकि कवि लोककथाओं में नहीं उतरा। इसीलिए आगे चलकर एक ओर कुत्सित समाजशास्त्र की अति हुई, दूसरी ओर व्यक्तिपरक प्रयोग प्रारंभ हो गए और जहां काव्य को लोक में उतरना था वहां वह असफल हो गया।

सिद्धांत अपने-प्राप में अपूर्ण सत्य होता है। वह जन-जीवन के यथार्थ से जब तक मेल नहीं माना, तब तक वह अपना प्रसार नहीं कर पाता। कवि झुंकता उठता है

“कैसे दूँ यहा ? निष्पूरता सस्ती होती जा रही है। यह अंधेर नगरी है, भूख घासक है। उनके भाव जड़वत् हैं।” (दीनानाथ व्यास)

पुलकित तन हो
 मुकुलित मन हो
 हरित-भरित-पूरित जीवन हो !

×

सतत अभ्युदित
 जन-जन प्रमुदित
 सर्व सुखद सुन्दर समाज हो !
 अघर-अघर पर
 हास अनश्वर
 सिर-सिर पर अमिताभ ताज हो !

×

मिटे दनुजदल
 हटे भ्रमगत
 जल, पल, नभ सर्वत्र शांति हो !

—नगार्दुन

प्रार्थना वा-स्ता गीत भी गाया । अपने स्वप्न को उसने साकार भी देखा । ऐसा हो जाए ! कैसे ! यह तो हुई मार्ग की बात, परतु करुणता की सुन्दरता ध्येय का विव दनी धीर प्राप्य बना विरवास ।

“शेषनाग ने केंचुल छोडी, धरती ने काया पलटी । नादा धीर निर्माण के दो पग रखकर नियति-नटी नाच रही है । सदियों के विपले अगारे बुझते-बुझते भडकेंगे । बहुत शोर होगा, किंतु बंदी की बठिन हथकडिया टूटकर ही रहेंगी । देश-देश के जन जागेंगे । वर्ग-स्वार्थ की तलवारें चमकेंगी । विगत युगों के विवृत अभावों के निस्फोटक फूटेंगे ।”

(नरेन्द्र)

मेरे असौम्य ! सीमा मत बन
तेरी ही पृथ्वी आसमान !
औ नौजवान !

—सोहनलाल दिवेदी

इसका कारण है कि कवि आज 'प्रवधारमक' नहीं है—'मुक्तक' है। 'प्रवध' का कोशल अपना एक लोक रचना है—'रचना का लोक' बनाना है। वह उतने बड़े स्वप्न के अभाव में मुक्तक में बदल गया है। तभी कवि का गीत 'वातचीत' बन गया है।

"ओ साथी ! बीच राह में घबकर मत गिर पडना। पथ में उन अमिट रवत-चिह्नों की शान बनी रहे। पीछे नौजवान मर मिटने को धाते हैं। इस वन में जहाँ अशुभ शृगाल रोते हैं, जनसत्ता की विशाल नगरी निर्मित होगी।" (रामविलास शर्मा)

सभी कवि एक ही बात कहते हैं। इसीलिए सबकी बात में एक-सा जोर है। इसीलिए कोई भी एक-दूसरे से अधिक दूर नहीं है।

यद्यपि का अकन युग का प्रभाव है। ऐसा सदैव होना है। केवल नयेपन के लिए नयापन भी इसीकी प्रतिक्रिया बनकर प्रयोग बनी। किन्तु दोनों ही ओर से अभी 'महा-प्राण कवि' जन्म नहीं ले सका। आज भी वैसे विविध चित्र तो सामने आते हैं

देह रामपित करती पत्नी, नारी करती प्राण
वह भर्ता को सुख देती, यह करती प्रिय कल्याण।

×

पुह्य दीप यदि ज्योति प्रसारक पत्नी धति समान
दोत उभय को करनेवाला घृत नारी को जान।
काम-मोह का मूढ शतभ पड जिममें होते क्षार,
स्नेह छुका, जत गई धतिका, दीप हुआ बेकार।

—गौरीशंकर मिश्र 'दिनेन्द्र'—'सावित्री' ये

परतु हमें कहीं भी संपूर्ण 'भाव' का चित्र नहीं मिला। इस युग में कविता को शृंगार, कदम्बा, वीरत्स, वीर तथा रीद्र रस मिले। परतु वे एक ही धुरी में बंधे रहे और उनकी गति चत्रवत् इतनी तेज रही कि पाठक उनके धूमता ही देख सका। यह है नयी कविता का अभाव। आज दूर में देखने पर ही मैं इसे देख सका हूँ। फिर बहो कहना कि सतुलित स्वर ने इसकी भी व्याख्या की है।

"व्यर्थ ही स्वर्ण घृतीत याद धाता है। हम हार को ही जीत कहते रहे हैं। हम वृत्तियों के श्रेत दास बने हैं। हम न बँर समझ पाए न प्रीति। स्वार्थ का सकल्प पूर्ण करने को हम महा आकाप लडते रहे हैं। सधि-विग्रह की घिमी-सी बात दिन-रात मन

या मंगल के गीत सुहागिन ! चौमुख दिग्दा वात के !
 आज शरद की साँझ, अमा के इस जगमग रथीहार मे
 दोषावली जलाती फिरती नभ के तिमिरागार मे
 चली होड करने लू लेकिन भूल न—यह ससार है,
 भर जीवन की थास दीप से रखना पाँव सँभाले के !

सम्मूख इच्छा बुला रही पीछे संपम-स्वर रोकते,
 धर्म - कर्म भी बायें-दायें रुकी देखकर टोकते,
 अग-जग की ये चार दिशाएँ तम से धुंधली दीखतीं,
 चतुर्मुखी अलोक जला ले स्नेह सत्य का ढाल के !
 दीप-दीप भावों के भिलमिल और दिखाएँ प्रीति की
 गति-मति के पय पर चलता है ज्योति लिए नवरोति की,
 यह प्रकाश का पर्व अमर हो तम के दुर्गम देश मे,
 चमके मिट्टी की उजियाली नभ का कुहरा टोल के ।

—राजेन्द्रप्रसाद सिंह

यह कविता बहुत ही श्रेष्ठ रचना है जिसे बहुत ही अच्छी तरह गाया जा सकता है । प्रकाश का पर्व मनाने की घोषणा गूज उठती है और फिर आती है अद्भुत कल्पना -

यह सव्या एक शमा-सी है
 दिन के पर जलते जाते हैं—

—शिवशंकर सिंह

और मनुष्य प्रेम को अब भी सर्वोच्च आसन देकर कहता है :
 किसी भक्त मे देव की धारती हित बड़े भाव से दीप मठ का जलाया
 दूर हट, यह नहीं अर्चना प्रेम की कूड ली मे शलभ ने यती को बुलाया
 प्रणय के नगर मे सफल प्रेमियों को जलन ही अघर और चुबन अंगारा ।

—शिवशंकर सिंह

उदात्ततम हो आत्मा धारक भी मनुष्य की चेतना का एक लक्षण है । और इसे वह प्रकृति से निरन्तर सीख रहा है । तभी कवि-हृदय कहता है

अवर के आँगन मे जगते रहे तितारि रात - भर
 चुप-चुप इगित मे चदा ने निशि से निशि - भर बात की,
 आँखों मे आकुल शका थी आनेवाले प्रात की,
 रहे खेलते आँख - मिचौनी घन अजरारे रात - भर ।

मिट्टी मे मिल गई जवानो भोले-भाले फूलो की
 आँखों मे रह गई तितकती शेष बहानो धूल की

तुम्हें जानना है मनुष्य तुम नहीं गुलाम देवताओं के
और न उनके दया पात्र ही, और न उनके ऊपर निर्भर
तुम्हें आत्म अवलंब चाहिए ।

तुम्हें जानना है मनुष्य तुम और मानवी अधिकारों पर
जबकि खड़े होगे तुम डटकर कोई शक्ति नहीं ऐसी जो
तुम्हें हटा दे तिल-भर पीछे, तुम्हें आत्म विश्वास चाहिए ।

×

इसीलिए यह अपनी वाणी तुम्हें भेजता हूँ चंदे में
संभव है तुमको कुछ बल दे और कशिका करे प्रेरणा
निकल पडो तुम सहसा कहकर—

अपनी रोटी अपना राज,

इंकलाब जिन्दाबाद ।

—वचन

कवि अब वाणी भेजता है चंदे में । नया ही प्रयोग है । अपनी रोटी और अपना
राज । दो प्रकार है । पूर्ण स्वतंत्रता । अरे वैभव के मोह । तू तो बार-बार सता रहा
है । कहा गया वह भारत का गौरव ।

“तू अबघ पूछ कि राम कहा है । बूढ़ा । बनाओ धनस्याम कहा है । ओ भगध ।
तेरे असोक, चद्रगुप्त—वे बलधाम कहा है । मिथिला भिलारिणी-सी पडी है । इमने
अपनी सारी धनन निधिया कहा गवा दी । ओ कपिलवस्तु । बुद्धदेव के वे मंगल उपदेश
कहा गए ?” (रामधारीमिह दिनकर)

सब कुछ चला गया ।

पयो ?

अतीत था न ?

हम अपने स्वत्व को मभान नहीं सके ।

बितु हम मरे तो नहीं ?

मरेंगे कंसे ! हमारी तो धरती में जडे हैं । हम नभी जीविन हैं

वह फूल भला क्या फूल, भरा जिसमें जीवन्त पराग न हो ?

वह यौवन क्या, जिस यौवन में जीवन की जलती आग न हो ?

—दिवेन्द्र

यौवन भी है, क्योंकि उसमें मर मिटने की तमन्ना है । बारामार क्या कवि का
मन तोड सकता है । भला वह क्या तोडेगा ?

सैकड़ों-हजारों कारा में तडप रहे हैं । कवि भी जन्ही में से एक है । वह भी अपने
को दु स में केवल सुखी रखने के लिए पीछे नहीं भाग सकता ।

जब - जब पवन सँदेता लावे
 दीपे की ली - सी बल खावे
 भाला दे - दे पास बुलावे
 उभक देल मैं जानूं मेरे
 आए राजकुमार !

देखूं जगल में पटबिजना
 गगन बीच तारो का खिलना
 मैं जानूं यह केवल धलना,
 कौन कहे सचमुच आवेंगे
 मेरे राजकुमार !

×

छोज रहो तन-मन की बाती
 दीपे-सी ही रात तिराती
 जीती तो फिर रात जलाती
 कह भर देता कोई—मेरे
 आते राजकुमार !

—नरेन्द्र शर्मा

राजकुमार उसकी कल्पना का सुंदर वाग्म्य है। इसीलिए कवि का हृदय उसका वरण करने को स्त्री की कोमलता का अनुभव कर उठता है और कहता है कि आयु समाप्त हो जाती है। सकल सृष्टि इस दीप की भाँति ही यत्न से अपने को घुलाती रहती है। सोवनीत जैसी यह कविता उमर का परिचय देती है। प्रश्न उठता है क्या यह पलायन का विव नहीं देती ? मैं समझता हूँ नहीं। प्राचीन काल से ही मनुष्य अपने दार्शनिक चिंतन को सहज बनाने को लौकिक कार्यों में प्रवृत्तित करता रहा है। उसने पशु-भक्षियों तक की बातें करते दिखाया है। इसे उसने 'रति' में मयमे अधिक निःकट से अनुभव किया है। उर्दू वाक्य में तो साम्राज्यों के पतन भी प्रिया में विरह-निवेदन के रूप में प्रकट हुए हैं। यह तो एक कामना है कि व्यक्ति का आंतरिक जीवन भी अपनी सात्वता पाता चले। कवि कहता है

दीप जल रहा गल-गलकर
 ले तेरा ही विश्वास सहारा
 कल ठुकराया जाता था
 पाषाण आज भगवान हो गया।

×

वह जब थक जाती है तो पुराने—अतीत में प्रथम खोजती है। अतीत अच्छा लगता है। यह मनुष्य की एक सहज निर्वलता है। क्यों? क्योंकि अतीत पर मिलमिल छाया रहती है।

नालदा । "वह मधुमय सप्ताह एक सपना-सा था। आह ! वह अनंत ध्वनि-जाल ! पुष्प प्राची का स्वर्णिम काल था। हस्त ! आज उस स्वर्गिक जग का गह दुरत ककाल पडा है।" (केरारी)

इस कर्काल की ध्रुव कत्र तक वे पुराने गीत सुनाए जाए ! उनसे लाभ क्या है ? कुछ नहीं। इसे तो नयी शक्ति चाहिए।

परि इमें जानना है।

तभी वह नवीनता की ओर अधिक अभ्यसर है। वह बड़ी ईमानदारी से पूछता है कि यदि तुम बलिदान का मोल चाहते हो, तुम स्वतंत्रता कैसे चाहते हो? सशाम में तो न जाने किनने अज्ञात बलि-वीर अपने को हीम देते हैं, तब जाकर फल प्राप्त होता है।

जो मिटते हैं, वे अकारण नहीं मिट जाते। वे एक नया स्वप्न साकार करके जाते हैं :

मिट्टी बतन की पूछती,
वह कौन है, वह कौन है,
इतिहास जित पर मोन है !

जिसके सह की खंड का टौका हमारे भान पर
जिसके सह की लालिमा स्वातन्त्र्य दिग्गु के भात पर
जो झुठ गया फिरकर गणन से निमित्त में तारा सद्गद
बच ओस जितना भी न पाया अथु जिसका कास पर
जो दे गया जीवन विजन के फूल-सा हंस नाश को
जिसके लिए दो खंड भी क्याही नहीं इतिहास को !

वह कौन है ?

जिसके मरण के नेह में दीपक नये युग का जला,
काजल नयन के मेह से मरचल मनुज मन का फला।
चुनता गया पद-पद्म से कटक मनुज की राह का,
विष दासता को, मुक्ति को निज मृत्यु का अमृत पिला,
सुभती न स्मृति जिसकी कभी जी में कितोके शूल-सी
भरते न जिसपर श्रांत से दो श्रांमुधों के फूल ही !

—दमजुमार त्रिवा

उनकी मृत्यु भी अमृत होती है। शरीर एक आदर्श हो गया। शरीर पर

हम घनो-गरीब ऐसे भेद रच डाले ।
जहाँ नेह अभेद ऐसी एक बेला है ।
जानता हूँ रात बीते प्रात होना है
प्रात होते तेज से अस्तित्व खोना है ।

—मशानोभषाद तिवारी

हम एक और बड़े सत्य के पास पहुंचने के लिए जीवित हैं। वहा हमारी मान्य-
ताए भी धुंध पड़ जायेंगी, किन्तु तब तक का उनके द्वारा दिया साथ अपनी सार्थकता पूरी
कर चुकेगा। वह उसको लोकोहित में सर्वत्र चाहता है।

द्वार-द्वार पर अमन्द यह दिया जले
मुक्त द्वार ही न बन्द यह दिया जले ।
सत्य बन असत् प्रवाह मे,
बन प्रकाश तिमिर राह मे
अमृतधार—मृत्युदाह मे,
नव-नव रस रूप गंध स्पर्श शब्द ले
प्राण-प्राण बीच यह अमर प्रभा जले !

×

सम की दीवार तोड़कर,
बध बुनिवार तोड़कर
मुक्त ज्योति की उठे लहर
गूह धन गिरि सिंधु धार मे गगन तले
देवाकाश से अखण्ड यह दिया जले !

—शम्भुनाथसिंह

यह दीपक आकाश और सकल लोक में प्रज्वलित होकर रहे। इसलिए कवि-
हृदय इतनी भी स्पर्धा करता है कि प्रकाश के लिए भोज भी नहीं चाहता। स्वयं पर ही
विश्वास है

मुझे राह मे रोशनी मत दिखाना
मे अपना ही दीपक जलाते चलूंगी ।

किधर मेरी मज्जित किधर है किनारा
नहीं मुझको लेना विसीसे सहारा
तइए कर मेरे दिल ने मुझको सुकारा
बताया है चुपके से मुझको इतारा

महूषा रात को गृहस्थिग के दुःख देखकर रोता है।

किंतु लोक-मगल की भावना यहाँ न जाने कब से जीवित बनी आई है। अश्वत्य भारतीय अध्यात्म-चिंतन में अपना बहुत पुराना स्थान रखता है। कवि के लिए वह बुद्धत्व का प्रतीक है, करुणा का प्रतिनिधि है। उसको याद करके कवि उसी लोक-मगल की भावना को प्राप्नू करता है

धन्य है अश्वत्य जो आश्चर्य करता रहा
पोडियाँ मनुजता को।

—शिवमगलभित्त 'एमन'

मगल राम और विद्रोह का गर्जन, दोनों ही हिंदी में साम-साथ जलने हैं। अगरेज हिंदी नहीं पढ़ते थे, न देश के निवन्ता नेता ही, मन्सबा वे भी हम लक्षण का अनुभव करने। और यह तमाम उस भाषा का गौरव है, जिसके प्रति विदोय प्रेम यही के शिक्षितों के मन में भी नहीं था। इतने अपमानों में रहकर भी यह भाषा कितनी प्रचण्ड बन सकी है। यही है वह स्वर जिसने कहा था

कौन रोक सकता ढोलों आगे बढ़ते दीवानों की
आज चली है सेना फिर से धीर धीर मस्तानों को
वे कल चले आज हम जाते परसों उनकी बारी है
दर-दर में उत्सव जुलूस है घर-घर में तैयारी है
मिला सुयोग थगरे में हमको मर के पद का पूजन है
कितने शोष चट्टे चरणों में आज बृहद आयोजन है
घबर में ध्वनि गुंज रही जननी के जयजय गानों की।
बलिबेदी पर भीड़ लगी है आज हमर बलिदानों की।

—मोहनलाल दिवेदी

कितना प्रभावशाली चित्र है। बलिबेदी पर हमर बलिदानों की भीड़ लगी है। मावाश में मा के जयगानों की ध्वनि गुंज रही है।

कवि "भविष्य के अडहर की गहराई जाग रहा है। वह पर्वत से राई की ऊचाई मापना है। रुठे दिन मोटकर नहीं आते, यह वह जानता है। व्यक्ति से सबी उसकी पर-छाई पडती है। वह मखिल पर पहुँचकर पद की बनाई नाप रहा है।"

(नर्मदेश्वर उपाध्याय)

कवि बड़ा बीषम जानता है।

मुप से बडा वह कमी-कमी दिखाई तो देना है। आज सारा वह कोलाहल डूब चुका है। इतिहास बदल चुका है। यदि वही अब वह सब जीवित है तो कविता में। दुर्भाग्य से उत्तमा अभी मध्यमन बिल्वार में नहीं हो सका है। हम भी अपने-अपने रास्ते के साथ

फिर उसमें विश्वास जागता है और इस प्रकार सामाजिक कुरीति भी उसी चेतना का रूप धारण ग्रहण करती है। दीप हमारे सामने फिर आता है, क्योंकि वह प्रकृति की प्रत्यक्ष ज्योति का प्रतीक जो है। उसका आदर्श बनाकर मानव से अपने कष्टों को भूल लेने का एक साधन बना लिया है

मैं न बुझूँगी, अमर दीप की ज्वाला हूँ, बाता हूँ,
पल-भर किसी कण्ट से तपकर दिग्गम हुई माता हूँ,
प्रखर धार में पड़ी तरी हूँ दृढ़ गई पतवार,
मैं जाग्रत भारत की विधवा, कुम्भित अग्नि की धार !

चिन्ता भूमि की कुसुमित लतिका, लज्जित सौरभ भार क्या।

कैसे मुनाऊं करण क्या ?

—जानकीवल्लभ शास्त्री

यह दीपक जब बुझ जाता है तब वह कवि को कोई प्रेरणा नहीं देता। केवल जड़ भौतिक में उसे सात्वता नहीं होती। सम्यता यदि निष्प्राण है तो वह सस्कृति का निर्माण करने में असमर्थ है। अतः वह त्याग्य है। प्रकृति का वही रूप मानव को पसंद है जो उसे धागे का मार्ग दिखा सके, सब अवयवों में उसके हृदय को एक शक्ति दे सके

यह बुझा दीपक, धिनौना मृत्तिका का पात्र।

दग्ध उर में रह गई है स्नेह की दो चार बूँदें मात्र।

रात्रि-भर जलकर किया पय का अधिरा दूर

धूम्र बनकर इसीपर अब छा गया वह क्रूर

भिष्णुकी के ठोकरे-सा हो गया यह दीन

सतम-नभ-सा करण काले बादलों में सीन

बुझ चुकी है प्राण-दाती चेतना इसमें नहीं अणु मात्र !

—देवनागणपति काक

कितु क्या इसका जीवन व्यर्थ चला गया ? नहीं। कवि यह भी कह जाता है कि इसके कार्य को स्नेह दो, इसकी जड़ना को नहीं, क्योंकि अब यह काम नहीं आ सकता। यह दीप हमारी वेदना से जल रहा है। कवि कहता है

हमारी व्यथा की जलन से

दिया की शिखा जल रही है।

×

हमारी चिन्ता की लपट से

अमा की निशा बन रही है।

विषल दल रहे नर्म अरमा हृदय के

सूतिमान हो गई जहाँ मुरूप कामना ।
 देश मे अनेक वर्ग वर्ण जाति धर्म हैं
 भाव हैं अनेक बोत हैं अनेक कर्म हैं
 कोटि-कोटि रूप मे परतु एक प्राण हैं ।
 मान एक ज्ञान एक, ध्यान एक गान है ।
 एक आज शक्ति है, एक भाव भरित है ।
 कोटि-कोटि प्राण की अभिन्न आज भावना
 आज कोटि-कोटि का जिसे कि बाहुबल मिला
 कोन कह रहा कि वीरभूमि आज निर्बला
 आज जागरण हुआ कि हम सदा स्वतन्त्र हैं
 आज लोक के स्वकीय तत्र मत्र यत्र हैं
 आज एक कल्पना, आज एक चिंतना
 आज भावना यही, समस्त सिद्धि साधना ।

—सुधीन्द्र

यह कविता बहुत ही गेय और ऊर्जस्वित गरिमा का प्रतिनिधित्व करती है ।
 स्वर्गीय सुधीन्द्र की अमर क्रीति की स्थापना के लिए यह एक कविता ही काफी है । यहाँ
 हम केवल यशोगान नहीं पाते, प्रकृति का वरदान भी पाते हैं । जाति-द्वेष हटता हुआ
 दीव्यता है और करोड़ों की अपार शक्ति हरहरानी हुई सुनाई देती है । यह कवि की
 एक श्रेष्ठ कविता है, जिसे देश-प्रेम की कविताओं में अवश्य ही मकलित करना चाहिए ।

देश और विश्व का संघर्ष भी एक होता दीखना है

जागे मंगल वाणी ।

नवयुग की पगप्वनि मे जागे अखिल विद्वकल्पणी ।

जागे जन पद-ग्राम-नगर मे

गृह-वन मे सरिता-सागर मे

अथक विहग-सौनीलाम्बर मे

जागे जनगण के अतर मे

स्वप्न-भग-से निर्भर-सौ फिर वहे अमर युगवाणी ।

महामृत्यु के पय मे गूँजे कवि की भँरखवाणी ।

जागे जन पशुहीन नगर मे

नवयुग के उन्नत शिर मर मे

अदणोदय-से नीलाम्बर मे

जागे मूर्त राष्ट्र के स्वर मे

तो भूखी शृगार - भावना
दीवाली त्यौहार बनाती।

—विद्यावती कोकिल

अधकार को मिटाकर घर-घर आनंद होता, तब ही शृगार की भूखी भावना दीवाली का त्यौहार बनाती। अन्यथा आनंद मिले भी कैसे? दूसरे पक्ष में जब परमात्म वेला का स्पर्श होता है तब मनुष्य सर्वात्म के आलोक पर न्योछावर होना भी श्रेयस्कर समझता है

तुम दीपक हो, मैं तद्यु एतंग,
हे देव ! तुम्हारे जलने में ही कर्मयोग की मूढ उमंग !
तुम जलते मिलती उजियाली, मैं जलता होती भ्रंषियाली,
पागल प्राणी मैं कहलाया, प्रभु ! जला तुम्हारे सग-सग !

—तारा पाण्डे

कितनी करुणा से मनुष्य कहता है कि उसे अपनी सत्ता, अपनी वासना और प्रह की इतनी स्वीकृति नहीं चाहिए, जितनी इसकी कि उसकी वेदना पहचान ली जाए। वह अपनी वेदना को बहुत प्यार करता है

देव मुझको भूलकर इन आँसुओं को जान पाते।

—तारा पाण्डे

करुणा अपने आचल में न जाने कितने सुख-स्वप्न लिए आती है। सुख-दुःख के दोनों पक्ष उसमें अतनिहित होते हैं। वह आनंद हो, या वेदना, दोनों में ही एक-सा सान्निध्य प्राप्त करने का इच्छुक बना रहता है। जलना और बुझना एक आनंद भी देते हैं। अपने 'प्रथम मित्रन' से कवि अपने स्नेह की अभिव्यक्ति के लिए भी इसी सम्पन्न की शब्दावली का प्रयोग करके कहता है

दिये को लज्जा कर बुलाया गया है

शलभ मुसकरा कर बुलाया गया है—

—रामकुमार कवौदी

प्रेमी वा इस प्रकार दुलाना और फिर दीप को बुझ देना—दीप यानी कुतूहल का रूप।

प्रेम की प्रतीक्षा भी इसी प्रकार आज अभिव्यक्ति पाती है, और वह इतनी गूढ है कि उसे हम दर्शन की गहराई में अपने में समेटे देखते हैं।

'जुगनू' में बचचन ने इन दोनों भावों को मिला दिया है। अज्ञत विस्तार में वह प्रकार का एक कण उसके लिए अस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। कवि कहता है

अंधेरी रात में दीपक जलाए कौन बंठा है?

तो ई देहों की नस-नस का, कस कहीं रखनु ना उदति परं
हम भारत पर बलिहार धीर !

—चन्द्रमन विवेरी

मरने पूर्ववत् के प्रति उसे बड़ा अभिमान है। ऐसे पूर्ववत् की धरती का कोई बग बिगाड सकता है। किन्तु रक्त इसकी रक्षा के लिए नहीं उमड पड़ेगा। ये सारे इस भारत पर बलिहारी हैं।

बैचे दशा देखी जाए तो कवि के पास क्या है ?

“न स्वर्ग की तरी पास है, न पर्व की तरी है। मानवान कहीं समुद्र की परी भी नहीं दीखती। किन्तु मसीह शक्ति मरनों बाहु में रखनेवाले मनन स्वप्न के बनी ! तुम हार न मानना। तुम्हें सहर पुकार रही है। सामने विनष्ट विरुद्ध है किन्तु हार न मान लेना, क्योंकि सहर नवीन सृष्टि का स्वप्न लेकर तुम्हें निहार रही है।”

(समूनापसिंह)

सारा देश ही दरिद्र है। केवल एक स्वप्न है। शक्ति है तो मुजामों की। समष्टि ही शक्ति है।

मरुतोदय में माने योग्य एक सुंदर गीत यह है

जग है फिर से भारत देश
पूर्व सितिय पर मरुधिम घामा का नूनन उन्मेष
कीर्ति धवल हिमवान मुडुट है
विस्तृत शालत मुख समुद्र है
गगा - यमुना की धाराएं
जिसके धनर को सरसाएं
शीतल रक्त से प्रोचप्रोन है जिसकी भूमि प्रशेष
तिथु तरंगित है चरणों में
मनुत्तिन है जो उरकरणों में
ऊचा जिसकी मर पनाजा
जो शाशवन घाघार विभा का
सदा सममिन धीर समन्वित जिसका धनदेंत
धी-शोभा है जिसकी दानी
दामा - शान्ति का जो विद्वानी
युग-युग के उन्धान-पवन का
साथी है जो जग-जीवन का,

और आशा अपने प्रिय को पहचान गई है। उसके लिए सारा जीवन एक धारा के समान बहने को तत्पर हो गया है। वह धारा ऐसी है जिसका पथ कोई नहीं रोक सकता।

आशा का दीप जला है पाकर अब मृदुल इशारा
छूने चरण हृदय बन, मैं बहती हूँ बन धारा।
उन्मत्त हृदय ने बधन अब मोड़ दिये हैं सारे,
अब छिपन सकोगे तुम भी 'मेरी आँखों के तारे।'।
वह छूट चुकी है कुटिया, वह छूट गई फुलवारी,
यों जहाँ बहुत-सी कलियाँ मुझपर बारी-बलिहारी।
थी जहाँ कोकिला गाती मृदु गाया प्यारी-प्यारी
बहती थी निकट कुटी के गिरिवाला शुचि सुकुमारों।
थी फल-कल, धूल-धूल, अविरल, चलती बल खाती धारा,
गाती थी, इठलाती थी, जाती थी धूम किनारा।
मिल मिलन सलिल अवनवी का जिसमे हो जाता निर्मल,
था नहीं कलकित छल से वह दुग्ध-पवल शुधि अचल।

×

ऊँचे पर्वत भी जिसका पथ रोक नहीं पाते थे
उस पानी की धारा से कट रज-कण धन जाते थे।

—दरिद्र प्रेमी

परतु विनाश बहुत ही विकराल सत्य है। वह भी अथकार ही है। उसके सामने किसीकी नहीं चलती। प्रकृति के कार्य-व्यापार में मनुष्य की पीड़ा का मूल्य कुछ भी नहीं है। कर्म और पुनर्जन्म के विचार इसी प्राकृतिक निर्ममता के लिए व्याख्यास्वरूप थे। आज का कवि मानना नहीं इने पूर्णतः। अतः मानव की सत्ता की लघुता उसे बहुत अधिक कचोटने लगती है। कवि कहता है

अरी पगलौ ! न धम के राज में आँसू पहुँचता है
अरी पगलौ, ध्यय ही प्रीति का पक्षी कुहुक्ता है
जिसीके प्यार का दीपक जला, जलकर बुझा जग में
जता दे देह का दीपक किसीके प्यार के पग में
युगों से टूटते जलते गगन में चाँद के दीपक।

अतुल अशवाद के दीपक।

—सुदीरसरथ मित्र

एक ही सादबना है। यह जीवन प्यार के हिन दीप-सा जले, वस यही काफी है।
पाकाय का चद्रमा भी न जाने बितवी धार जलकर बुझ चुका है। इससे भी अधिक

परिगान हो गया, जैसे हिन्दी साहित्य के इतिहासकार परवर्ती रीति कवियों की भीड़ देखकर होते रहे हैं। युग-विशेष में जैसे स्वर में स्वर मिलता ही है, वही बात है, परतु अधिकारा उसमें गया स्वर है

आज शत-शत कण्ठ में फिर स्वरो का वरदान जागा
 आज जन-जन के हृदय में मुक्ति का सम्मान जागा
 आज जागा शेष कि काँपी धरा नभ डगमगाया
 ज्येष्ठ के मध्याह्न से स्वर-ताप जब मंने चुराया
 कण्ठ में स्वर नवल जागा हृदय में बन सबल जागा
 नयन में नव ज्योति जागी देह पर नव वैद्य जागा
 आज मेरा देश जागा देश का अभिमान जागा
 आज मेरे देश के श्रमभान का प्रतिपाद जागा
 आज कण-कण के हृदय में शक्ति का उपमान जागा !

—मगदीश

घात, कोटि, ही आगे आनेवाले शब्द है। इतना निश्चिन्त है कि हिन्दी का कवि एक बहुत बड़े शिविर में आ गया था और उसे अनीत की उत्तम रोक नहीं पाती थी।

“अनीत के हित भँवने से क्या लाभ ! चिर नवीन के अमर राग से धीणा को मुखरित करो। नियति क्रूर और निर्मम है। उससे भिशा मत मागो। जीवन तो वर्तमान ही में है।” (मनोरजनप्रसाद सिंह)

वर्तमान के प्रति इतनी अधिक आसक्ति देखकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक बार चौंक उठे थे। उन्होंने कहा था कि कवि का सदेश राष्ट्रीय परिधि के भीतर बंधकर नहीं रह सकता, क्योंकि देश के म्वनत्र हो जाने पर समस्याएँ बदल जाएगी। किंतु युग की पुकार बहुत सबल थी। उनका भी स्वर डूब गया। राष्ट्रीयता घर-घर का दीपक बन गई। जो भी हो, आवेश को तो एक रूप प्राप्त करना ही था, और उस समय वह जन्मभूमि के नाम पर मूर्त हो उठा। हम देखते हैं कि भारतीय चेतना की परंपरा के कारण ही जन्मभूमि के प्रति आसक्ति बाह्य रूप तक ही सीमित नहीं रही, उसका अंतस्थ भी कवियों ने प्रदर्शित करने का यत्न किया। क्योंकि यहाँ की सामाजिक व्यवस्था का मंडातिक निरूपण प । निश्चित हो जाने की परंपरा हमें वेद के ‘विराट पुरण’ में ही मिल जाती है।

अधि ! तुम भूतल पर आदि-करण की माता
 दिव का मस्तक भी जिसे देख भुक जाता
 ते रश्मिलोक का मंगल मुकुट करो मे
 वह तेरे पुण्य पगो तक बढता आता

है। यह है वह मानव की अतीन्द्रिय चेतना जो माटी में से उजागर हो उठी है। कवि उसका वर्णन करता है

इस मिट्टी के दीप, चेतना की बत्ती को, स्नेह मिला जब
कहा विरोधी तत्त्वों ने, बस और चाहिए एक जलन अब!
तुमने लपटों की उंगली से मेरा स्नेह-दीप जब धासा।
सहसा ज्योति जली अन्तर में अन्धकार बन गया उजाला।

×

भ्रांथी आई, पानी बरसा, रात धूल ढँक-ढँककर हारी
पर न बुझी उल्टी भडकी ही, मूल शक्ति-सी यह चिनगारी!

—शिवमंगलसिंह सुमन

यह दीप केवल स्नेह के धल पर जीवित रहना है। किन्तु उसे विरोधी तत्त्वों ने जलन भी दे दी है। यह मूल शक्ति की चिनगारी है। यह व्यक्ति में भी है, समाज में भी। यह युग में है। युग हमारा एक नया पात्र है।

युग और दीप दोनों परस्पर एक-दूसरे के लिए लालायित-से हमें नयी कविता में दिशाई देते हैं। युग जिस चेतना का अपूर्ण व्यक्तित्व चेतन है, दीप उसीकी सुदरता की अभिव्यक्ति है। मनुष्य का निर्माण ही इस समस्त के मूल में है। पहले का मनुष्य अपनी निर्माण-शक्ति पर गर्व नहीं करता था। आज का मनुष्य करता है। आज उसे अपनी सामर्थ्य के प्रति एक विश्वास-सा हो चला है। पुराना व्यक्ति प्रलय को स्वीकार कर चुका था, नया मनुष्य दिनाश-बाल समीप आता जातकर इस पृथ्वी ग्रह को छोड़कर महाशून्य में निवृत्त जाने की योजना बना रहा है। तभी उसमें गतिरोध पैदा हुआ है। सामर्थ्य से पूर्व ही उसका मन भागे बड़ गया है। वह महानाश को बंदी कर देना चाहता है, क्योंकि उसे लग रहा है कि वह मजिल के बहुत परस भा चुका है

युग के घुघुपारे मंदिर में
फिर से रणों के दीप जले।

तो ये उजियाले के घेरे
फिर आत्मान को छोड़ चले।

हम पीछे बंदी कर भाये
उस महानाश की छाँह श्याम,
चलकर भाये हैं अग्नि-वय—
इस युग के दृढ़ निष्कप चरण—
ध्रुव दूर नहीं मजिल विराप

×

सदियो यो ही रहीं, हाथ, तुम श्रद्धा-कामकुमारी !
 पूर्णराम देवेन्द्र इन्द्र ने ठगा, तजा शोतम ने
 रघुनाथरु ने निर्वासित कर दिया लौकरजन मे ।
 लक्ष्मण और युद्ध ने तप का समझा कब अधिकारी ।
 नाच नचाता स्वर्ण, बनाकर तुम्हें उबेंसी-रम्भा ?
 गिरने पर भी नहीं गिरी तुम रहीं शक्ति जगदम्बा ?
 सती आज भी दक्ष प्रजापति अहम्मन्य अविचारी ?
 मदोन्मत्त हैं मनुज आज भी स्वामी बन सत्ता के
 कर दिव को निर्वासित रचते यज्ञ शक्तिमत्ता के ।
 शकर प्रलयकर की सहचरि बारी पुन तुम्हारी ।
 युग-युग से इस पुण्य देश पर घन जडत्व मँडराया
 महिषासुरमर्दिनी बनी फिर भुवन-विमोहिनि माया ।

×

बनो महात्तमी, श्रेष्ठियारी—जगती करो उजारी ।
 सागर का नीलोत्पल, इषामल शतदल वसुधरा का
 पदतन माने को लातामिस्त उदित भानु रंगराता ।
 प्रजापारिमिना दर्शन दो पावन मंगलकारी ।—

वरेन्द्र
 उसने अक्वहेना भी की, परन्तु भारतीय मन्कृति तो बहुत व्यापक है । अत मे
 उसे भारतीय परचरामे ही उपमान मिल गए । वह केवल दृष्टिकोण का भेद चाहता है ।

भारत ज्यो-ज्यो देशातरो के सपर्क मे आया और जैसे उसने अपने अतीत को
 देखा, उसके दृष्टिकोण की सकीर्णता भी कम होनी गई । देश के भगडो को देखकर कवि
 समझता है

×

गंगा किसकी नदी नहीं है भारतवर्ष न किसका है ?
 आयं, योद्ध, हिद्ग, ईसाई सभी गोद मे लेन चुके,
 सहरो के उत्थान पतन को, मुस्लिम जन भी भेल चुके,
 सबने इसका फल पाया है शिगष दुग्ध का स्वाद लिया,
 इस मिट्टी को हवा रोगनी अन्न और जसपान किया ।
 भावपूर्ण जीवन का दर्शन शाश्वत हर्ष न किसका है ?

×

पृथ्वी का है मुकुट हिमालय भूमण्डल का है सागर
 भारत की सीमा क्या कोई ? यह क्या किमी जाति का घर ?

भोग-लिप्ता आज भी सहरा रही उद्दाम
 वह रही असहाय नर की भावना निष्काम,
 भीष्म हो अथवा युधिष्ठिर, या कि हों भगवान
 बृद्ध हो कि अशोक, गांधी हो कि ईसु महान,
 सिर झुका सबको, सभीको धेष्ठ निज से मान,
 मात्र - वाचिक ही उन्हें देता हुआ सम्मान,
 दाघ कर पर को, स्वयं भी भोगता दुल-बाह
 जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह ।
 अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान
 सौजन्य चढ दूसरों के भस्म पर उत्थान
 शीत से सुलभान सकना आपसी व्यवहार
 दौड़ना रह - रह उठा उन्माद की तलवार
 द्रोह से अब भी वही अनुराग
 प्राण मे अब भी वही फुकार भरता माण ।

—दिनकर

कब आएगा वह दिन, जब कुछ व्यक्ति ही नहीं, सारे ससार मे मन के भीतर
 उजियाला फूलेगा । उसकी सस्कृति वास्तव मे जागेगी ? कब वह महान ज्योति मे अपनी
 ज्योति मिलाने के योग्य हो जाएगा । उसने जो चेतन प्रतीक बनाए है, उनके प्रति कुछ
 ही वनिदानी क्यों सब कुछ त्यागते हैं । क्यों नहीं सारा लोक ही सन्नद्ध हो जाता । क्या
 ऐसा हो जाने पर मनुष्य का अपार कल्याण समीपतम नहीं आ जाएगा ? दिनकर ने
 बहुत गहरा प्रश्न उठाया है । इसका अब तक केवल यही उत्तर मिल सका है

अमा की निशा मे, मधुर स्नेह दीपक जले, छा गया घय पर नव उजेला !

विहंसती दिशाएँ खुरी के दिमो से

सरसती दिशाएँ नई रश्मियो से

कहीं भी नहीं नाम है शेष तम का—

कहीं भी नहीं नाम है शेष राम का—

नई भावना से भरा आज जीवन, धरा पर सरस हास का मुग्ध मेला ।

लिये हाथ मे भारती भव्य बीणा

रही गा युगो बाद फिर से प्रथीणा

सुहाने स्वर्गों से महा मोन सुललित

सुहाने स्वर्गों से विजन - चीन भङ्गत

नई कामना से भरे प्राण तन-मन रहा अब न पथी इगार पर अकेला !

कविता में पुराने काव्य में यह भेद है। पहले काव्य में यौन का मोह अधिक था, नये काल में निषाण के प्रति उत्कट आलस्य है और अब पोछे मुड़कर देखने की वजाय, वह सारी परंपरा को समेटकर आगे बढ़ता हुआ मिलता है

जय जय भारत, जाग्रत भारत !

किरणों का पहिले भरण मुकुट

जिसका हिमाद्रि - सा उच्च भाव !

शत-शत स्वर्गिक सीला मजुल

गणामणि मंगल कण्ठमाल !

पूजित करने पद तल

रत्नाकर परता उर भागदल

लहराता दिशि-दिशि हरा-मरा

कीमल श्यामल घबल अचल

अभियेक कर रहा अरण कलदा

से ढाल सुधा अम्बर विशाल !

वितरित कर प्रमिपल सुत अविरत !

भूषित भारत ! जीवित भारत !

जय जय भारत, जाग्रत भारत !

—सुधीन्द्र

भारत वस्तुतः एक दुखी और सोपिन मानव है। इस प्रकार जो विचिकरण हुआ है, उसमें भारत अपनी समस्त प्राकृतिक छवियों के साथ भी एक नर-रूप में आता है, या जननी-रूप में। अततोमत्वा यह भी काव्य का एक नया 'पात्र' है। इसी बिंब में कवि कहता है "मानव ! तुम मृत्युञ्जय, प्रविनश्चर हो। अजर-अमर क्या मर सकते हैं ? जब तुम स्वयं ही महा अजल के पिण्ड हो तो फिर चिनगारी से क्या डरने हो ? तुम्हारे अक्षयकर हर्षण पर अज्ञाण जोल उठता है। जति अजर तुम्हारी अहंछा है। अक्षय तुम्हारा चिर अनूचर है। विजय स्वयं उपहार लिए तुम्हारा अभिनयन करने को विह्वल है।" (सुधीन्द्र)

भारत में मानवता का विकास हुआ है। इस सत्य का इतिहास भी दुहरता है। इसमें कवि प्रेरणा भी पाते हैं। महानता तो भारत में तब भी थी जब वह दामत्व की शूल-लाशों में बसा रहा। यह सत्य इसी से प्रमाणित होता है कि भारत में सर्वे ही महापुरुष जन्म लेते रहे। यह भारतीय सभ्यता में व्यक्ति को महत्त्व देने का ही परिणाम रहा है, जिसने सभ्यता को वाह्य और संस्कृति को शीलपरक माना है

शान्ति, प्रेम, ममल की जननी भारत-भूमि यह

परपरा में उनको डूबता है जिन्होंने जनता के मुक्त के लिए शयर्ष किया या भीर स्वतंत्रता के वातावरणों को खोला था। यह स्वतंत्रता राजनीतिक हो, या बौद्धिक, सब ही कवि के लिए श्रम शयर्षना महत्त्व रखती है, क्योंकि वह उस शयर्षते स्फुरण प्राप्त करता है। इसीसे कवि उसे वदनीय मानता है, क्योंकि उसमें जनता का हित निहित है। वह श्रत में देश की शक्ति के सच्चे शयर्ष की शयर्षना करता है

जन - बस तेरी
जय हो ! जय हो ! जय हो !
भारत नू पर
स्वर्ग प्रसू पर
भीर वास्य का
दमन राज्य का
क्षय हो ! क्षय हो ! क्षय हो !
मानव पशु को
क्रूर दनुज को
रक्षयपात का
बंघु पात का
भय हो, भय हो, भय हो !
युद्ध शान्ति का
हिंस्र शान्ति का
सत्य शान्ति का
श्रेम शान्ति में
तप हो, तप हो, तप हो !
जाति - जाति में
देश - देश में
सुनित श्रेम का
विश्व श्रेम का
शयर्ष हो, शयर्ष हो, शयर्ष हो !

—नेजताशयर्षण काक

शयर्ष जाति-जाति, देश-देश के श्रेम में जाकर शयर्षाप्त होती है। जनता का शयर्ष वदना है देश-श्रेम ! किन्तु जनता सुखी वेंमें हो ! तब विश्व की शयर्षाधिक शयर्षण पर कवि को शयर्ष्टि जाती है और वह शयर्षण-शयर्षण को शयर्षण है।

मे मानच भटक रहा है।" (वचन) किंतु उसके सामने आज तूफान है

लहराता तूफानी सागर
 अक्षय निधि वारापार नहीं
 इसका कोई आकार नहीं
 इस पार किनारा यह इसका
 उस पार कहीं टकता जाकर
 छोटे नद-नदियों से हारा
 हो गया रदन से जल सारा
 जल भरने पहाँ नहीं आती
 वह नवल सलोनी ले पागर
 आकाश चूमने को जाता
 पर जल्दी लौट तभी आता
 सारे पानी को छूते ही
 बल जाये न तारे घबराकर

—देवराज दिनेश

"कभी जब कविता वन में रहती थी तब कवि दर्शन में डूबे रहने थे। फिर वे सामंती सुरामुन्दरी में फस गए। भक्ति की लहर के बाद शृंगार की व्यभिचार-भरी उन्मत्तता आई। फिर कवि स्वप्नो में डूब गया। परंतु वन में आग लग गई। तब वह बस्ती में आ गया। और कवि की जीभ पर जहर उतर आया, क्योंकि बस्ती में आग लगी हुई थी।" (तेजनारायण काक) अब "प्रेम की मदिरा को गगाजल माननेवाला, धर्म का उपहास करनेवाला, सौंदर्य में डूबा हुआ कवि, जो स्वयं ही साकी और स्वयं ही पीनेवाला था।" (वचन) "हर कदम पर जीवन की चुनौती देखने लगा। अतिम मजिल तो वही नहीं दीखती। केवल घमिराज्य तन में विश्वास बचा रहा। मितारो ने आशा का एक भी संदेश नहीं दिया। प्रकृति ने पथ में एक भी मंगल शकुन नहीं दिया। अब उसे उस पार का भी भय नहीं रहा। मृत्यु-पथ पर वह बढ़ चला निर्भय। वह तो किसीके हाथका साधन-मात्र था। मानो उसके द्वारा केवल मृष्टि की कोई मांग पूरी हो रही थी। आकाश की भुजाओं में रजनी भिच गई और निरुपम रूपहरा चाद सीत पर टिक गया। उसने बार-बार अग्रता प्यार दिया।" (वचन) "ज्ञानी ने मानस-मथन करके इस सस्मृति को भ्रमररोचिका माया कहा, समाधिरत साधक योगी ने इसे भोग-छाया। वे सब जीवन से भाग गए। प्रेमी ही भरण के आगे चल सका।" (सुधीन्द्र) "धूल में मिताने में डर हट गया, कपोलि फिर दीपक बनने की सभावना जाग गई। अगले जन्म में दीप बनकर शहर में जलने की कामना ने उसे नया विश्वास दे दिया।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

ओ मिट्टी के पुतलो, जासो, युग-युग की तन्द्रा त्यागो
सुनो कि वसुधा के कण-कण में गूँज नया संगीत गया ।
मिट्टी का विश्वास सजग ही गीत प्रगति के गाओ तुम,
अपनी नित नूतन रचना से भू को स्वर्ग बनाओ तुम,
अद्व न अदृष्ट की डोर पकड़कर भटको मत मूनेपन में,
पौरुष का प्रदीप ले जग को अभिनव पथ दिखलाओ तुम ।

—पद्म मह शर्मा 'कमलेग'

विनाश में से उसे मूजन मिला है । अथवा कहा जाए कि उसने उसे अधिक महत्व दिया है । अपनी नूतनता को उसने प्रकृति के भीतर भी देखा है । युग-युग की तन्द्रा मनुष्य की टूटी है । प्रकृति का नयापन मदैव ही उपस्थित था । पहले माटी में विश्वास नहीं था । उसे त्याज्य और जड़ समझा जाता था । अब उसे विश्वास में मजबूत जा रहा है । शेक्स-पियर ने चेतन एरिगल के सपर्क में आने पर यह स्वीकार किया है कि धरती का तत्त्व कल्पुष कंलीवन ही प्रमुख है । नया कवि इसे स्वीकार नहीं करता । उसने अपने पौरुष का दीप उठाया है और वह पथ दिखाना चाहता है ।

मनुष्य की बनाई सारी सुन्दरता का प्रतीक 'दीप' है और उसने उसे बहुत प्रेरणा दी है । उसमें ऊहापोह भी है

वह भली आसक्ति है जो भक्ति में घुल-घुल रही,
भक्ति है जो भोग के सौंदर्य में खिल-खिल रही,
बुद्धि है जो सब विकसकर अज्ञता में मिल रही,
मेरी सब वृत्तियों की एक ही पुकार है,
एक ही आधार मेरे एक ही आधार है

—विद्यावती कोविल

एकदम विद्रोह के स्थान पर आसक्ति भली है क्योंकि वह भक्ति का सहारा ले सकती है । भोग तो जीवन में आवश्यक है, किंतु भोग अपनी स्वतंत्रता में समुद्र होता है । उसे मुदर तो भक्ति ही बनाती है । बुद्धि का अहंकार भी उचित नहीं है क्योंकि वह अन्त में कहीं न कहीं कुण्ठित हो ही जाती है । इसलिए उन आधारों में मन छोड़ो जो कि इस जीवन का आधार हैं ।

देवने में लगना है कि यह पराजय है । परंतु ऐसा नहीं है । यह केवल विद्रोह करने की आतुरता नहीं है, इसमें गभीरता है । तारतम्य है । चिन्तन है । इसकी विशेषता यह है कि इसमें अस्तित्व को आधार माना गया है । वृत्तियों की एक पुकार होना प्रकट करता है, सारी सत्ता का निर्वाह अपने आधार को खोज चुका है । वह है प्रकृति का अपना यह स्वरूप, जो कि मनुष्य में चेतना के रूप में प्रकट हुआ है । यह वह दूसरे पर

“यह मनुष्य अनन्त जीवधार का एक तन्त्र है।” (मुघोन्द्र) “अम्बर का अधिवासी तो उसकी प्रकार मुनकर नहीं बोलता।” (आरमीप्रसाद सिंह)

“एक त्रिण के लिए जीवन का जलजात विकल है।” (जितेन्द्रकुमार) वित्तु “इस धरती में स्वर्ग है, मिट्टी में अमृत तक्षर का मूल है। यह जीवन विरह का जलजात है।” (हसकुमार निवारी) “तन्मय हो प्राण तो फिर विरह-दोह कुछ नहीं रहता।” (शकुतला रेणु)

नया कवि इसी चिन्तन में जब समाज की ओर देखता है तो वह अपने भीतर के परिवर्तन को वहाँ भी उतार लाना चाहता है। वह कह उठता है

तमाम नींव खुद चुकी, तमाम भीति गिर चुकी
समाज जीणं-शोणं आतिरी उतांस भर रहा
परम्परा विगड चुकी, अतीत-रीति सड चुकी
सद्वा-गला समाज-कोड फूट-फूट गिर रहा।
बदल रहा जहाँ है, उदय नया विहान है
नवीन अतिरिक्त में नया विहग विचर रहा।
अतीत भीति तोड़ता, नया प्रवाह मोड़ता
सजग सतकं इन्किनाम विद्व मे निरर रहा।
मशाल भित्तमिला उठी, कि रुडि तिलमिला उठी
प्रगाड अगधकार-भुवित का चमक निरर रहा।
नया गगन, नयी धरा, समूल नव परम्परा
नयी दिशा, नयी उषा, समुद्र नव सहर रहा।
प्रकाशमय भविष्य है, सजग सबल मनुष्य है
उठ्य भुजा ससक्त-भाज शपनाद कर रहा।

—पद्मनाभ भट्टनाथ

प्रकृति का भाव वह नया रूप देख रहा है। सब कुछ बदल देना चाहता है। अपने सवम पौष का उसे इतना विश्वास हो गया है। वह जानता है कि “रात को सूरज नहीं उगता, पत्थरों पर फूल नहीं खिल सकते। रेत से ध्याग नहीं बुझती। मुट्टे गा नहीं सकते। वित्तु वह सारी बाधाएँ तोड़कर प्राण का सगीत गा रहा है।” (श्यामसुन्दर भट्टनाथ) वह “सधरों के उद्गम में आरम्भ हुआ है और आदरों के शगम तक उसे जाना है। वह अपना माया अभिमानों के आगे झुकाने को तैयार नहीं, वह तो स्नेह के लिए मिर कटा सकता है। सत्कृति के नगर से दूर जाकर वह भरमा नहीं चाहता। रक्ने से निर्माण नहीं होना।” (वीरेन्द्र मिश्र) वह “नहीं चाहता कि सत्य का सपना स्वप्न के सत्य के लिए टूट जाए। जरा दुनिया कुछ ऊँची उठ सके ऐसा सोटी का पत्थर उसे बनाना है। अपनी मजिल का

बीच में मात्र छोटा-सा है। मंदिर भी धड़ा का स्थान है, इतना आचोम है यह धर्म का प्रतिनिधि कि जीवन में समा-सा गया। उसमें दीप जल रहा है। दीप है मनुष्य की धर्म-ज्वला।

इस प्रकार मनुष्य ने जो कुछ विकास किया है वह ग्राम में चमत्कृत करनेवाला नहीं है, इतना पुराना है कि महज हों गया है। सृष्टि ही है मनुष्य का अपनी चेतना में विश्वास भी। तभी वह अपनी चेतना के आलोक में कहना है

जल रहे हो तुम युगों से रात तो फिर भी घबेरी
जल चुकीं शन कामनाएं शतम की पतिं घनेरी
प्रलय लम्भावात फिर भी ज्योति तो अबधीप तुममें
जगत में क्षण-क्षण मिटाए पर अटल विश्वास मन में
जल उठी तुम साधना में ही उठे मसार भानित
टक लगी रह जाय, पुलकें शत हृदय ओ' प्राण विगलित।
जगमयाओ दीप मेरे।

—कैलाश शर्मा

तुम्हारी ज्योति कभी नहीं बुझी। उसने अनेक विपत्तियां सहन की हैं, परंतु फिर भी ज्योति तो अबसिष्ट है। इसका कारण है मन का अटल विश्वास। यदि तुम साधना में लगकर अपने को उद्धारासित कर दो, सारे मसार में आलोक छा जाए। जो दुखी है वे भी पुनः उठें।

यह है मनुष्य का दीप।

दीप चेतना का प्रतिनिधि है।

चेतना मनुष्यनिर्मित मसार की मूर्ध्म आत्मा है।

उस मूर्ध्म आत्मा को मनुष्य का विश्वास कहना उचित है।

यदि हम यह स्वीकार नहीं करते तो यह समझ में ही नहीं आता कि दीप साहित्य में इतना प्रमुख कैसे हो उठा। पहले वानों में दीप की इनकी महत्ता क्यों नहीं मिलती। दीप क्योंकि एक प्रतीक है, जिसमें मनुष्य की बनाई सुंदरता नैर्मागिक सुंदरता के तादात्म्य में रहती है, इसीलिए दीप इस युग में इतना अधिक प्रभाव डालने योग्य हो गया है।

विजयत कहता है कि अन्त में कई परमाणु होने हैं। वे अतर्क्यत्वा लहर हैं। लहर के रूप में वे शक्ति हैं। शक्ति प्रकाश है। यानी धन में प्रकाश है। इस प्रकाश की ही अभिव्यक्ति हमें कई प्रकार में साहित्य में मिलती है।

इसमें हम दिनदिन जीवन में विभिन्न वापसियों में देगना ही अब उचित समझते हैं।

मध्या हो गई है। दीप जल चुके हैं। मनुष्य अंधकार की चुनौती में चुका है। यदि

या मंगल के गीत मुहुरगिन ! चौमुख दिप्ररा रात के !
 राज शरद की सांभ, अमा के इस जगमग रघौहार मे
 शोपावली जलाती फिरती नभ के तिमिरागार मे
 चली होड करने तू लेकिन भूल न—यह सत्तार है,
 भर जीवन की घाल दीप से रखना पांव संभाल के !

सम्मुख इच्छा बूला रही पीछे संयम-स्वर रोकते,
 धर्म - कर्म भी बायें-दायें दको देखकर टोकते,
 अग-जग की ये चार दिशाएं तम से धुंधली दीखतीं,
 चतुर्मुखी अलोक जला ले स्नेह सत्य का ढाल के !
 दीप-दीप भावों के मिलमिल और शिखाएं प्रीति की
 गति-मति के पथ पर चलना है ज्योति तिए नवरीति की,
 यह प्रकाश का पर्व अमर हो तम के दुर्गम देश मे,
 चमके मिट्टी की उजियानी नभ का कुहरा टाल के ।

—राजेन्द्रप्रसाद सिंह

यह कविता बहुत ही श्रेष्ठ रचना है जिसे बहुत ही अच्छी तरह गाया जा सकता है । प्रकाश का पर्व मनाने की घोषणा गूज उठती है और फिर आती है अद्भुत कल्पना-

यह सध्या एक शमा-सी है

दिन के पर जलते जाते हैं—

—शिवशंकर सिंह

और मनुष्य प्रेम को अब भी सर्वोच्च आसन देकर कहता है :
 किसी भक्त ने देव की धारती हित बड़े भाव से शीप मठ का जलाया
 डूर हट, यह नहीं अर्चना प्रेम की कूड ली मे शतभ ने यती को बूलाया
 प्रणय के नगर मे सफल प्रेमियों को जलन ही अघर और चुबन भोगारा ।

—शिवशंकर सिंह

उदात्ततम हो जाना आज भी मनुष्य की चेतना का एक लक्ष्य है । और इन्हे वह प्रकृति से निरन्तर सीम रहा है । तभी कवि-हृदय कहता है

अरर के आंगन मे जगते रहे सितारे रात - भर
 चुप-चुप इगित मे चदा ने निशि से निशि - भर रात की,
 आँखों मे आहुल शका यी आनेवाले प्रात की,
 रहे खिलते आँख - मिचीनी घन अजरारे रात - भर ।

मिट्टी मे मिल गई जवानी भोले-भाले फूलों की
 आँखों मे रह गई सितकती शीप अहानो पूल की

प्रस्तुत करता है कि उसे देखते ही बन पड़ता है। प्रायः ही नवि ने सब नयी कल्पनाएँ की हैं

प्रातः के पट पर किसी ने सूतिका से
घादतो के, तालिमा के श्री' क्षितिज के

आंक डालें चित्र

जैसे नाट्यशाता मे

किसीने दिये लटका नये पर्दे,

घोर सूरज ने किसी ऊँचे शिखर पर चढ़

कि अपनी आत्मजा उजली मुनहली घूप की

रप से उतारा

तथा किरनो की नसंनो,

घोट चंपा की कली के

खुल गये हैं नयन

जैसे नयी दुलहिन हरित शबल

श्री' हरी सलवार की करती सलवटें ठीक,

मुपड पाटल ने लगाई है मिठाई की दुवान

कि भूखे 'छनिक-श्रमिर्णों' की तरह दटे श्रमर

साधना मे तीन भावतन की तरह सूरजमुखी ने

प्रार्थ्य देने पगल बाहो को पसारा

सोस के कान पहिन कर परिधान सतरंगो-मनूठे

एन० सी० सी० के जवानो की तरह

फौजी सलामो दे रहे हैं प्रातः को।

—क-हेयानान चन्चरान

इसमे दैनिक जीवन मे देखे हुए चित्र हैं।

असल मे सब कवि ने "वेपने फाड दिए हैं जिनमे उसनी स्मृतिया सगृहीत थी।
घोबन क्योकि भागे देवता है इसीलिए वह हनभाय होनर रोना नहीं चाहता। उसे अपना
भविष्य प्रिय है, वह भस्तीन को नहीं चाहता। वह अपने पय पर बाधाओ से हो विजय-
गीन मुमना चाहता है।" (श्रीराम शर्मा प्रेम) "यह घरा स्वर्ग मुत्पुञ्जय स्वर्ग पा गई
है। सदियो के तिमिर को मानवता ने पार कर लिया है।" (गिरिजाकुमार भाषुर) "नये
स्वरो मे जवानिया जिजिनी बजा रही हैं। वे लहू मे तैर-नैरकर नहा रही हैं।" (दिनकर)

तयो एवदम नई भूमि को हमारे सामने पसार देना है तथा कवि

धरती मे गर्डा कर चिड़ियां घूस महार्तो,

घोर बुपेरो के उजाड को

जब - जब पवन सदेसा लावे
 दीये की लौ - सी बल खावे
 भाला दे - दे पास बुलावे
 उभक देल मैं जानूं मेरे
 आए राजकुमार !

देखूँ जगल में पटबिजना
 गगन बीच तारों का खिलना
 मैं जानूं यह केवल धलना,
 कौन कहे सचमुच आबगे
 मेरे राजकुमार !

×

घोज रही तन-मन की वाती
 दीये-सी ही रात तिराती
 जीती तो फिर रात जलाती
 कह भर देता कोई—मेरे
 आते राजकुमार !

—नरेन्द्र शर्मा

राजकुमार उसकी कल्पना का सुन्दर वाम्प है। इसीलिए कवि का हृदय उसका वरण करने को स्त्री की कोमलता का अनुभव कर उठता है और कहता है कि आयु समाप्त हो जाती है। सकल सृष्टि इस दीप की भाँति ही यत्न से अपने को घुताती रहती है। लोकगीत जैसी यह कविता उमग का परिचय देती है। प्रश्न उठता है क्या यह पलायन का विव नहीं देती ? मैं समझता हूँ नहीं। प्राचीन काल से ही मनुष्य अपने दार्शनिक चिंतन को सहज बनाने को लौकिक कार्यों में अवतरित करता रहा है। उसने पशु-पक्षियों तक को बातें करते दिखाया है। इसे उसने 'रति' में मयमे अधिक निकट से अनुभव किया है। उर्दू काव्य में तो साम्राज्यों के पतन भी प्रिया में विरह-निवेदन के रूप में प्रकट हुए हैं। यह तो एक कामना है कि व्यक्ति का पारत्रिक जीवन भी अपनी सात्वता पाता चले। कवि कहता है

दीप जल रहा गल-गलकर
 ले तेरा ही विश्वास सहारा
 कल ठुकराया जाता था
 पापान आज भगवान हो गया।

×

दृजं घास की बड़ा आड़ियाँ
 गोले के से घाव सोचते दह जाने की ।
 पंख और डाढ़ोवाले
 उन शेरों की घे शिला मूर्त्तियाँ
 पानी-भरे घान खेतों मे
 खड़ी हुई हैं देती पहरा,
 राजमदिरों के खम्भो पर बने हुए
 वे तेज दंत के उड़ते डूंगन
 रंग छोड़कर हाँफ रहे हैं
 बुद्धिया पागल जंसी सध
 हवाएँ चीख रही हैं रक्त सनी वे
 इन-सत्ता घूरो के ऊपर
 धुँए जला इतिहास खडा है
 ज्वालाओं के जिसके केश दिशा कर्षों पर
 जसी घास से लहर रहे हैं
 सदिषों के कोडो ने लौंवी रक्त मद्धियाँ
 महाकाश के नील फाँस पर
 महामनुज यह रपत सना
 बेहोश आज फिर जाग उठा है ।

—नरेश मेवता

हाथ घनी-गरीब ऐसे भेद रच डाले ।
 अहाँ नेह अभेद ऐसी एक बेला है ।
 जानता हूँ रात बीते प्रात होना है
 प्रात होते तेज से अस्तित्व खोना है ।

—मशहूरिप्रसाद तिवारी

हम एक और बड़े सत्य के पास पहुँचने के लिए जीवित हैं। वहाँ हमारी मान्यताएँ भी क्षुब्ध पड़ जायेंगी, किंतु तब तक का उनके द्वारा दिया साथ अपनी सार्थकता पूरी कर चुकेगा। वह उसको लोकहित में सर्वत्र चाहता है।

द्वार-द्वार पर अमन्द यह दिया जले
 मुक्त द्वार ही न बन्द यह दिया जले ।
 सत्य बन अस्तत् प्रवाह मे,
 अन् प्रकाश तिमिर राह मे
 अमृतधार—मृत्युदाह मे,
 नव-नव रस रूप गंध स्पर्श शब्द ले
 प्राण-प्राण बीच यह अमर प्रभा जले !

×

सम की दीवार तोड़कर,
 अंध दुनिवार तोड़कर
 मुक्त ज्योति की उठे सहर
 गृह अन् गिरि सिंधु धार मे गगन तले
 देशकाल से अखण्ड यह दिया जले !

—रामभूनाथ सिंह

यह दीपक प्रकाश और सकल लोक में प्रज्वलित होकर रहे। इसलिए कवि-हृदय इतनी भी स्पर्धा करता है कि प्रकाश के लिए भोख भी नहीं चाहता। स्वयं पर ही जो विश्वास है

मुझे राह मे रोशनी मत दिखाना
 मे अयना ही दीपक जलताओ चलंगी ।
 किधर मेरी मजिल किधर है किनारा
 नहीं मुझको लेना किसीसे सहारा
 तड़प कर मेरे दिल ने मुझको पुकारा
 बताया है चुपके से मुझको इशारा

तिव्यक्त तक आते-जाते
वे गौरी, उजली, साल—

—नरेश मेहता

एक के बाद एक आपको एक नयापन मिलता चला जाता है। यह सब है कि प्रति से चमत्कार भी जन्म ले सकता है, किंतु वह सब होता है, जब कवि के पास कोई उदात्त संदेश नहीं होता। यहाँ वह है और पूर्ण जागरित है। उसे मानवता में प्यार है। प्रकृति उसके लिए मानव की चेतना को परिष्कृत करनेवाली है। वह सकल भूमा को एक मानकर रहता है

मुझे पृथिवीवासियो।
माता हमारी, महापृथ्वी
अग्नि है, धन-धान्य है,
रूपायनी सघर्षशीला है

यह लड़ी थी तिघ् घो' धाकाश से
रूप पाने के लिये

इसलिये संघर्ष

जन की शक्ति है

हैं चरण, मस्तक और भुजाएं

'साम्यवादी' काल में

और जन का शत्रु वह

कीटाणुओं के बम गिराता है

अगुर है, बूझ है,

धूल इसके बसन हैं, मृत्यु इसका भाग्य ही है

हम विधाता भाग्य के इसके

पृथ्वीकृत हैं, अमिक हैं

और यह जन-शत्रु है।

—नरेश मेहता

सत् और समन् के मर्षण के रूप में कवि ने लोक को दो वर्गों में बाटा है। परंतु वर्गों के विभाजन से भी बढकर हे महा उसका पृथ्वी के निवासियों को एक करने का प्रयत्न, जिसमें वह मधुमन्त जीवन की कल्पना करता है।

अथ 'कल्पना होती जा रही है और जिदगी पास आती जा रही है। डगमगाती जा रही है वह। केवल प्रणय नहीं, साथ में संघर्ष भी चाहिए क्योंकि तूफान चादनी से नहीं पतते। पहले कभी उसका स्वप्न से संघर्ष था, किंतु तब वह मड था और वह बात

फिर उसमें दिव्यवायु जागता है और इस प्रकार सामाजिक कुरीति भी उसी चेतना का रूप आकर ग्रहण करती है। दीप हमारे सामने फिर धाना है, क्योंकि वह प्रवृत्ति की असत्य ज्योति का प्रतीक जो है। उसका आदर्श बनाकर मानव से अपने कष्टों को भूल लेने का एक साधन बना लिया है

मैं न बुझूँगी, अमर दीप की ज्वाला हूँ, बाता हूँ,
 पल-भर किसी कण्ट से लपकर घिन्न हुई माता हूँ,
 प्रखर धार में पड़ी तरौ हूँ टूट गई पतवार,
 मैं जाग्रतु भारत की विधवा, कुम्भित अति की धार।
 चिता भूमि की कुसुमित लतिका, लज्जित सौरभ भार वृषा।
 किसे मुनाऊँ करण क्या ?

—जानकीवल्लभ शास्त्री

यह दीपक जब बुझ जाता है तब वह कवि को कोई प्रेरणा नहीं देता। केवल जड़ भौतिक में उसे सात्वता नहीं होती। सम्यक्ता यदि निष्प्राण है तो वह सत्त्वति का निर्माण करने में असमर्थ है। अतः वह त्याग्य है। प्रकृति का वही रूप मानव को पसंद है जो उसे धागे का मार्ग दिखा सके, सब अवयवों में उसके हृदय को एक शक्ति दे सके

यह बुझा दीपक, धिनौना मृत्तिका का पात्र।
 दाघ उर में रह गई है स्नेह की दो चार बूँदें मात्र।
 रात्रि-भर जलकर किया पय का अधेरा दूर
 धूम्र बनकर इसीपर अब छा गया वह क्रूर
 भिक्षुकी के टोकरे-स्ता हो गया यह दीन
 सतम-नभ-सा करण काले बादलों में सीन
 बूझ चुकी है प्राण-दाती चेतना इसमें नहीं झणु मात्र !

—वेङ्कटरघय काक

किंतु क्या इसका जीवन व्यर्थ चला गया? नहीं। कवि यह भी कह जाता है कि इसके कार्य को स्नेह दो, इसकी जड़ता को नहीं, क्योंकि अब यह काम नहीं छा सकता। यह दीप हमारी वेदना से जल रहा है। कवि कहता है

हमारी व्यथा की जलन से
 दिया की शिखा जल रही है।

×

हमारी चिता को लपट से
 अमा की निशा चल रही है।
 पिघल दल रहे नमं अरमा हृदय के

के लिए तो कुछ नये पग उठाने ही होंगे।" (महेन्द्र जोशी)

"चारों ओर खडित मान्यताएँ हैं। रुडिया चीन की दीवार की तरह फैली है। विज्ञान के अनुसन्धान, नये आविष्कार, गर्वोन्मत्त। जगत् की छन पामीर को चुनौती दे रहे हैं।" (महेन्द्र भटनागर)

इसलिए नया कवि रात के टलान में दूसरा ही सौंदर्य देखना है, क्योंकि इस समय वह दुःख से व्यग्य पर उतर आया है

इस सुबह के चाँद की मृदु चाँदनी में
चल दिये टट्टू लिए टूटे हुए इरके
(रथों के रूप बिगड़े)

सब पुराने कर्मयोगी
सिर घुटाकर आज उनमें हैं सुशोभित।
वे कुचलकर भी पुराने देवगृह को
जाएँगे वन्दन बनाने
क्योंकि सुंदर पर्व यह वरदान है भगवान का।

×

आज ऊँची चिमनियाँ भी
धूम्र उगलेंगी अगर, लोहवान का
आज मन्दिर की किर्जा में
ऊदबत्ती की महक
चन्दन सुगंधित व्याप्त होगी
और पाटल गध से अभिसिञ्चत जल की
ध्रुव वहाँ बरसात होगी।
क्यों सुनें वे दबें की आवाज तेरी
स्वस्तिवाचन के क्षणों में ?

—हरिव्यास

आज का कवि "एक बार जी रहा है, एक बार मर रहा है, वह अपनी जान का सोदा एक बार कर रहा है। इसलिए अपनी जवानी के चिराग का एक बार तूफान में धर रहा है। कल वाली रात चीखकर सवेर आया। मितारों के देस से उमका सूरज आया। वह सोने की जवानिया साथ में लाएगा, वह अपने साथ फूलों की कहानिया लाएगा। इसीलिए वह इस रात की खामोशी और सुनमान में, मितारों के मवान धाममान में एक बार गीतों की रागिनी भर रहा है।" (गोपालमिह नेपाली) "अस्वत्य आज भी खड़ा है। मन स्थिर होता है, धम मिट जाता है, माया टट जाती है। अस्वत्य के तले किमकीज्ञान

तो भूखी शृंगार - भावना
दीवाली त्योहार मनाती।

—विद्यावती कविल

अधकार को मिटाकर घर-घर आनंद होता, तब ही शृंगार की भूखी भावना दीवाली का त्योहार मनाती। अन्यथा आनंद मिले भी कैसे ? दूसरे पक्ष में जब परमात्म वेला का स्पर्श होता है तब मनुष्य सर्वात्म के आलोक पर न्योछावर होना भी श्रेयस्कर समझता है

तुम दीपक हो, मैं लघु पत्रंग,
हे देव ! तुम्हारे जलने में ही कर्मयोग की मूढ उमय।
तुम जलते मिलती उजियाली, मैं जलता होती भ्रंशियाली,
पायल प्राणी मैं कहलाया, प्रभु ! जला तुम्हारे सग-सग !

—तारा शायदे

कितनी करुणा से मनुष्य कहता है कि उसे अपनी सत्ता, अपनी वासना और अहं की इतनी रबीकृति नहीं चाहिए, जितनी झाकी कि उसकी वेदना पहचान ली जाए। यह अपनी वेदना को बहुत प्यार करता है

देव मुझको भूलकर इन श्रांतियों को जान पाते।

—तारा शायदे

करुणा अपने आघल में न जाने कितने सुख-स्वप्न लिए आती है। सुख-दुःख के दोनों पक्ष उसमें अतनिहित होने हैं। वह आनंद हो, या वेदना, दोनों में ही एक-सा सान्निध्य प्राप्त करने का इच्छुक बना रहता है। जलना और बुझना एक आनंद भी देते हैं। अपने 'प्रथम मिलन' में कवि अपने स्नेह की अभिव्यक्ति के लिए भी इसी समर्पण की शब्दावली का प्रयोग करके बहता है

दिये को तजा कर बुलाया गया है

शलभ मूस्करा कर बुलाया गया है—

—रामकुमार बंधेंद्री

प्रेमी का इस प्रकार बुलाना और फिर दीप को बुझा देना—दीप यानी कुतूहल का रूप।

प्रेम की प्रतीक्षा भी इसी प्रकार आज अभिव्यक्ति पाती है, और वह इतनी गूढ़ है कि उसे हम दर्शन की यहूराइया अपने में समेटे देखते हैं।

'जुगनू' में बच्चन ने इन दोनों भावों को मिला दिया है। अनंत विस्तार में वह प्रकार का एक कण उसके लिए अस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। कवि कहता है

शंभेरी रात में दीपक जलाए शौन बंठा है ?

नया विषय है, तभी उसके विषय की कविता भी नयी है। वह एक दीप है। दीप ने
 आलोक है। वह आलोक है, दिया नहीं। आलोक सर्वत्र पूज्य है, अतः मानव पूज्य है।
 एक कवि कहता है कि वह आलोक कभी बुभुता नहीं

बुभुते न दीप की शिला अनन्त मे समा गई।

अमन्द ज्योति प्राण - प्राण बोध जगमगा गई।

अकम्प ज्योति - स्तम्भ वह पुर्य बना

कि जड प्रकृति बनी विकारा चेतना

न सत्य बीज मृत्तिका छिपा सकी

उगी, बड़ी, फली ग्रहण कल्पना,

न धैर्य सका असत् प्रमाद पाश मे प्रकाश तन

विमुक्त सत् प्रभा दिग्गत बोध मुक्करा गई।

मरा न कामरूप कवि बना अमर

कि कोटि - कोटि कण्ठ मे हुआ मुखर

मिटा न काल का प्रवाह बन घिरा

असीम अन्तरिक्ष मे अनन्त स्वर

न मन्त्र स्वर अमून सेभाल मृण्मयी धरा सकी,

त्रिकाल रागिनी अनन्त सृष्टि बोध द्या गई।

×

जिने न पाश तन बना, न छू सका मरण घरण

विराट चेतना ग्रहण बन स्वरूप पा गई

बुभुते न दीप की शिवा, असीम मे समा गई।

श्रीर आशा अपने प्रिय को पहचान गई है। उसके लिए मारा जीवन एक धारा के समान बहने को तत्पर हो गया है। वह धारा ऐसी है जिसका पथ कोई नहीं रोक सकता।

आशा का दीप जला है पाकर अब मृदुल इशारा
छूने चरण हृदय बन, मैं बहती हूँ बन धारा।
उन्मत्त हृदय ने यथन अब तोड़ दिये हैं सारे,
अब छिप न सकोगे तुम भी 'मेरी आँखों के तारे।'।
यह छूट चुकी है कुटिया, वह छूट गई फूलवारी,
यों जहाँ बहुत-सी कलियाँ मुझपर धारी-बलिहारी।
यों जहाँ कोकिला गाती मृदु गाया प्यारी-प्यारी
बहती थी निकट कुटी के गिरिवाला शुक्ति सुकुमारों।
थो कल-कल, छल-छल, अविरल, चलती बल खाती धारा,
गाती थी, इठलाती थी, जाती थी चूम किनारा।
मिल मिलन सलिल अवनी का जिसमें हो जाता निर्मल,
या नहीं कलकित छल से वह दुग्ध-धवल शुचि अचल।

X

जैसे पर्वत भी जिसका पथ रोक नहीं पाते थे
उस पानी की धारा से कट रज-कण धन जाते थे।

—हरिद्वय प्रेमी

परतु विनाश बहने ही विकराल सत्य है। वह भी अघकार ही है। उसके सामने किसीकी नहीं चलती। प्रकृति के कार्य-व्यापार में मनुष्य की पीड़ा का मूल्य कुछ भी नहीं है। कर्म और पुनर्जन्म के विचार इसी प्राकृतिक निर्ममता के लिए व्याख्यास्वरूप थे। आज का कवि मानता नहीं इने पूर्णतः। अतः मानव की सत्ता की लघुता उसे बहुत अधिक कचोटने लगती है। कवि कहना है

झरो पगलौ ! न धन के राज में आँसू पहुँचता है
झरो पगलौ, व्यर्थ ही प्रीति का पभी कुहुक्ता है
जिसीके प्यार का दीपक जला, जलकर बुझा जग में
जला दे देह का दीपक किसीके प्यार के पग में
युगों से टूटते जलते गगन में चाँद के दीपक।
अतुल अखसाद के दीपक।

—सुनीलशरय मित्र

एक ही सादरता है। यह जीवन प्यार के हिन दीप-सा जले, वस यही काफी है। धाकार का अद्रमा भी न जाने कितनी धार जसकर बुझ चुका है। इससे भी अधिक

है। यह है वह मानव की अतीन्द्रिय चेतना जो माटी में से उजागर हो उठी है। कवि उसका वर्णन करता है

इस मिट्टी के दीप, चेतना की बत्ती को, स्नेह मिला जब
कहा विरोधी तत्त्वों ने, बस और चाहिए एक जलन अब!
तुमने लपटों की उँगली से मेरा स्नेह-दीप जब धाला।
सहसा ज्योति जनी अन्तर में अन्धकार बन गया उजाला।

×

भाँधी छाई, पानी बरसा, रात धूल ढँक-ढँककर हारी
पर न बुझी उल्टी भडकी ही, मूल शक्ति-सी यह चिनगारी!

—शिवमण्डलमिंह सुमन

यह दीप केवल स्नेह के बल पर जीवित रहता है। किन्तु उसे विरोधी तत्त्वों ने जलन भी दे दी है। यह मूल शक्ति की चिनगारी है। यह व्यक्ति में भी है, समाज में भी। यह युग में है। युग हमारा एक नया पात्र है।

युग और दीप दोनों परस्पर एक-दूसरे के लिए लालायित-से हमें नयी कविता में दिखाई देते हैं। युग जिस चेतना का अमूर्त व्यक्तिगत चेतन है, दीप उसीकी सुदरता की अभिव्यक्ति है। मनुष्य का निर्माण ही इस समस्त के मूल में है। पहले का मनुष्य अपनी निर्माण-शक्ति पर गर्व नहीं करता था। आज का मनुष्य करता है। आज उसे अपनी सामर्थ्य के प्रति एक विस्वास-सा हो चला है। पुराना व्यक्ति प्रलय को स्वीकार कर चुका था, नया मनुष्य विनाश-ब्राल समीप आता जानकर इस पृथ्वी ग्रह को छोड़कर महाशून्य में निवृत्त जाने की योजना बना रहा है। तभी उसमें गतिरोध पैदा हुआ है। सामर्थ्य से पूर्व ही उसका मन भागे बड़ गया है। वह महानाश को बंदी कर देना चाहता है, क्योंकि उसे लग रहा है कि वह मजिल के बहुत पास आ चुका है

युग के घुघमारे मंदिर में
फिर से रंगों के दीप जले।

तो ये उजियाले के घेरे
फिर आत्मान की ओर चले।

हम थोड़े बंदी कर भागे
उस महानाश की छाँह श्याम,
चलकर भागे हैं धीन-पथ—
इस युग के बूढ़ निष्कप चरण—
ध्रुव दूर नहीं मजिल विराप

×

जो अपना है, जो अपने थम और स्नेह का आधार लेकर चलता है। उसे हम बुझने से बचा सकते हैं। और वह हमारा सबल बन सकता है।

विश्वास के बिना कुछ नहीं हो सकता। पत्थर के दिल में जाग्रति का पाठ पढ़ा जा सकता है। किंतु जब विश्वास ठाढ़ा होता है, वह पहली ही मजिल में डिग जाता है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। जो है सो यही है। इसका ही अन्त अभी तक कोई नहीं जान सका है। पावो में ममता का बन्धन और सिर पर विधोष का भार, दोनों इधर ही सघ सकते हैं।

यहा कवि अपनी व्यष्टि और समष्टि दोनों का मिलावट करके देखता है और वह अपने द्वन्द्व से निकलने का प्रयत्न करता है। वह कहता है

लेकर प्रलय विश्वास अरे !

उस दिन जब पत्थर के दिल में

मैंने जाग्रति का पाठ पढ़ा

सोनेधातु की महफिल में

‘भेदन करना है अन्धकार !’

तब पागल - सा मैं बोल उठा।

कब सोचा था, डिग जाऊंगा

मैं बस पहली ही मजिल में ?

उस पार ! अरे उस पार कहां

है अन्तहीन इस पार प्रिये,

पंरो में ममता का बन्धन

सिर पर विधोष का भार प्रिये।

—भगवतीचरण वर्मा

‘प्रिये’ का युग भी एक विद्रोह बनकर ही साहित्य में आया था। इस देश में पति भी पत्नी का मुह दिन में नहीं देख पाना था। उपयोगितावादियों और विशुद्धतावादियों ने स्त्री के प्रति दुरूह बन्धन बाध दिए थे। वह समय चला गया। नया कवि और आगे आ गया। वह कहता है—“जहा उस पार उर्दाघ और आकाश दृष्टि में एकाकार-से लगते हैं, उज्ज्वलता का विह्वल अरुणमा के पंखों को खोल अनरिक्त के श्याम निरुजो में दिग्भ्रम जा रहा है। अपने गीतों में आकाश बाध लो। भूगोल बाध लो। गीत का लक्ष्य, प्रीति का मिलन है। इसलिए रवि से भी कवि दिव्य है।” (पोद्दार श्री रामावतार अरण्य)

कवि ने अपना दायित्व समझ लिया और वह सकुचित प्रेम से व्यापक प्रेम पर आ गया। इसका यह अर्थ नहीं कि ‘प्रिया’ के प्रति लिखना कोई पाप है या कोई अपमानजनक बात है। किंतु केवल वामना की तृप्ति या शरीर विरह की सकुचित कंचांट श्रेय-

भोग-लिप्ता आज भी सहारा रही उद्दाम
 वह रही असहाय नर की भावना निष्काम,
 भोक्तृ हो अथवा युधिष्ठिर, या कि हों भगवान
 बुद्ध हो कि अशोक, गांधी हो कि ईशु महान,
 सिर झुका सबकी, सभीको ध्येष्ठ निज से मान,
 मात्र - वाचिक ही उन्हें देता हुआ सम्मान,
 दाध कर पर की, स्वयं भी भोगता दुख-दाह
 जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह ।
 अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान
 खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान
 शील से सुलभा न सकना घ्रापसी व्यवहार
 दौड़ना रह-रह उठा उन्माद की तलवार
 द्रोह से अब भी वही अनुराग
 प्राण में अब भी वही फूकार भरता नाग ।

—दिनकर

कब घाएगा वह दिन, जब कुछ व्यक्ति ही नहीं, सारे ससार में मन के भीतर
 उजियाला फलेगा । उसकी सत्कृति वास्तव में जागेगी ? कब वह महान ज्योति में अपनी
 ज्योति मिलाने के योग्य हो जाएगा । उसने जो चेतन प्रतीक बनाए है, उनके प्रति कुछ
 ही वनिदानी क्यों सब कुछ त्यागते हैं । क्यों नहीं सारा लोक ही सन्नद्ध हो जाता । क्या
 ऐसा ही जाने पर मनुष्य का अपार कल्याण समीपतम नहीं आ जाएगा ? दिनकर ने
 बहुत महारा प्रश्न उठाया है । इसका अब तक केवल यही उत्तर मिल सका है

धमा की निशा में, मधुर स्नेह दीपक जले, छा गया पथ पर नव उजैला !

विहंसती दिशाएँ लुप्तों के दिशों से
 सरसती दिशाएँ नई रश्मियों से
 कहीं भी नहीं नाम है शेष तम का—
 कहीं भी नहीं नाम है शेष तम का—

नई भावना से भरा आज जीवन, धरा पर सरस हास का मुग्ध मेला !

लिये हाथ में भारती भव्य बीणा
 रही या युगो बाद फिर से प्रवीणा
 सुहाने स्वरों से महा मीन मुखरित
 सुहाने स्वरों से धिजन-बीन भ्रूत

नई कामना से भरे प्राण तन-मन रहा अब न पथी इगार पर शकेला !

आकाश हंस उठा। दिशाएँ मुस्करा दी। कली, कुसुमकोपल दल उद्यान में साकार काम छा गया। नदी की जबानी जलन बुझा रही है, गगन बरस रहा है। नर के लिए यह मंत्र सृष्टि जीवन है। सर्भा से उभे प्राण का धन मिल रहा है। फूलों से ही नर मुस्कराना सीख-कर हार को विजय में बदल रहा है।" (उदयशंकर भट्ट)

मनुष्य की मुन्दरता मनुष्य के लिए सबसे अधिक आकर्षक है। विस्मय और अवाक् करनेवाला बोधन मनुष्य के व्यवहार में सबसे अधिक दिखाई देता है।

दिनकर ने इसे भी अपनी इसी प्रसिद्ध कविता में दिखाया है। बाद में 'कालिंग विजय' में हमें चेतना का प्रसार मिलता है। जब मन की आँख खुल जाती है, तब चेतना अपनी पाँखें खोल देती है

खुल गई है शुभ्र मन की आँख
खुल गई है चेतना की पाँख
प्राण की अत शिला पर आज पहली बार
जागकर करुणा उठी है कर मृदुल भनकार।
आँसुओं में गल रहे हैं प्राण
खिल रहा मन में कमल अम्लान।
गिर गया हृत्बुद्धि-सा यककर पुरुष दुर्जय
प्राण से निकली अनामय नारि एक अमेय
अर्थ - नारीश्वर अशोक महीप;
नरपराजित, नारि सजती है विजय का दीप।
पायलो की सुन मृदुल भनकार
गिर गई कर से स्वयं तलवार
घञ्ज का उर हो गया वो हूक
जग उठी कोई हृदय में हूक।

विजय का दुर्जय अहं मानवी ज्योति से दब जाता है और धर्म-नारीश्वर हो जाता है। यह व्यङ्गि-पूर्णत्व का रूप, हृदय में जिसके अम्लान कमल खिलता है। ऐसी कविताएँ सचमुच बहुत कम लिखी जाती हैं। कवि फिर अभय देता है

शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्मवत् सत्तार
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सक्कूँ कर प्यार।
मिट नहीं जाए किसीका चरण-चिह्न पुनीत
राह में भी मैं चलूँ पग-पग सजग-सभीत।
हो नहीं मुझको किसी पर रोष
धर्म का गूँजे जगत में घोष !

ऐसा है, जिसकी प्यास नहीं बुझती, काया समाप्त हो जाती है। क्या यह व्यक्ति ही है, या मनुष्य !

यह तो मनुष्य है। व्यवस्थाएँ इसको मृगणा को नहीं रोक सकतीं। यह समाज में रहता है। यह को इमे काटना पड़ता है सोक के कल्याण के लिए। यह कल्याण है उसके यह का परिमाजित और उदात्तरूप। कवि कहता है

गीत का शोषक संजो दो दीप्त जागृति के स्वरो से ।

उद-जलद-पट पर तिलो फिर दामिनी के भ्रमरो से ।

युगों के भ्रमसाद मे आह्लाद-जल-उत्पल तिला दो

बहुत दिन बिचुडे रहे जो खिन्न बहिरन्तर मिला दो ।

किरण-कलियों की करो बरसात फिर मधुराधरो से ।

कल्पना कलहसिनी फिर खोलकर उन्मुक्कन बिहरे ।

कर परस मधु धृद का फिर आप्तक अनुभूति मिहरे ।

फिर भरें नहों कुहारों चेतना के निर्भरों से ।

प्रतिनिधि है, वह समष्टि की चेतना का प्रतीक है। इसके साथ ही प्रकृति के बाह्य रूप भी इसी 'पात्र' के अंतर्बाहिर के साथ ही उपस्थित हुए हैं। अतः दुरुहता उन्हें ही सताती है, जो इसे पुराने मानदण्डों को बदले बिना ही बिठा लेना चाहते हैं। मैं अद्यापक वर्ग की बात तो कह ही क्यों, जो कि कोर्स में आने पर ही नया साहित्य पढ़ते हैं।

अतीत के प्रति तो नये कवि ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बहुत ही सुन्दर कहा है जो हम यहा देखना चाहते हैं। नये कवि ने अपनी साधना को सामने करके कहा है

'जय हो !' खोलो अजिर द्वार मेरे अतीत ओ अभिमानी !
बाहर छडी लिये नीराजन कब से भावों की रानी !
बहुत बार भग्नावशेष पर प्रक्षत फूल बिलोर चुकी
खंडहर मे आरती जलाकर रो रो तुमको टेर चुकी !
वर्तमान का आज निमंत्रण देह धरो, आगे आओ
ग्रहण करो आकार देवता ! यह पूजा-प्रसाद पाओ।
शिक्षा नहीं, चंतन्यमूर्ति पर तिलक लगाने में आई
वर्तमान की समर-वृत्तिका तुम्हें जगाने में आई।

कह दो उनसे जगा, कि उनकी

ध्वजा धूल में सोती है

सिंहासन है शून्य, तिष्ठि

उनकी, विधवा-सी रोती है

अर्पा सकल युद्धि ने पाई हृदय मनुज का भूला है
बड़ी सभ्यता बहुत, किंतु अत सर अब तरू सूखा है

×

जग मे भीषण अन्धकार है जगो तिमिर-नाशक जागो
जगो मश्रष्टा, जगती के गौरव, गुरु, शासक, जागो !
जय हो खोलो द्वार अमृत रो, हे जग के पहले जानो
यह कोलाहल शमित करेगी किसी युद्ध को ही वाणी !

—दिनकर

सचमुच इतना दर्शन, चिंतन, विवेचन करके भी अतीत में मानव की समस्या नहीं सुलभी है। मैं यह नहीं कहूंगा कि आज के लोगों ने उसे सुलभा दिया है, क्योंकि इस वाक्य की लिखने का समय मेरे देखते ही देखते अतीत हुआ जा रहा है। परन्तु इतना अवश्य मुझे कहना है कि युग बदलते हैं। जिस प्रकार भक्तिकाव्य और रीतिकान्य को एक ही मानदण्ड से नहीं धरना जा सकता, उसी प्रकार आज की कविता के लिए आज की परिस्थितिया भी देखनी आवश्यक हैं। केवल राजनीतिक घटनाओं को देख लेना ही

मे मानव भटक रहा है।" (बच्चन) किंतु उसके सामने आज तूफान है

लहराता तूफानी सागर
 अक्षय निधि वारापार नहीं
 इसका कोई आकार नहीं
 इस पार बिनारा यह इसका
 उस पार कहीं टकता जाकर
 छोटे नद-नदियों से हारा
 हो गषा एदन से जल खारा
 जल भरने पहां नहीं आती
 वह नवल सलोनी है गागर
 आकाश चूमने को जाता
 पर जल्दी लौट तभी आता
 खारे पानी को छूते ही
 गल जायें न तारे घबराकर

—देवराज दिनेश

"कभी जब कविता बन में रहती थी तब कवि दर्शन में डूबे रहने थे। फिर वे सामंती सुरासुन्दरी में फस गए। भक्ति की लहर के बाद शृंगार की व्यभिचार-भरी उन्मत्तता आई। फिर कवि स्वप्नो में डूब गया। परंतु बन में आग लग गई। तब वह बस्ती में आ गया। और कवि की जीभ पर जहर उतर आया, क्योंकि बस्ती में आग लगी हुई थी।" (तेजनारायण काक) अब "प्रेम की मदिरा को गगाजल माननेवाला, धर्म का उपहास करनेवाला, सौंदर्य में डूबा हुआ कवि, जो स्वयं ही साकी और स्वयं ही पीनेवाला था।" (बच्चन) "हर कदम पर जीवन की चुनौती देखने लगा। अंतिम मजिज से वही नहीं दीखती। केवल धूमिलताय तन में विश्वास बचा रहा। सितारों ने आशा का एक भी संदेश नहीं दिया। प्रकृति ने पथ में एक नौ मगल साधुन नहीं किया। अब उसे उस पार का भी भय नहीं रहा। मृत्यु-पथ पर वह बढ चला निर्भय। वह तो किसीके हाथ का साधन-मात्र था। मरने उसके द्वारा केवल सृष्टि की कोई भाग पूरी हो रही थी। आत्मान की भुजाओं में रजनी भिन्न गई और निरपम रूपहारा चाद शीत पर टिक गया। उसने बार-बार अपना प्यार दिया।" (बच्चन) "ज्ञानी ने मानस-मथन करके इस ससृष्टि को मृगमरीचिका माया कहा, समाधिरत साधक योगी ने इसे भोग-ध्याया। वे सब जीवन्त से भाग गए। प्रेमी ही मरण के आगे चल सका।" (सुधीन्द्र) "धूल में मिलने से डर हट गया, क्योंकि फिर दीपक बनने की सम्भावना जाय गई। अगले जन्म में दीप बनकर शहर में जलने की कामना ने उसे नया विश्वास दे दिया।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

भाटी का विकास हुआ है इस युग के काव्य में। इसे किस नाम से पुकारा जाए? मैं इसे मानव-युग ही कह सकता हूँ। किन्तु इतना समुचित क्यों बने यह हृदय कि इस छोटे-से काल-खण्ड को भी एक नाम दिया जाए? अभी तो इस सघर्ष के खड-काल से एक उत्कर्ष माने को है, जिसके लक्षण घुरे नहीं हैं, बल्कि आशाप्रव हो दिखाई दे रहे हैं। बादो के गहित नामों में कविता को साटना कवि का अग्रमन करना है। संस्कृति का नाश करना है। यह तो आचार्य दुनल ही का काम था कि तुलसी का काव्य देखकर, हृदयराम जैसे टुटपूजिए को जोड़कर वे 'राममन्त्रि शाला' को बसा गए। हमें संस्कृति का नया मगन करना है

ये रहिये हैं आधार सभ्यता संस्कृति के
 आदिम-युग से जो ले आए हैं एतम तक
 इस दुनिया का कारवाँ अमर
 ये हके नहीं पय के ऊपर
 मिट्टी को विकसित कर लाए
 घाने घाले जन-युग के सुन्दर फूलों में।
 ये शक्तिमान जनता की बाँहों के प्रतीक
 उन कृते, भारी हाथों के गतिमान चित्र
 जो रूप दे रहे हैं जग को,
 कर रहे मूर्त मन के सपने,
 लेते हैं स्वर्ग उतार विचारों के नभ से।

—गिरिजाबुनार भाणुर

स्वर्ग विचारों के नभ से उतर रहा है। ह्य आदिम युग से एतम युग तक चल-कर आ गए हैं। मिट्टी को विकसित करके लाए हैं। भविष्य में बननेवाले जन-युग के सुन्दर फूल के रूप में। अग का भी यौदय जागा है, जिसके कारण प्रत्येक सर्जन से हमें प्रेम है।

विश्व भले ही इसे वासना कह ले, किन्तु नये युग का सूत्रपात करनेवाला मानव जातवा है कि उसीने यह वाता की है। वह जानता है कि "सृष्टि के आरम्भ में उसने उषा के गाल चूमे थे। वालरकि के भाग्यवाने दीप्त बिजाल भाल को चूमा था। प्रथम सन्ध्या के अरण्य दृष उसीने चूमकर सुलाए थे, तारों की कलियों से मुग्धजित नव-निशा के धाम चूमे थे। सबसे पहले उसीके होठों ने वायु के रसमय अक्षर छुए थे। वह भाटी की पुत्रलियो से हो क्या अभिसार करे?" (बचवत)

यह भाटी को पुत्रली मध्यकावीन वासना है। नये कवि की वासना उससे ऊपर उठ चुकी है, इसलिए वह रताप्य है। वह सर्वत्र ही मूसम हो गया है। क्योंकि वह सर्वांगीण रूप में सुगन्धित होना चाहता है।

“यह मनुष्य सनत जीवधार का एक तथ्य है।” (मुधीन्द्र) “अध्वर का अधिवासी तो उसकी प्रकार मुनकर नहीं बोलता।” (आरमीप्रसाद सिंह)

“एक चिरण के लिए जीवन का जलजात विकल है।” (जितेन्द्रकुमार) वित्तु “इस धरती में स्वर्ग है, मिट्टी में अमृत तहवर का मूल है। यह जीवन विरह का जलजात है।” (हसकुमार निवारी) “तन्मय हो प्राण लो फिर विरह-दोह कुछ नहीं रहता।” (शकुतला रेणु)

नया कवि इसी चिंतन में जब समाज की घोर देखता है तो वह अपने भीतर के परिवर्तन को वहा भी उतार लाना चाहता है। वह कह उठता है

तमाम नींव छुद चुकी, तमाम भोति गिर चुकी
समाज जोषं-शोषं आतिरो उसांस भर रहा
परम्परा विगड चुकी, घतीत-रीति सड चुकी
सद्दा-गता समाज-कोड फूट-फूट गिर रहा।
बदल रहा जहान है, उदय नया विहान है
नवीन अतिरिक्त में नया विहग विचर रहा।
अतीत भोति तोड़ता, नया प्रवाह भोड़ता
सजग सतकं इन्किलाव विश्व में नितर रहा।
मशाल भित्तमिला उठी, कि रुडि तितमिना उठी
प्रगाड अन्धकार-भुवित का चमक निखर रहा।
नया गगन, नयी घरा, समूत नव परम्परा
नयी विशा, नयी उपा, समुड नव सहर रहा।
प्रकाशरुप भविष्य है, सजग सजल मनुष्य है
उठ भूजा सतवत-भाज शयनाद कर रहा।

—धनश्याम भट्टाना

प्रकृति का आड वह नया रूप देख रहा है। सब कुछ बदल देना चाहता है। अपने सबल योग्य का उसे इतना विश्वास हो गया है। वह जानता है कि “राज को मूरज नहीं उगता, पत्थरो पर फूल नहीं बिल सड़ते। रेल से प्याम नहीं बुझती। मुदं गा नहीं सड़ते। वित्तु वह सारी बाधाएँ तोड़कर प्राण का सगीन गा रहा है।” (श्यामसुन्दर मशान) वह “सधरों के उद्गम में आरम्भ हुआ है और आदर्शों के सगम तक उसे जाना है। वह अपना माया अभिमानों के आगे भुजाने को तैयार नहीं, वह तो स्नेह के लिए मिर बटा सकता है। सस्त्रुनि के नगर से दूर जाकर वह मरना नहीं चाहता। रकने से निर्माण नहीं होता।” (वीरेन्द्र मिश्र) वह “नहीं चाहता कि सत्य का सपना स्वप्न के सत्य के लिए टूट जाए। उरा दुनिया बुद्ध ऊची उठ सके ऐसा सीटी का पत्थर उसे बनाना है। अपनी मज्जित का

मं देख रहा यह मानवता कितनी नियंत्रित कितनी अनित्य !

मं जग को मुक्त देनेवाले जग के ऋद्धन को देख रहा !

—भगवतीचरण वर्मा

जितु कवि पूर्णतया पराजित नहीं है। वह बहता है—“साथी ! उसे भी देख, जो भीतर अंगार भरा है। जमी को एक तेरी आग का ही आधार है।” (दिनकर)

विषमता का कारण है धन। वह कहीं अधिक है वही उमका अभाव है। अभाव में दारिद्र्य है, लडपन है। तभी वैभववानों को देखकर कवि कहता है

उनके मस्तरु पर खेल रहा था अहम्मन्यता का पिशाच

उनके प्यासों के साथ-साथ थीं जग की आहें रहीं नाच।

—भगवतीचरण वर्मा

परतु वैभव अकेला क्या करेगा। कवि तो जाग्रत है। वह पुकारता है—“कायर ऊँचे फूल भरोंसे से नीचे झाका करते हैं, वीर सदा आँधों के हूर भोके से ऊपर उठते हैं। वीर तो जगत् की आँहों से अपने घाव पिरोते हैं। वे अन्यायों की धूल उड़ाकर मिट्टी में दफनाते हैं और सत्य शिव मुन्दर के मंदिर की गहरी नींव जमाते हैं।” (नीलकण्ठ तिवारी)। इसी अन्तःसाह में कवि देखता है कि “ज्योति की तरंग उठी, दूर-दूर तक छा गई। सद्यो का तिमिर पार करके मानवता आ गई। युग के विराट चरण जनपथ पर गूँज रहे हैं। धरती के महान स्वर प्रवर को चूम रहे हैं। धन-बल के दीपों की रेख भावरो पड गई है। भयद कारा-सी सावरी कान रात्रि मिट गई है। मृत्यु के निदाघ पर त्रिदगी जीत गई है। सपनदाय भूमि हरित, पीत और मदभी हो गई है।” (गिरिजाकुमार माथुर)

कवि को विदवास है कि शोयितों को—“प्रगति का धरदान मिला है। उन्हें दुर्दम शक्ति का अभिमान होना चाहिए। पुरानी त्रिदगी के तार तँटने होने।”

(महेन्द्र भटनागर)

नगर में साहूकार और लुटेरे हैं। दानवता है। सा आर्य के “रक्तपात से मानवता की गति नहीं रुक सकती। पशुता लडती है। जटता की जड कटती जाती है।”

(नरेन्द्र)

उफ ! कैंसा कठोर दारिद्र्य छाया हुआ है इस देश में
चांदों के टुकड़ों को बेने
प्रतिदिन पिसकर, भूलो भरकर
भंसागाड़ी पर लदा हुआ
जा रहा चला मानव जर्जर !
हे उसे चूखना सूद-बज्र
हे उसे चूखना धपना कर

दिक में सीमित कर सके ? असीमित है वह, उभे कौन बाध सकता है ?' (बालकृष्ण शर्मा नवीन) "वह चलता है तो उसके साथ-साथ साहस, हृदय का रस, निराशा-प्राणा, मृगत की भाषा, ग्रहण सर्जन, जानि-नसृति, सचिता स्मृति, कुमुद-म्मय, विश्व-विस्मय सब चलते हैं।" (उदयशरर भट्ट) "भाग्य को वह व्यर्थ नहीं जाने देगा। जितका कोई नहीं है, उन्हें वह अपना लेगा। वह सक्रमण युग में व्यग्र है, किंतु उसके पास भाग है। जितना ही वह जन-जीवा उद्योति-दीप को उकसाता है, उतना ही उपवृत्त होना जाना है। हमने बढ़-कर जीवन का उपयोग वह नहीं जानता। (शिवमगलमिह मुमन) और वह प्रकृति में मानव को कलुषकालिमा को धो डालना चाहता है

तू गा कोकिल ! गा विर किशोर !

गधर्वकुंवर तू घिर सुन्दर मानव की दुनिया है कठोर कोकिल ! गा, तूने चंद्ररथी वन के मोठे फल हैं छाये स्वर्गगा की जल्लील उर्मियों में स्वर सप्तक सरसाये भ्रुकृति रमवन्तो महती की जो गगन-गुफाओं में बिलरी— सुरपति के वैजयन्त से जो उठती भावक गायन तहरी इन चञ्चुटों में जब समस्त भर लाया अमरावती, सखे तब दीपित क्यों न बने दिगत में यह वसत वसुमती, सखे ओ उडनेवाले, ओ कोकिल-मानव-कवि की क्या कथा कहूँ किस अलका की प्रेयसी रूपसी से विरही की क्या कहूँ ?

—केशरी

मानव-कवि की क्या भी विचित्र है ! वह मानव की कठोरता नहीं सह सकता। वह तो पूर्ण ज्योति चाहता है। उसका तो "उन्मुक्त विहग प्रवध हो गया है। उसके वासना के मोह अघ छूट गए हैं। कारातम के चासी ने उष्ण द्वास देना है। वह गगन में घातुर पर स्यालकर उड़ धला है। वह अवर का अनन उर चीर देगा। युग युग की जडना का अत कर देगा। वैषम्य शुक्लाए चूर-चूर कर देगा। मुद्गर समना की स्वर्ण रेताए उग रही है। अयावन छटना के दिन धीन गए हैं। वह आज पुनील-मा प्रभु चरणों में विसर्जित हो गया है। उसका पथ प्रभस्त फँसा है।" (नर्मचंद्र जैन) "समय के तीव्र पृष्ठों पर वह हृदय के रस में अपनी कहानी लिख रहा है। सिंधु को अरुण उमड़ो रवाती को लिख रहा है।" (रामकुमार चतुर्वेदी) "दीपक जला दो, कहीं अंधेरा पृष्ठों पर न रह जाए। जत्र स्वय मनुष्य दीप बन जाएगा तभी वह अंधेरी कटेगी।" (नीरज)

यह जीवन हाग-विनाम के साथ किसी वासना को लिए है और इसके बिनने विविध रूप हैं

किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घर-बार बसाइए।
होयें कँटीली, प्राँछें गोली
लकड़ी सीली, लवियत ढौली
घर की सबसे बड़ी पत्नीली
भरकर भात पसाइए।

—रघुवीर महाय

अब प्रेम गया। अब वह क्लिप्तमिल खो गई। व्यग्न आया, गहरी कचोट मरा। वल्कि जब कवि पुकारता है कि—'हे अमृत! जन्मो! देवता राह बेल रहे हैं।' (दिनकर) तब मोह मे ढावाडोल हृदय सहमा चैतन्य हो उठता है और दृढ होकर कह उठता है—'बताओ, यह कैसे संभव है कि तुमको अपना कर सबको ठुकरा दू? एक तुम्हारे पीछे जग की आशाओ मे धाम लगा दू? मैं अपना भी नहीं हू। मैं तो विश्व की धाती बनकर चलता फिरता हू। अपने ऊपर से मैं सबका सम अधिकार कैसे उठा दू?'

(राजेश दीक्षित)

क्योंकि "एक ओर नाशक प्रस्त्रो की पशुता के बल के अभिमानी है, दूसरी ओर मनुजता के रक्षक नि शस्त्र सिपाही खड़े हैं। जो पशुता का समर्थन करे वह निश्चय ही पशु है चाहे वह धनी हो या धर्मध्वज। न्याय ही पशु और मनुज की एकमात्र सच्ची कसौटी रहा है।" (पर्याप्तह शर्मा 'धर्मदेश')। अब तो एक नया स्वप्न भी आसों के सामने जाग रहा है। शीघ्र ही सूर्य-चंद्र, ग्रह-नक्षत्रों के ऊपर कल इमान के जायो की शर्वोली जय-यात्रा होगी। अधर्माग्य, अधप्रवृत्ति, पाप-पुण्य, देव और कर्मफल के मिथ्या स्वार्थी शोषक नियम-विधान अब मानव का अधिक शोषण न कर सकेंगे। अपनी सत्ता का सर्व-त्र स्वामी बनकर मनुज अपनी ओर सब पर अपना राज्य करेगा।"

(वीरेन्द्रकुमार जैन)

ऐसे समय मे पीछे हटने का क्या काम! वहा से प्रारभ हुआ यह सधर्ष, कहा था गया। वह कितनी स्फूर्ति का अनुभव कर रहा है अब। "मनुज को आकाश से पाला तक सब कुछ श्रेय है। बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत उसका वान्तविक श्रेय है। श्रेय तो मानव की मानवों मे असौमित प्रीति है।" (दिनकर)

विद्रोही कहता है—'हमने फ्रान्स मे भयकर क्रांति की ज्वाला जगाई। स्पेन मे स्वाधीनता की धाग लगाई। रूस मे हमने जारशाही का जनाङ्ग निकाला। हम जग से जुन्म करने का इरादा भी निहाल देंगे। हम विश्व मे सत्र मानवों के एक-मे अधिकार है।' (निरवारदेव मेवक)

"एक बार फिर अंगामी का राजसिंहासन डोल उठा है। युगों की सोई धापी

प्रस्तुत करता है कि उसे देखते ही बन पड़ता है। प्रायः ही कवि ने सब नयी कल्पनाएँ की हैं

प्रातः के पट पर किसी ने तुलिका से
बादलो के, लालिमा के श्री' क्षितिज के
श्राक डाले चित्र

जैसे नाट्यशाला में
किसीने दिये लटका नये पदे,
और सूरज ने किसी ऊँचे शिखर पर चढ़
कि अपनी प्राणमज्ञा उजली भुनहती घूष को
रथ से उतारा
लगा किरनो की नसंती,
घोर बंधा की कत्ती के

खुल गये हैं नयन

जैसे नयी दुलहिन हरित श्रवण
श्री' हरी सलवार की करती सलबटें ठीक,
सुपट पाटन ने लगाई है मिठाई की दुकान
कि भूसे 'सैनिक-श्रमिकों' की तरह दटे भ्रमर
साधना में लीन भावतन की तरह सूरजमुखी ने
अप्यं देने घुल जाहो की पसारा
शोस के कन पहिन कर परिधान सतरंगी-प्रतूटे
एन० सी० सी० के जवानों की तरह
कौजी सलामी दे रहे हैं प्रातः की।

—क-दीवानाव चम्पारण-

इसमें दैनिक जीवन में देखे हुए चित्र हैं।

असल में भव कवि ने "धेपने फाड दिए हैं जिनमें उसरी स्मृतियाँ सगूहीत थें
योवन बयोकि भागे देखता है इतीलिए वह हगभाग होरर रोना नहीं चाहता। उसे धप
अविष्य प्रिय है, वह असीन को नहीं चाहता। वह धपने पय पर चाषामो से ही बिज
मीन मुनना चाहता है।" (श्रीराम शर्मा प्रेम) "यह घरा स्वर्ग मृत्युञ्जय स्वर्ग पा
है। तदियों के विमिर को मानवता में पार कर लिया है।" (गिरिजाकुमार माथुर)
रवरो में जवानिया सिजिनो बजा रही हैं। वे लहू में तैर-नैरकर नहा रही हैं।" (शिन
तभी एकदम नई भूमि को हमारे सामने पसार देना है तथा कवि

घरती में गड़ड़ा कर बिशियाँ घूल नहाती,
घोर दुपेरी के उन्नाड को

बया करेगा प्यार वह भगवान को
 बया करेगा प्यार वह ईमान को
 जन्म लेकर गोद में इन्सान को
 प्यार कर पाया न जो इन्सान को।

—नीरज

सारे धर्मों का मूल कवि ने सहज पा लिया है। वह मनुष्य को प्यार करता है। क्योंकि सब बधन नहीं रहा। "भाज नहीं चेतना जामी है। धर्म के बधन बिखर रहे हैं। जातियों के बधन धूल में मिलकर धूल बन रहे हैं। भाज जन-जन के गले से जीत के नारे उमड़ रहे हैं।" (जगदीश)

हम एक परिवार देखते हैं।

नवयुग का कवि कितना आत्मविभोर है। वह सारी धुद्धताओं से परे हो गया

कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा ससार है।
 मैं न धँसा हूँ देश-काल की जग सगो जंगल में,
 मैं न खड़ा हूँ जाति पाँति की ऊँची-नीची भीड़ में,
 मेरा धर्म न कुछ स्याही शब्दों का सिर्फ गुलाम है
 मैं बस कहता हूँ कि प्यार है तो पट-पट मे राम है,
 मुझसे तुम न कहो मंदिर-मस्जिद पर भँसर टेकूँ
 मेरा तो आराध्य भावमी, देवालय हर द्वार है।

कोई नहीं पराया मेरा घर सारा ससार है।

—नीरज

यह मधुशासा की एकता नहीं, बिना किसी शर्त की एकता है। इसमें सबको सहज स्थान है। क्योंकि परिवर्तन हो गया है। अब "धर्म बदला, देवता बदले। समय बदला हुआ है। हम इस नये युग के विघाता, श्राति के अवतार हैं। हम धरा पर सर्व-जन-मुक्त-सुदर स्वर्ग बसाएंगे। हम मनुष्य को देवताओं पर न्यौदावर करेंगे। ससार में कुछ भी नहीं है जिसके सामने हम नतशीश हों। विद्वद में सब कुछ हमारे लिए है। हम सब बराबर हैं। भाज जो दुनिया के लिए स्वप्न है, वह बल सत्य होगा। हम एक नूतन सृष्टि के निर्माण के आधार हैं।" (निरकारदेव रोवक)

समानता की प्रतिध्वनि उठ रही है। भाज कवि ने श्राति का अनुभव किया है।

"भाज शहादत की उठनी भावी की लुकाठी बोन बन गया है? भाज महाश्राति का चिरज्वलत येनालिज शरण योल उठा है।" (अचल)

इस प्रकार यह विभवान्वित स्वर शक्ति भरता जा रहा है। वह प्रतिश्रिया-

बुरं घास की घड़ा डाढ़िमा
 गोले के से घाय सोचते दह जाने की ।
 पंख और डाढ़ोवाले
 उन डोरो की ये शिला मूर्त्तिमा
 पानी-भरे धान खेतों मे
 खडी हुई हैं देतो पहरा,
 राजमदिरों के खम्भो पर बने हुए
 ये तेज इति के उडते ड्रैगन
 रम छोड़कर हाँफ रहे हैं
 बुढ़िया पागल जैसी स्रध
 हवाएँ चील रही हैं खत सती ये
 इन-सत्ता धूरो के ऊपर
 पुँए जला इतिहास खडा है
 ज्वालाभो के जिसके केश दिशा कर्षों पर
 जलो घास से बहर रहे हैं
 सदिपों के कोडो ने लौंची खत नदियाँ
 महाकाश के नील आँस पर
 महामनुज यह खत सना
 बेहोश आज फिर जाग उठा है ।

—नरेश मेढरा

नरेश ने कितनी सशक्त कविता लिखी है । महामनुज ही इसका प्रतिम नायक हो सकता था । एकदम नयी उपमाएँ, नया रचना-विधान ! नरेश ने बहुत आशा करना भी असंगत नहीं है । उसने प्रकृति और मनुष्य, इतिहास और संस्कृति को कंसा मिला दिया है । 'रक्त की नदियों का सदिपों के कोडो से निकलना' कितनी गहरी दृष्टि है । और फिर उसने देशों की बाधाएँ मिटाई हैं । सारी बसुधरा उसके लिए एक है । इतने नये रचना-विधान के दर्शन द्यपर नहीं हुए । उसकी एक-एक पंक्ति में प्राण है, किंतु एक कभी है अवश्य, वह है ताल और लय की । बातचीत का ढंग है, सो तो आकर्षक है, परंतु थोड़ी-थी गति और अधिक होती, तो निम्नदेह कविता और भी सुन्दर बन पड़ती । प्रश्न उठ सकता है कि भावपक्ष में यह कविता बिघर घपन्य प्रभाव डाल सकती है ? मैं पूछता हूँ कि भक्ति की कविता किस ओर ले जाती है । विद्वान्ता और आस्था के रूप बदलते रहते हैं । प्रत्येक उसपर विवाद करना व्यर्थ ही है । मान्यताएँ वाक्य में प्रभुत्व पाने पर प्रभाव नहीं छोड़तीं, हृदय का स्वयं छोड़ता है । नरेश परिपाटी का कवि नहीं है ।

तिब्बत के दक्षिण मेरा वृद्ध देश है—
 क्षीर सिंधु-सा महाहिमालय
 बरफ के चूली मारे जैसे शेषनाग हों
 नीलागमन लेटा है जिस पर स्वयं विष्णु बन
 ब्रह्मपुत्र वह नाभिनाल है जिस पर
 तिब्बत गौर कमल-सा तिता हुआ है,
 पीला चीवर धारण कर

ब्रह्म के जैसा चीन सुशोभित
 नये वेद के सामगान का पाठ कर रहा—
 बर्मा, हिन्दचीन की शतशत
 जनता, लक्ष्मी जैसी
 जीवन के देवाधिदेव के

चरणों में नतमस्तक बँठी—
 तीस वयं तक नयी सृष्टि हित
 ब्रह्मा ने सवर्ष किया है
 उसके मनोरं में आलोक लोक हं
 घमकाले पक्षों के सूरज खेतों के हित
 सुजन कमण्डल में जलवाले
 मेघ हमारे नदियों के हित
 चावल के फूलों की माला पहने ब्रह्मा—
 पीत बातियों वाले स्वर्णिम

भ्रम सिंधु पर
 उजले शांति हस पर उड़ते
 मानव मंगल गान सुनाते ।

—नरेश मेहता

दृग मंगलमय स्वप्न को भ्रमों विश्व ने पूर्णतया साकार नहीं पाया है ।
 प्राणमा एक दिन जब ऐसा भी होगा ।

एक दिन इतना भी नहीं था । गावों में अन्न भी जीवन कितना विषम और दरिद्र
 है । वहाँ सघुता को ही महान मान लिया गया है । अध्यात्म का सर्वस्व सतोष है, परन्तु
 सतोष भ्रमाव की कचोटों से उपजा पराजय नहीं । समर्थ जब उग्र होकर दूसरे पर आक्रमण
 न करे, तब वह सतोष है । कवि ने ग्राम का एक चित्र देकर देश में सेतिहर व्यवस्था
 की निर्बलता का कंसा हृदयप्राही वर्णन किया है :

तिब्बत तक आते-जाते
वे गोरी, उजली, लाल—

—बरेल मेहता

एक के बाद एक आपको एक नयापन मिचता चला जाता है। यह सच है कि पति से चमत्कार भी जन्म ले सकता है, किंतु वह तब होता है, जब कवि के पास कोई उदात्त सदेव नहीं होता। यहाँ वह है और पूर्ण जागरित है। उसे मानवता से स्पार है। प्रकृति उसके लिए मानव की जेतना को परिष्कृत करनेवाली है। वह सकल भूमा को एक मानकर रहता है

सुनो पृथिवीवासियो।
माता हमारी, महापृथ्वी
अग्नि है, धन-धान्य है,
रूपायनी सघर्षशीला है
यह सड़ो यो तित्पु धो' आकाश से
रूप पाने के लिये
इसलिये संघर्ष
जन की शक्ति है
हैं धरण, मातक और भुजाएं
'साध्यवादो' काश मे
और जन का शत्रु वह
कौटागुल्लो के सम गिराता है
प्रगुर है, वृत्र है,
धूल इसके बसन हैं, मृत्यु इसका भाग्य ही है
हम विधाता भाग्य के इसके
पृथ्वीकृत हैं, धमिक हैं
और यह जन-शत्रु है।

—बरेल मेहता

सत् और शमत् के संघर्ष के रूप में कवि ने लोक को दो वर्गों में बाटा है। परलु वर्गों के विभाजन से भी बढकर है यहाँ उसका पृथ्वी के निवासियों को एक करने का प्रयत्न, जिसमें वह मधुमन्त्र जीवन की कल्पना करता है।

अब 'कल्पना होती जा रही है और जितनी पास आती जा रही है। डगमगाती आ रही है वह। केवल प्रणय नहीं, साथ में संघर्ष भी चाहिए क्योंकि तूफान चादनी से नहीं पमते। पहले कभी उसका स्वप्न से संबंध था, किंतु तब वह मद था और वह नात

तब अपने-आपसे लड़ लयपय बहने पर
न जाने कहीं से चीड़ का वही पुरातन टुकड़ा
जिसे मेने घने वनों, बीहड़ों,
आग के समन्दरों, धोलों के ज्वालामुखी से लड़कर ढूँड़ा है
मन की आत्मा के कठोर लेकिन सार्यक
हाथों में आकर जकड़ जाता है।^१

कवि का अन्दरूँद और समाज की कठोरता, आर्थिक विषमता, सब में घोर उल-
फल-मी पड़ गई है। इसका मूल है दरिद्रता। कवि उसे पहने समाप्त करना चाहता है।

एक दिन कवि ने कहा था—“कि उधर दरानों को दूध-वस्त्र मिनता है, इधर भूखे
बालक अकृषाने हैं। वे मा की टुट्टों से चिपक ठिठुर जाडों की रात बिताते हैं। युवती के
तन्त्रावमन बँचकर ब्याज चुकाए जाते हैं। मानिक उम ममय तैल-फुलेचो पर पानी-सा
द्रव्य बहाते हैं। पानी महतों का महुकार ही शान्ति को आमन्त्रण देना है। शान्ति निम्नेजों
का तेज है। वेह युगों के मूक मौन की वाणी है। वह दिलजने शामिनों के दिन की जलती
हुई कहानी है। सदियों की जन्नी तोड़कर जागनेवाली ज्वाला की रामी शानि विप-
भरी जवानो की भाँति जहूर उगलती फिरती है। वह आहत मूजगिनी के दसन जंसी
है। वह भूखी वाधिन को क्रूर घान है।” (दिनकर)

आज भी वह समस्या उसके सामने बनी हुई है। किंतु वह उसकी ‘जिजीविषा’
का दर्शन बन गई है अब।

“यदि जीना तुम सजग धर्म मानो, तो मरना भी महाकर्म बन जाएगा। निर्माण
करो! निर्माण करो!” (मवानौप्रसाद तिवारी)

‘रिक्ति’ के लिए निर्माण है। इन दो के मिलन में अमर शानि है। इसीलिए वह
बर्बरता और मुद्द का प्रचंड विरोधी हो गया है

जिनकी छाती से फूटा है मानून्य धमी,
वह मां क्या बफनामेगी दूध मडारों मे !
क्या गोलों की बौद्धार भिन्नेगी साधन को,
क्या डानेगा जिनारा भूना अमराई मे ?
क्या उपवन को डानों मे फुलेमे अगार,
क्या घृणा बजेगी भीरों की शहनाई में ?
असहाय बुडाया तड़पेगा क्या मरघट मे
बारुद करेगी क्या शृंगार जवानो का ?

के लिए तो कुछ नये पग उठाने ही होंगे।" (महेन्द्र जोशी)

"चारों ओर खडित मान्यताएँ हैं। रुडिया चीन की दीवार की तरह फैली है। विज्ञान के अनुसन्धान, नये आविष्कार, गर्वोन्मत्त। जगत् की छन पामीर को चुनौती दे रहे हैं।" (महेन्द्र भटनागर)

इसलिए नया कवि रात के टलान में दूसरा ही सीदय देखना है, क्योंकि इस समय वह दुःख से व्यग्य पर उतर आया है

इस मुबह के चाँद की मृदु चाँदनी में
चल दिये टट्टू लिए टूटे हुए इनके
(रघो के रूप बिगड़े)

सब पुराने कर्मयोगी
सिर घुटाकर आज उनमें हैं सुशोभित।
वे कुचलकर भी पुराने देवगृह को
जाएँगे बन्दन बनाने
क्योंकि सुंदर पर्व यह घरदान है भगवान का।

×

आज ऊँची चिमनियाँ भी
पूछ उमलेंगी अगर, तोहयान का
आज मन्दिर की फिजाँ में
ऊदबत्ती की महक
चन्दन सुगंधित व्याप्त होगी
और पाटल गंध से अभिसिञ्चत जल की
अब वहाँ बरसात होगी।
क्यों सुनें वे दर्बों की आवाज तेरी
स्वस्तिवाचन के क्षणों में ?

—हरिव्यास

आज का कवि "एक बार जी रहा है, एक बार मर रहा है, वह अपनी जान का सौदा एक बार कर रहा है। इसलिए अपनी जवानी के चिराग का एक बार तूफान में घर रहा है। कल काली रात नीरवर सवेरा आया। मिनारों के देश से उमका सूरज आया। वह सोने की जवानिया साय में लाया, वह अपने साय फूलों की बहानिया लाया। इसीलिए वह इस रात की खामोशी और सुनसान में, मिनारों के मवान धाममान में एक बार गीतों की रागिनी भर रहा है।" (गोपालसिंह नेपाली) "अस्वत्य आज भी खड़ा है। मन स्थिर होता है, भ्रम मिट जाता है, माया हट जाती है। अस्वत्य के तले किसको ज्ञान

हो सावधान! संभलो ओ ताजतहतवालो !
भूखी घरती अन्न भूख मिटाने आती है।

×

तुम कफन चुराकर बंध गए जा महलो मे
देखो ! गांधी की अर्थो नगी जातो है,
इस रामराज्य के सुधर रेशमी दामन मे
देखो सीता की साज उतारी जाती है,
उस ओर श्याम की राधा वह चून्दावन में
आलिंगन-चुबन बेच पेठ भर पाती है।
हो सावधान! संभलो ओ ताजतरतवालो !
भूखी घरती अन्न भूख मिटाने आती है।

—नीरव

क्या सधा हुआ तीर है ! अचूक ! वह अन्न विपकुल निर्भय है। कौसी मामिकता
है इन शब्दों में।

“मानव का रोदन-कदन सुनकर मेरे कवि की वाणी मुखरित हो जाती है। मैं
मानव के हित ममता को रसधार खोजता हू।” (देवराज दिनेश)

जो बुद्ध है मनुष्य के सुख के लिए है। मनुष्य सुखी हो जाए। उसकी सुन्दरता
ओर निखर उठे। घसतौप मिट जाए। दीनता दूर हो जाए

सृष्टि हो जाये सुरभिमय इसलिये

कटकी मे फूल मुस्कता रहा।

—नीरव

यह है उसकी कल्पना ! वह जानता है कि इस ससार मे—“जो आग श्रीरो को
जलातो है, वह पहले खुद जलकर अपने तन को राख बनाती है। जो नदी गांधी को बहाती
है, वह खुद पहले अपने बगार खा जाती है। हर नफरत को एक मुट्ठकत का घूसा
दो। मरतो को जीने का पेंगाम दिए जाओ।” (विश्वम्भरप्रसाद तिवारी)

नफरत उसकी त्रिदगी का सहारा नहीं बन सकती।

जीवित रहना है तो उसका आनन्द लेकर।

“जीवन में मस्तो से मुस्कराकर जीना है। सचमुच वही जवान है, जिसकी जबानी
अग मे सधयों का विष पीकर भी मुस्कराती है।” (देवराज दिनेश)

किन्तु दर्शन की उडान मे भी वह विपमनाओं को नहीं भूलता। वह उमे हर पल
याद बनो रहती है। एक दिन वह भूख से व्याकुल होकर कहता है

जहाँ वहाँ से एक घठनी लानी होगी

नया विषय है, तभी उसके विषय की कविता भी नयी है। वह एक दीप है। दीप में झालोक है। वह झालोक है, दिया नहीं। झालोक सर्वत्र पूज्य है, अतः मानव पूज्य है। एक कवि कहता है कि वह झालोक कभी बुझता नहीं

बुझो न दीप की शिखा अनन्त मे समा गई !

अमन्द ज्योति प्राण - प्राण बोध जगमगा गई !

अकम्प ज्योति - स्तम्भ वह पुर्य बना

कि जड प्रकृति बनी विकारा चेतना

न सत्य बीज मृत्तिका छिपा सकी

उगी, बड़ी, फली अरुप कल्पना,

न बोध सका असन् प्रमाद पाश मे प्रकाश तन

विमुक्त सन् प्रभा दिगत बोध मुक्करा गई !

भरा न कामरुप कवि बना अमर

कि कोटि - कोटि कण्ठ मे हुआ मुखर

मिटा न काल का प्रवाह बन घिरा

असीम अन्तरिक्ष मे अनन्त स्वर

न मन्त्र स्वर अमून सेभाल मूषमयी धरा सकी,

त्रिकाल रागिनी अनन्त सृष्टि बोध द्या गई !

×

जिने न पाश तन बना, न छू सका मरण चरण

विराट चेतना अरुप बन स्वरुप पा गई

बुझो न दीप की शिखा, असीम मे समा गई !

—शम्भुनाथसिंह

पुर्य ही ज्योति-स्तम्भ बना। जड प्रकृति से ही विकास की चेतना आई। माटी में से ही अरुप कल्पना निकली है। प्रकाश असन् में नहीं बंध सका। सन् ही विमुक्त होकर सबपर छाए जा रहा है।

अही मनुष्य अरु है, यह मनुष्य अरुप का विकारी है, एरन्तु मनुष्य भी मनुष्य का तिलोना। कवि दोनों ही पक्षों को स्वीकार करता है। मानव प्रकृति का अंग है। वह उसका किसी सीमा तक नियता भी है। पहले मानव प्रकृति से लड़कर भी डरता था, आज का मानव डरनेर भी लड़ता है। यह वह असली बात है जिसके कारण उसमें इतनी जनमन भर आई है। प्रकृति का प्रेम निरंतर चलना रहना है, वह रुकता नहीं। सुन्दर की अनुभूति प्रकृति देनी ही रहती है। अब कुछ यही है, इमानि कवि इमानि और दुःख नहीं करता। वह इमानि छपना भी देखता है और इमानि सपूर्ण आनन्द भी। प्रकृति

शरभीले नभ के मुरज-चाँद-सितारो को
पानी का यह घूँघट उधारना ही होगा।

—नीरज

पुरानी कला जो इस सत्य को नहीं देखना चाहती कवि उसका स्वरूप उधारकर सामने रखता हुआ कहता है कि—“वेशमं वामुरी लासो मे बहुत बज चुकी है, बहुत बज चुकी है, उसे बन्द करो।” (वीरेश्वरसिंह)

पुराने शृंगार के भी रूप बदल गए हैं। अब उसके सामने एक नई नैतिकता आ गई है।

“द्विदिन व्यापी प्रेम का अवसान हो गया है। अब तो एक प्रेम में सभी प्रेम की स्मृति के तार समा गए हैं।” (श्यामसुन्दर खत्री)

इस प्रेम के लिए ससार को शांति चाहिए। धरंरता इसको समाप्त कर देती है
फूलों की लासो पर खाते भोरें पछाड़
मुरदा तितलियाँ कफन ओढ़े हैं कलियों का
चढ़ आया मलय समोरन को काला बुझार
सब छूत तपेदिक चूस गई पप-भलियों का।

—नीरज

इसलिए अब ता जो गोपितों में छीन लिया गया है, वह उन्हें वापस मिलना ही होगा। उसे कोई कब तक छिपाकर रख सकता है

आने दे शीघ्र घरा पर सावन की फुहार
अन्धथा समय की प्यास सिधू बन जाएगी
यदि जल न मिला तो सत्य मान ओ प्रासमान
यह मिट्टी द्रोणित के संलाब बुलाएगी।
नीची हो जाती हैं चौटियाँ पहाड़ों की
जब प्यास तड़पकर अपना शीश उठाती है
धोने को पाँव धिक्कल हो उठते हैं सागर
जब वह निज रेगिस्तानी नजर धुमाती है।

—नीरज

धरंरता का अन्न होगा तो नया उल्लास जायेगा। कवि उस उल्लास से परिचित है। वह कहता है

“आज मरपट पर सृजन ने मद स्वर में मृष्टि की मधुरतम मुरली फूक दी है। मौन की छाया तने सोई हुई बेहोश नजरें फिर उठ रही हैं। आज इस बलवान शरण ने पर्वत को अपनी भजा में बाँधकर चूर कर डाला है।” (हरिव्यास)

जो अपना है, जो अपने श्म और स्नेह का आधार लेकर चलता है। उसे हम दुभने से बचा सकते हैं। और वह हमारा सबल बन सकता है।

विश्वास के बिना कुछ नहीं हो सकता। पत्थर के दिल में जागृति का पाठ पढ़ा जा सकता है। किन्तु जब विश्वास टाबाटोल होता है, वह पहली ही मजिल में डिंग जाता है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। जो है सो यही है। इसका ही अन्त अभी तक कोई नहीं जान सका है। पावो में ममता का बन्धन और सिर पर वियोग का भार, दोनों धर ही सध सकते हैं।

यहा कवि अपनी व्यष्टि और समष्टि दोनों का मिलान करके देखता है और वह अपने द्वन्द्व से निकलने का प्रयत्न करता है। वह कहता है

लेकर अक्षय विश्वास धरे!

उस दिन जब पत्थर के दिल में

मैंने जागृति का पाठ पढ़ा

तोनेचालो की महफिल में

‘भेदन करना है अन्धकार !’

तब पागल - सामें बोल उठा।

कब सोचा था, डिंग जाऊंगा

मैं बस पहली ही मजिल में ?

उस पार ! धरे उस पार कहाँ

है अन्तहीन इस पार प्रिये,

पैरो में ममता का बन्धन

सिर पर वियोग का भार प्रिये।

—भगवतीचरण वर्मा

‘प्रिये’ का युग भी एक विरोह बनकर ही साहित्य में आया था। इस देश में पति भी पत्नी का मुह दिन में नहीं देख पाता था। उपयोगितावादियों और विशुद्धतावादियों ने स्त्री के प्रति दुर्दृष्ट बन्धन बाध दिए थे। वह समय चला गया। नया कवि और आने आ गया। वह कहता है—“जहा उस पार उर्दधि और आकाश दृष्टि में एकाकार-से लगते हैं, उज्ज्वलता का विहंग अरणिमा के पक्षों की सौल अनरिस के श्याम विक्रान्तों में द्विपता जा रहा है। अपने गीतों में आकाश बाध लो। भूगोल बाध लो। गीत का लक्ष्य, प्रीति का मिलन है। इसलिए रवि से भी कवि दिव्य है।” (पोद्दार श्री रामावतार अरण)

कवि ने अपना दायित्व समझ लिया और वह सकुचित प्रेम से व्यापक प्रेम पर आ गया। इसका यह अर्थ नहीं कि ‘प्रिया’ के प्रति लिखना कोई पाप है या कोई अपमानजनक बात है। किन्तु केवल वामना की कृष्णि या शरीर विरह की सकुचित कचोट श्रेय-

तू नवल सृष्टि की ऊचा की नव सृष्टि अपने धरों में भर
 बढ़वाग्नि-दिलोड़ित ध्रुवधि की उत्तम तरंगों से गति ले
 रमयुत रवि - शशि को बंदी कर दृग-बोधो का रच बन्दीधर
 कीपती लडित को जिह्वा - सी विष - मधुमय दांतों में दाबे
 तू प्रकट हुई सहसा कंठे मेरी जगती मे, जीवन मे ?

तू मनोमोहिनी रमा - सी, तू रूपवती रतिरानी - सी
 तू मोहमयी उबंसी सदा तू मानमयी इद्राणी - सी,
 तू इषामयी जगदम्बा - सी, तू मृत्यु सदा कदु, क्रूर, निठुर
 तू लयकरी कालिका सदा, तू भयकरी रदाणी - सी
 तू प्रीति, भीति, आसक्ति, घृणा की एक विषम सज्ञा बनकर,
 परिवर्तित होने को आई मेरे आगे क्षण - प्रतिक्षण मे।

—वचन

नागिन का 'कैनवास' बहुत ही बड़ा है।

"तू अपने फन में फुफ्फुार लिए चल फिरकी-सी फिरती है। तेरी भोषण हुकार
 से दिग्गज भी काप उठते हैं। पल-भर में तेरा स्वर और मुद्रा बदल जाती हैं। तेरी हर
 चिनवन में स्वर्ग-नरक के द्वार खुलते-मुदते हैं।" (वचन)

किंतु यह गाभीर्य हमें सबंत्र नयी कविता में ऊभ-चूम करता हुआ नहीं मिलता।
 हम जिस व्यापक भूमि में पहुँचे हैं, वहाँ विवृति भी कम नहीं है, जिससे कवि डावाडोल
 हो उठता है।

"जिदगी पीले गले कागज पर लिखी, कटी-पीटी, मिटी सतरों की तरह है। वह
 मकड़ी के जाले, प्लास्टर के चपाड, खाली कनस्तर, चीकट बिछौने और उधार के समान
 है। चिनिया दादाम के दिलके, बुभा 'स्टार' - यही जिदगी है।" (संयद संपुद्दीन)

जिदगी के लिए कितनी बचोट-भरी बात कही है कवि ने। आज का जीवन
 कितना उलझ गया है। तभी वह कहता है कि विज्ञान का विकास सब कुछ हिलाए दे रहा
 है। फिर भी वह परिवर्तन को स्वीकार करने को विवश है, "पथ में पत्थर, ककड, काटे
 को बहुधा मिलते हैं। यदा-कदा ही मुम्काता हुआ फूल मिला करता है। नये जन्म के लिए
 कफन का प्यार मिला करता है।" (सकुन्तला सिरोडिया)

पुराने विषय भी फिर से वार-वार लिए जाते हैं। नारी को विभिन्न रूपों में देखा
 गया है। परन्तु बहुधा नारी-सम्बन्ध में व्यक्तिगत कुठा प्रकट होती है। वही-वही मुदर
 चिन भी मिल जाते हैं। भारत की विधवा की अवस्था कंठी दयनीय है :

धलती धोमो,

भग ठहर-ठहर,

आकाश हस उठा। दिखाए मुस्करा दी। कली, कुसुमकोपल दल उद्यान में साकार काम छा गया। नदी की ज्वानी जयन बुझा रही है, गगन बरस रहा है। नर के लिए यह मंत्र सृष्टि जीवन है। सभी से उमे प्राण का धन मिल रहा है। फूलों में ही नर मुस्कराना सीख-कर हार को विजय में बदल रहा है।" (उदयशकर भट्ट)

मनुष्य की सुन्दरता मनुष्य के लिए सबसे अधिक आकर्षक है। विस्मय और अवाक् करनेवाला बीघन मनुष्य के व्यवहार में सबसे अधिक दिखाई देना है।

दिनकर ने इसे भी अपनी इसी प्रसिद्ध कविता में दिखाया है। बाद में 'कलिंग विजय' में हमें चेतना का प्रसार मिलता है। जब मन की आँख खुल जाती है, तब चेतना अपनी पाखें खोल देती है

खुल गई है शुभ्र मन की आँख
खुल गई है चेतना की पाँख
प्राण की अत शिला पर आज पहली बार
जागकर फटना उठी है कर मृदुल भनकार।
आँसुओं में गल रहे हैं प्राण
खिल रहा मन में कमल अम्लान।
गिर गया हृत्बुद्धि-सा थकाकर पुरुष दुर्जय
प्राण से निकली अनामय नारि एक अमेय
अर्ध - नारीश्वर अशोक महीप;
नरपराजित, नारि सजती है विजय का दीप।
शायतो की मुन मृदुल भनकार
गिर गई कर से स्वय तलवार
घञ्ज का उर हो गया दो हूक
जग उठी कोई हृदय में हूक।

विजय का दुर्जय अर्ध मानवी ज्योति से दब जाता है और अर्ध-नारीश्वर हो जाता है। यह व्यक्ति-पूर्णत्व का रूप, हृदय में जिम्मे अम्लान कमल खिला है। ऐसी कविताएँ सचमुच बहुत कम लिखी जाती हैं। कवि फिर अभय देना है

शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्मवत् ससार
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सकुं कर प्यार।
मिट नहीं जाए किसीका चरण-चिह्न पुनीत
राह में भी मैं चलूँ पग-पग सजग-सभीत।
हो नहीं मुझको किसी पर रोप
धर्म का गूँजे जगत में घोष !

जाता है। अब भी कवियों की दृष्टि विविध विषयों की ओर जाती है। 'कोरे कागज से' ऐसी ही एक बहुत मुदर कविता है, इसमें कागज बहुत-से प्रतीकों का एक प्रतीक बन जाता है। ऐसी कविताएँ अंगरेज़ी साहित्य में तो बहुत मिलती हैं, किन्तु हिंदी में कवि-सम्मेलनवाद के कारण प्रायः सस्ती भावुकता काम में आती है। कविता यों है

अभी हिमानी के टुकड़े-सा यह जीवन है श्वेत
कुन्द कुसुम-सा धवल हृदय, नन उज्ज्वल गंगा-रेत।
मृदुल लचीला गात पवन से उड़ता सौ-सौ बार
जैसे नौड़ खोजता कोई पक्षी पंख पतार
अभी न तू पाई तुमको है जग की काली म्याही
काँट-दाँट बघन की तुमपर आई नहीं तबाही
अभी तुम्हारे जीवन का है छुट बड़ा स्वच्छद
अभी नहीं देखे तुमने हैं कठिन दुखों के फन्द।
अभी विरहिणी के न विरह का तुमपर अकित लेख
अभी न आँसू-शोक विश्व का तुमने पाया देख
अभी न अपने को समेट तुम भेड़ कर सके बंद
अभी न तुमपर लिखा गया है मधुर मिलन का छंद।
विचकार ने अभी न विचित्र किए बसन्ती कुञ्ज
मूर्तिमान मृदुस्वप्न सद्गुण जिनपर बिलसरे अतिपुञ्ज
अभी ललायित कवरी में मृदु गूथ-गूथकर फूल
किसी सुन्दरी ने न तुम्हें छूने की की है भ्रून।
पूर्ण तृप्ति की भाँति अभी तो नूम हो बिन्दुल सूक
किसी विषोगी के न हृदय से किए गए दो टूक।
पृथ्वी को मानव ने तिल-तिल कितना दिया बिगाड
तुम कोरे ही ठोक ! करे-करते जो तिल का ताड

—इन्दिरादेव राना 'कृष्ण'

इसमें बहुत ही कीमती व्यञ्जना है और भावोत्पत्ति बड़ी गहरी है। इसी प्रकार नये कवि ने कौयल पर जीवन की गहरी अनुभूति उतार दी है। कोयला काला है। कल्पना की मूर्त ने उसे जीवन की मर्यादा दी है।

'कोयला' में कवि कहता है

"मैं काशिमा में कैद उज्ज्वल ज्योति हूँ। मैं अंधेरे का कफन छोड़े हुए पावन सवेरा हूँ।" (मोहनलाल श्रीवास्तव)

'कानासूनी' एवं बहुत ही गहरी अनुभूति का ज्वलत प्रमाण है। ऐसी कविताएँ

प्रतिनिधि है, वह समष्टि की चेतना का प्रतीक है। इसके साथ ही प्रकृति के बाह्य रूप भी इसी 'पात्र' के अतर्बाह्य के साथ ही उपस्थित हुए हैं। अतः दुर्लभता उन्हें ही सताती है, जो इसे पुराने मानदण्डों को बदले बिना ही बिठा लेना चाहते हैं। मैं अध्यापक वर्ग की बात तो कह ही क्यों, जो कि कोर्स में आने पर ही नया साहित्य पढते हैं।

अतीत के प्रति तो नये कवि ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बहुत ही सुन्दर कहा है जो हम यहाँ देखना चाहते हैं। नये कवि ने अपनी साधना को सामने करके कहा है

'जय हो !' खोली अजिर द्वार मेरे अतीत ओ अभिमानों !
बाहर छडी लिये नीराजन कब से भावों की रानी !
बहुत बार भग्नावशेष पर प्रक्षत फूल बिलेर चुकी
खंडहर में आरती जलाकर रो रो तुमको टेर चुकी।
वर्तमान का आज निमंत्रण देह धरो, प्रागे आओ
ग्रहण करो आकार देवता ! यह पूजा-प्रसाद पाओ।
शिला नहीं, चेतन्यमूर्ति पर तिलक लगाने में आई
वर्तमान की समर-वृत्तिका तुम्हें जगाने में आई।
कह दो उनसे जगा, कि उनकी

ध्वजा धूल में सोती है

सिंहासन है शून्य, सिद्धि

उनकी, विषवा-सो रोती है

अर्धा सकल युद्धि ने पाई हृदय मनुज का भूला है
बड़ी सभ्यता बहुत, किन्तु अत सर धब तरू सृष्टा है

×

जग में भीषण अन्धकार है जगो तिमिर - नाशक जागो
जगो मश्रष्टा, जगती के गौरव, गुरु, शासक, जागो।
जय हो खोली द्वार अमृत दो, हे जग के पहले डानी
यह कोलाहल शमित करेगी किसी युद्ध की ही वाणी !

— दिनकर

सचमुच इतना दर्शन, चिंतन, विवेचन करके भी अतीत में मानव की समस्या नहीं सुलभी है। मैं यह नहीं कहूंगा कि आज के लोगो ने उसे सुलभा दिया है, क्योंकि इस वाक्य को लिखने का समय मेरे देखते ही देखते अतीत हुआ जा रहा है। परन्तु इतना आवश्यक मुझे कहना है कि युग बदलते हैं। जिस प्रकार भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य को एक ही मानदण्ड से नहीं परखा जा सकता, उसी प्रकार आज की कविता के लिए आज की परिस्थितियाँ भी देखनी आवश्यक हैं। केवल राजनीतिक घटनाओं को देख लेना ही

भी प्रेम प्राप्त कर रहा है। और कवि ने कही भी प्रचार का सहारा नहीं लिया। इसी तरह कवि ने बहुत ही साधारण-सी वस्तु ली है—‘दियासलाई की तीली’ और कहा है

मुझे विश्वास है अन्ना की बेला में

सूरज, सितारे और चन्दा जब किरनों का वैभव खो

अम्बर के चुल्लू-भर पानी में डूब, मर जाएँगे—तब भी मैं

शात कोकिल-पक्षी कमरे में

धसत की पलाश-पताका फहराऊँगी ।

×

प्रकाश के गीत श्रेयरे के अधरो पर गाऊँगी ।

×

आकाश में चमकते-दमकते विशाल सूरज की

धरती पर उतरी हुई प्राणवान् धाती हूँ ।

—श्रीराम वर्मा

माटी का विकास हुआ है इस युग के काव्य में। इसे कित नाम से पुकारा जाए ? मैं इसे मानव-युग ही कह सकता हूँ। किंतु इतना सकुचित क्यों बने यह हृदय कि इस छोटे-से काल-खण्ड को भी एक नाम दिया जाए ? सभी तो इस वर्ण्य के खड-काल से एक उत्कर्ष घाने को है, जिसके लक्षण घुरे नहीं हैं, बल्कि आशाप्रद हो दिखाई दे रहे हैं। वादो के गहित नामों में कविता को घाटना कवि का अघमान करना है। सस्कृति का नाश करना है। यह तो आचार्य शुक्त ही का काम था कि तुलसी का काव्य देखकर, हृदयगत जैसे टुटपूजिए को जोड़कर वे 'रामभक्ति गाथा' को बला गए। हमें सस्कृति का नया घनन करना है

ये घटिने हैं आधार सभ्यता सस्कृति के
 प्रादिम-युग से जो ले आए हैं एटम सफ
 इस दुनिया का कारवाँ अमर
 ये हके नहीं पथ के ऊपर
 निदुटी को विकसित कर जाए
 घाने वाले जन-युग के मुन्दर फूलो में।
 ये शक्तिमान जनता की बाँहों के प्रतीक
 उन कृष्ण, भारी हाथों के गतिमान चित्र
 जो हप दे रहे हैं जग को,
 कर रहे मूर्त मन के सपने,
 लेते हैं स्वर्ग उतार विचारों के नभ में।

—गितिविचार माधुर

स्वर्ग विचारों के नभ से उतर रहा है। हम प्रादिम युग से एटम युग तक चल-कर आ गए हैं। मिट्टी को विकसित करके लाए हैं। भविष्य में बनेवाले जन-युग के मुन्दर फूल के रूप में। धम का भी सौदर्य आया है, जिसके कारण प्रत्येक सर्वन से हमें प्रेम है।

विश्व भले ही हमें वासना कह से, किंतु नये युग का सूत्रपात करनेवाला मानव जानता है कि उसीने यह पाषा की है। यह जानता है कि "मृष्टि के आरम्भ में उसने उषा के गाल चूमे थे। बालरवि के नाग्यवाने दीप्त विशाल भास को चूमा था। प्रथम सन्ध्या के अरुण दुग लसने चूमकर सुताए थे, तारों की कलियों में मुग्धजित नव-निशा के बाल चूमे थे। सबसे पहले उमोके होठों ने वायु के रसगत अघर छुए थे। वह माटी की पुत्रियों से ही क्या अभिसार करे ?" (बच्चन)

वह माटी की पुत्रिनी मध्यकालीन वासना है। नये कवि की वासना उससे ऊपर उठ चुकी है, इसलिए वह स्वाध्य है। वह सर्वन ही मूधम हो गया है। क्योंकि वह सर्वांगीण रूप में मुगलुत होना चाहता है।

जैसे घृणा और प्यार के जो नियम हैं उन्हें कोई नहीं जानता। यह कमी सावारी है कि हमने अपनी सहजता ही एकदम बिसारी है। जो भी हो, सपनों की दान तो ठीक है।" (बीनि चौधरी) कवि कहता है—“मुझमें अरक्षण सावन के तरल मेघ-सा जो लहराना है, रह-रहकर धनक जाना है, उसे प्लास्टिक के नपने में मत नापो वह मजम है, प्रमित है, क्योंकि वह मेरा है, मेरे दर्द में उभरा है। मैं हूँ मेरी आस्था है, इसलिए जो प्रती-भित्त है, वह मवरूप आया।” (मलयज)

“मैं वह हूँ जिमने सघन प्रभावों की डाल पर अपने हाथों अपने जीवन का छत्ता रचा है। बड़ी कठिनाई से थोड़ा-सा मधु इकट्ठा कर पाया हूँ। मेरे शहर को चुरानेवालों, मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। अपने अस्तित्व की ऊचाई तक जाने में जिम डगाल को पकड़ो, उसको मत तोड़ो।” (पुरुषोत्तम खरे)

“चीखो मत ! चीख के बाद भी दरवाजा बंद न करने दूंगा ! क्या पता तुफान की झुंझोर से उलझे, तनिक विश्राम को लाना रहे दो पाव यहाँ तक आ पहुँचे और दरवाजा बंद पाकर, टूटती हिम्मत फिर साहम बटोरे लौट पड़े।” (कन्हैयालाल नन्दन)

“धो पागल ! यदि तू सचमुच जीना चाहता है तो साधन नहीं, शक्ति माग। शक्ति से साधन मिल जाएँगे, परंतु साधन तुझे शक्ति नहीं दे सकेंगे।” (सिद्धनाथकुमार)

“ध्याना तट जहाँ था, वहाँ रहा। धारा ही धाई, प्लावन की बेला में आज मैंने नई उप-सन्धि पाई है। निश्चय ही समर्पण ही मिट्टि है। जब वर्षा आयी तब स्वामी की एक बूंद मोती बन आयी। छोटी-सी सीरी ही यह सिखाएगी कि रस का सही प्रहण किनी बड़ी बात है।” (भारतभूषण मप्रवाल)

“सागर कभी क्यारो से नहीं मिलना।” (गंगाप्रसाद पाण्डेय)

“रिमझिम-रिमझिम हो रही है। इन्द्रधनुष का किनारेमल बूटेदार दुपट्टा धोड़कर साफ हिंडोले चड़ी भूच रही है। किवार खोलकर रह-रहकर बिजली भाककर गरजती-तड़पती है।” (चंद्रदेवमिह)

साधुनिक 'प्रेम' पर वह व्यंग्य करता है—“प्लोमय के बगैर इसकी उन्नति-निजात संभव है।” (कलाश बाजपेयी)

“गतिरोधों से तो अच्छा है कि पशु हमें ले चलें।” (सत्येन्द्र धीराम्बर)

“तुम्हारी अठारहवीं सदी की (भाउट भाफ डेट) हवेली, पुरानी पीढी के प्रति श्रद्धा के नाम पर अब भी चल रही है। इसका अगला हिस्सा तुझवाकर तुम इसे साधु-निज बनाना चाहते हो ? मानेवालों को बाहर ही बाहर नरुती चेहरा लगाकर भ्रमना चाहते हो ?” (केशवचंद्र वर्मा)

“जब पहला मूर्ख उगा तब से हम 'बिन्द' की सत्ता स्वीकार कर प्रदर्शना कर रहे हैं। हमारे दाढ़-बाएँ समृद्धि है, जीवन है, धमनियों का स्थल है, पर हम जीवन को

में देख रहा यह मानवता कितनी निर्बल कितनी अनित्य !

में जग को मुल देनेवाले जग के आदन को देख रहा !

—भगवतीचरण वर्मा

वित्तु कवि पूर्णतया पराजित नहीं है। वह बहता है—“साथी ! उसे भी देख, जो भीतर अगार भरा है। उसी को एक तेरी भाग का ही आधार है।” (दिनकर)

विषमता का कारण है घन। वह कहीं अधिक है वही उमका अभाव है। अभाव में दारिद्र्य है, तडपन है। तभी वैभववालों को देखकर कवि कहता है

उनके मस्तक पर खेल रहा था अहम्भंग्यता का पिशाच

उनके प्यालों के साथ-साथ यों जग को ग्रहों रहीं नाच।

—भगवतीचरण वर्मा

परतु वैभव झकेला क्या करेगा ! कवि तो जाग्रत है। वह पुकारता है—“कायर ऊंचे फूल भरोंसे से नीचे भाका करते हैं, वीर संज्ञा साथी के हृद भीके से ऊपर उठते हैं। वीर तो जगत् की आहों से अपने घाव पिरोते हैं। वे अन्वियों की धूल उढाकर मिट्टी में दफनाते हैं और सख्य सिख मुन्दर के मन्दिर की गहरी नीच जमाते हैं।” (नीलकण्ठ तिवारी)। इसी अन्नाह में कवि देखता है कि “ज्योति की तरंग उठी, दूर-दूर तक छा गई। सदियों का तिमिर पार करके मानवता आ गई। युग के विराट चरण जनपथ पर गूज रहे हैं। घरतों के महान स्वर शवर को घूम रहे हैं। घन-बल के दीपों की रेख भावरी पड गई है। भयद कारा-सी सावरी काल रात्रि मिट गई है। मृत्यु के निदाय पर ज़िदगी जीत गई है। तपनदग्ध भूमि हरित, पीत और मदली हो गई है।” (गिरिजाकुमार माथुर)

कवि को विदवास है कि शोषितों को—“श्रयति का वेरदान मिला है। उन्हें दुर्दम शक्ति का अभिमान होना चाहिए। पुरानी ज़िदगी के तार तौलने होंगे।”

(महेश्वर भटवागर)

नगर में साहूकार और लुटेरे हैं। दानवता है। साम्राज्य के “रक्तपात से मानवता की गति नहीं रुक सकती। पशुता लड़ती है। जटता की जड कटती जाती है।”

(नरेन्द्र)

उफ ! वंसा कठोर दारिद्र्य छाया हुआ है इस देश में

चांदी के टुकड़ों को लेने

प्रतिदिन पिसकर, भूखों भरकर

भंसागाद्यो पर मदा हुआ

जा रहा चला मानव जर्जर !

हे उसे चुफाना मूढ-शब्दें

हे उसे चुकाना शपना कर

किसी मूर्ख की ही परिभाषा
निज घर-बार बसाइए।
होयें कँटोली, आँखें गोली
लकड़ी सीली, लवियत ढोली
घर की सबसे बड़ी पत्नीली
भरकर भात पसाइए।

—रघुवीर मजराय

ध्रुव प्रेम गया। ध्रुव वह झिलमिल खो गई। व्यर्थ प्राया, गहरी कचोट भरा।
ध्रुव जब कवि पुकारता है कि—“हे अमृत! जन्मो! देवता राह देल रहे हैं।” (दिनकर)
तब मोह में डबावोले हृदय सहमा चेतन्य हो उठता है और दृढ़ होकर कह उठता
है—“बताओ, यह कैसे संभव है कि तुमको अपनाकर सबको ठुकरा दूँ? एक तुम्हारे पीछे
जग की आशाओं में घाग लगा दूँ? मैं अपना भी नहीं हूँ। मैं तो विश्व की यात्री बनकर
चलता फिरता हूँ। अपने ऊपर से मैं सबका सम अधिकार कैसे उठा दूँ?”

(राजेश शीक्षित)

क्योंकि “एक भोर नायक अस्यो की पनुता के बल के अभिमानी है, दूसरी और
मनुजता के रथक नि शस्य सिपाही खड़े हैं। जो पशुता का समर्थन करे वह निश्चय ही
पशु है चाहे वह पनी हो या परमेश्वर। न्याय ही पशु और मनुज की एकमात्र सच्ची
कसौटी रहा है।” (पर्यासिंह शर्मा ‘बमलेत’)। अब तो एक नया स्वप्न भी आसों के सामने
जाग रहा है। शीघ्र ही सूर्य-चंद्र, ग्रह-नक्षत्रों के ऊपर कल इमान के जागो की गर्वोली
जय-यात्रा होगी। अधर्मात्म्य, अधप्रकृति, पाप-पुण्य, देव और कर्मफल के मिथ्या स्वार्थी
सोपक नियम-विधान ध्रुव मानव का अधिक सोपण न कर सकेंगे। अपनी सत्ता का सर्व-
तन स्वामी बनकर मनुज अपनी और अवर पर अपना राज्य करेगा।”

(वीरेन्द्रकुमार जैन)

ऐसे समय में पीछे हटने का क्या काम! वहाँ से प्रारंभ हुआ यह सघर्ष, कहा
घा गया। वह किंतनी स्फूर्ति का अनुभव कर रहा है ध्रुव। “मनुज को आकाश से पानाल
तक सब कुछ श्रेय है। बुद्धि पर चेतन्य उर की जीत उसका वास्तविक श्रेय है। श्रेय तो
मानव की मानवों में प्रसिद्धि प्रीति है।” (दिनकर)

विद्रोही कहता है—“हमने फ्रांस में भयंकर क्रांति को ज्वाला जगाई। स्पेन में
स्वाधीनता की घाग लगाई। हम में हमने जारशाही का अनादा निकाला। हम जग में
जुगम करने का इरादा भी निहाल देंगे। हम विश्व में सग मानवों के एक-मे अधिकार
हैं।” (निरंजणदेव मेवक)

“एक बार फिर धर्मशाही का राजसिंहासन ढोल उठा है। युगों की सोई धांधी

“डस्ट बोन की गगन गुफा में काते चूहे रहते हैं। ‘नालिनी’ के नालमोदक में रोज नहाते रहते हैं। एक दिन की वान कही तवीयन सट गई। घर लौटे, पाया अपनी पूंज वही कट गई। तब से अब तक

एक सिरद्धा एक आसथा कटी पूंछ लहराए जाओ
दया-धरम-कस्तूरी-डिबिया नाभिचक्र सहलाए जाओ
‘सग-गच्छम्’ महामत्र - बीड़ी का मुडका मारे जाओ,
यही सिंदगी, यही धरम है लखचौरासाँ तारे जाओ।

दु खेध्वनुद्विग्नमना : सुखेषु धिगतस्सूह
वीतराग भय क्रोध नामदंभुं निरुच्यते ॥
स्वधर्मो निघन श्रेय परधर्मो भयावह ।

ॐ तत् सत् ।”

नामदं मुनि की गीता कैसी तीखी कघोट लिए है।

खाई हुई गुठली के प्रति भी उसकी ऐसी मजबूरी है कि वह उसे फंकता नहीं। फिर वह कर्तना करता है कि यह गुठली ठगेगी। उस समय का कितना आकर्षक वर्णन है

हरी घँघरिया पहन यह गुठली इठलाती नाचेंगी

कल परसो नरसो कभी न कभी आर्मों के अवार लगा देगी।

—वमनदेव

‘काले वन की शाम’ में प्रकृति का नये ढंग का वर्णन है—“सलोनी सोन चिरैया घघकार के जाल में फस गई। तरडाल में चमकीले कुहरे के विषधर लिपट गए। गोधूली की सजीली छाह में बक-पानें लहरा रही हैं, जंमे किसी बड़े पुल के नीचे से नौकाएँ जा रही हो। खोज कुज में बिखरे मोती, रही ज्योति की शनिया, जोगन की वात्सा डोलती कटती अजब कहानिया।” (गिरिधर गोपाल)

“ददं घन है, उसे न बहाओ, न भुलावे देकर भुलाओ। राह की राहत बने, उतनी दवा तो ठीक है। छाव का सहारा होता है, ले लो, मयर धर मत बनाओ।”

(जगदीश एम० ए०)

‘आरा मगीन’ में कुतल मेघ आधुनिक यत्र, मानव-कर्मठता और मानवीय सवेदनाओं का एकत्रीकरण करता है

“आरा मगीन का प्रश्नचिह्न तुम्हें नित आमत्रण देता है—चीरो चीरो ददं, यवन को और जीर्ण-शीर्ण को काटो-काटो। प्रश्नचिह्न के सम्मुख अपने करकमलों को अर्पित मत होने दो। घन वन ममंर, चंद्र मनोहर, मुमन गधधर को जड-धेज्ज में मह-महका दो। उन्हे बर्गवक्ष की मेजें, अलमारी, दरवाजे, पलग, चौखटें बनाओ, रेलों के

क्या करेगा प्यार वह भगवान को
क्या करेगा प्यार वह ईमान को
जन्म लेकर गीब में इन्तान को
प्यार कर पाया न जो इन्तान को।

—नीरज

सारे धर्मों का मूल कवि ने सहज पा लिया है। वह मनुष्य को प्यार करता है। क्योंकि भ्रम बंधन नहीं रहा। "भाज नर्द चेतना जागी है। वर्ग के बंधन बिखर रहे हैं। जातिधर्म के बंधन धूल में मिलकर धूल बन रहे हैं। भाज जन-जन के गले से जीत के नारे उमड़ रहे हैं।" (जगदीश)

हम एक परिवार देखते हैं।

नवभ्रम का कवि कितना भावविभोर है। वह सारी क्षुद्रताओं से दूरे हो गया

कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है।
मैं न खोया हूँ देश-काल की जग लगे खंभोर में,
मैं न खाड़ा हूँ जाति पाँति की ऊँची-नोची भीड़ में,
मेरा धर्म न कुछ स्याही शब्दों का सिर्फ गुताम है
मैं बस कहता हूँ कि प्यार है तो घट-घट मे राम है,
मुझसे मुम न कहो मंदिर-मस्जिद पर मैं सर टेकूँ
मेरा तो आराध्य आदमी, देवालय हर द्वार है।
कोई नहीं पराया मेरा घर सारा संसार है।

—नीरज

यह मधुसाता की एवता नहीं, बिना किसी शर्त की एवता है। इसमें सबको सहज स्थान है। क्योंकि परिवर्तन हो गया है। अब "धर्म बदला, देवता बदले। समय बदला हुआ है। हम इस नये युग के विधाता, शक्ति के ध्वजार हैं। हम धरा पर सर्व-जन-मुख-मुदर स्वर्ग बसाएंगे। हम मनुष्य को देवताओं पर न्योझावर करेंगे। संसार में कुछ भी नहीं है जिसके सामने हम नतशील हों। विश्व में सब कुछ हमारे लिए है। हम सब बराबर हैं। भाज जो दुनिया के लिए स्वप्न है, वह बल सत्य होगा। हम एक नूतन सृष्टि के निर्माण के आधार हैं।" (निरकारदेव सेरक)

समानता की प्रतिध्वनि उठ रही है। भाज कवि ने शक्ति का अनुभव किया है।

"भाज शहादत की उठनी भाङ्गी की लुकाठी कौन बन गया है? भाज महाशक्ति का चिरञ्जवत बंतालिव चारण योल उठा है।" (अचल)

इस प्रकार यह विभवाश्रित स्वर शक्ति भरता जा रहा है। वह प्रतिविया-

हम हरी चींटियाँ-जैसी हैं। हम आदिकाल से सब धिनयो की नियति घरा को मोसवती दूरो से मण्डित करने गिरिवन, मरुयल, नगर-दूहगाप रही हैं।" (नरेश मेहता)

"कोई भी यात्रा अब मुझे बहुत लम्बी नहीं है, कोई भी राह मुझे दुर्गम या दुस्तर नहीं है। हे मीत ! जब तुम साथ हो तो अब और चिंता कहा है। अब कष्टों के काटे मुझे फूलों से घटकर नहीं हैं।" (देवराज)

देवता और धर्म के डकौमले को देखकर कवि कहता है—“मंदिर के देव को अब उस जगह पहुँचा दो, जहाँ पर ढेर के ढेर देवता पड़े हैं। ये सग्रह की दस्तु हैं, ये भाग्य-विधाता नहीं। ये अब जिंदा नहीं, काल के चरण हैं।” (वशीघर पण्डा)

यात्रा अतहीन है। कवि ज्वरकर कहता है, “क्या कभी यह एक उजड़ी भाग-सी धूल-धूसर राह खत्म होने की न आणी? क्या यह सफर की अबुझ-अथाह प्यास एक दिन मुझे भी जाणी? क्या मेरे साथ यही सब ऊधते कस्बे, और पुराने पुल जाएंगे? क्या यह धनुष-सी दुहरी पाव से लिपटी हुई नदी मुझे बिल्कुल ही वीध देगी?” (धर्मवीर भारती)

कवि जिनना परिवर्तन चाहता है उतना पा नहीं सका है। साकेतिक व्यक्तित्वता महा युग का प्रतीक बनकर सामने आती है।

“गिरिपर्वत-वन लाघना नया भेध कुम्हलाए फूलों में नूतन गंध भरने आया है। इसको नभ में छा जाने दो। यह तुम्हें स्नेह, सौंदर्य, स्वाम्य्य सब कुछ देगा।”

(श्यामसुंदर 'अज्ञान')

“अब दिक्काल अज्ञान और भय का कारण नहीं है। प्रतिभ रण के लिए नर-नारायण अब कटिबद्ध हो रहे हैं। परम पावन-कारण क्षेत्र अब रणक्षेत्र बनेगा।” (नरेश शर्मा)

“फागून का अममनपन फैला है, घलस दुपहरी है। बेमन नीरस ध्वनिया प्रौढ़ा परकीया-सी पसरी है। पनीली रण हवाए चल रही है। कहते हैं बसत वीराया है, पर मुझे लगता है कि मैं जैसे मडमी में जकड़ गया हूँ।” (विद्याभूषण अग्रवाल)

“प्यार स्वतन्त्र है, मगर उसपर कहीं कहीं नियंत्रण भी है, जैसे खन्द कही मुक्ति है तो वही वन्दन।” (नीरज)

“एक पीली नाम ऐसी है जैसे पतकर का जरा घटका हुआ पत्ता। अब गिरा, अब गिरा वह झटका हुआ आगू साध्य तारक-मा है।” — (शमशेरवहादुर सिंह)

“दीप जलाकर रात गुजार दो, दोपहरी देह जलाकर।” (नेपाली)

“घानेवाला सवेरा होता है, जानेवाली शाम होती है।” (बलवीरसिंह रण)

‘चाद और भेध’ का वर्णन करते हुए कवि कहता है

“दिगा ने भी द्धिमा हाथी मजा फेंकी लगा, काखी रई-सा नभ को घुना और

तिब्बत के दक्षिण मेरा वृद्ध देश है—
 क्षीर सिंधु-सा महाहिमालय
 बरफ कंचुली मारे जैसे शीपनाग हों
 नीलगगन सेटा है जिस पर स्वयं विष्णु बन
 ब्रह्मपुत्र वह नाभिनाल है जिस पर
 तिब्बत गौर कमल-सा खिता हुआ है,
 पीला चीवर धारण कर

ब्रह्मा के जैसा चीन सुशोभित
 भये वेद के सामगान का पाठ कर रहा—
 बर्मा, हिन्दचीन की शतशत
 जनता, लदमी जंती
 जीवन के देवाधिदेव के
 चरणों में नतमस्तक बंठी—
 तीस सयें तक नयी सृष्टि हित
 ब्रह्मा ने सघर्ष किया है
 उसके नयनों में आलोक लौक हं
 घमकीले पक्षों के सूरज खेतों के हित
 सृजन कमण्डल में जलवाले
 मेघ हमारे नदियों के हित
 धावल के फूसों की माला पहने ब्रह्मा—
 पीत बालियोंवाले स्वर्णिम
 धन्न सिंधु पर
 उजले शांति हस पर उड़ते
 मानव भगल पान सुनाते ।

—नरेंद्र मेहरा

इस भगवतमय स्वप्न की भर्मा विश्व ने पूर्णतया साकार नहीं पाया है ।

आएगा एक दिन जब ऐसा भी होगा ।

एक दिन इतना भी नहीं था । गांवों में अब भी जीवन कितना विषम और दारिद्र्य है । वहाँ सघुसा को ही महान मान लिया गया है । अध्यात्म का सर्वोच्च गतोप है, परन्तु सतोप अभाव की कचोटों से उपजाया पराजय नहीं । समर्थ जब उग्र होकर दूसरे पर आक्रमण न करे, तब वह सतोप है । यदि ने ग्राम का एक चित्र देकर देश में खेतिहर व्यवस्था की दिबलना का कंसा हृदयप्राही वर्णन किया है :

इन्द्र भी पहला भूमिक था,
 वृत्र, जो जनशत्रु था, भ्रमचोर था,
 इन्द्र को उस शत्रु से लड़ना पड़ा था—
 और जल विजयी हुए—भ्रम की विजय थी।
 आज के हम इन्द्र हैं—हैं देवता भ्रम के—
 जान लें, पहचान लें सब
 आज के इस अमर, गोपक वृत्र को—
 जो जलाता फसल, मंदिर, नगर, जन के केन्द्र को।

—नरेश मेहता

घरती जाग रही है।

कवि किसान को बुलाता है। घरती का गुण है कि वह गूजती है। "ओ किसानों!
 तुम्हारी हरी घरती को भाग में अमय मानव पल रहे हैं। मुक्ति के नेता! सजग होकर
 दिगुल का निर्घोष कर दो।" (शिवमूर्ति मिश्र)

अत में मैं कहूंगा कि अभी बहुत बड़ी शक्ति और उसकी सभावना हमारे काव्य
 में छिपी हुई है। जनता में जिनका सामीप्य होना काव्य निखरता आएगा।

"जन-भावना की शिञ्जनी मधुर स्वर में बज रही है। आगामी मुक्त जगत् की
 वह कामना है वह स्वर। वह घादनी-सी मधुर है, प्रान काल-सी उन्मेषदात्री है। वह
 जगल, गाव, घर, नगर, गली में घूमती है। वह उड़िदगी की जीत का टिटोरा पीटती है।"

(हरिव्यास)

इधर 'प्रभात' की 'ऋतवरा' में जीवन की बड़ी ही गहन अनुभूति प्रकट हुई है,
 जिसमें हम जल, पृथ्वी, अग्नि, पवन और आकाश, मानव, प्रजा, नारी और चराचर को
 एक महान कर्मयज्ञ में सन्निहित देखते हैं। 'ऋतवरा' एक नया नीत का परधर है। आज
 जीवन बड़ रहा है

मनु की प्रजा बनी शनघा बिल्वरी दिशि-दिशि में भू पर
 धन-गिरि-गह्वर, समतल में, हिममण्डित ध्रुव के ऊपर।
 यह मानवता की सहस्र धारा अनन्त अविनाशी
 बनने चली विश्व-संस्कृति का जल-निधि जप-विद्ववासी।
 देशों में जन बँटे, बनी सरि-सागर की सीमाएँ
 घरती बँटी, एक नभ में पर सबके स्वर सहाराएँ।
 धर्म-जाति-रंगों-वर्णों की बनी नई दीवारों
 पर विराट जन-चरण न पथ की बाधाधो से हारे।
 मिली एक ही नीत गगन से सबको स्वर्णित दया

प्रतिन्रियावादियो मे घृणा है । और जहा भी मानव की स्वतन्त्रता का प्रश्न है, वहीँ उमे मास्वना मिलती है

मुझे भ्रमरीका का लिबर्टो-

स्ट्रु उतना ही प्यारा है

जितना मास्को का ताल तारा

और मेरे दिल मे पेरिंग का स्वर्गीय महल

मक्का-मदीना मे कम पवित्र नहीं

मं कानी मे उन धार्यों का शखनाद सुनतर है

जो बोल्गा से घ्राए

मेरी देहली मे प्रह्लाद की

तपस्याएँ दोनों दुनियाधों की चौखट पर

मुद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं

×

घाज मंने गोरों की होरी के घाँगन मे देला

और तारु के साए मे राजर्षि कुंग की पाया

तिक्कन के हाथ मे हाथ दिये टूए

और ताल्लतर्षि मेरे देहाती प्पिघ्नन होठों से बोल उठा

और भराणो की धाँधों मे नया इतिहास

मेरे दिल की कहानी की मुहाँ बन गया

मं जोश की यह भस्ती हूँ जो नेहदा की भवों से

जाम की तरह टकरानी है

मं पंत के कुमार द्यायावादी सावन-भादों की थोट हूँ

हिलोर लेते वयं पर

मं निराला के राम का एक धाँमू

जो तीसरे महापुद्ध के कठिन लौह पदों को

ऐटमी सूई-सा पार कर गया पाताल तक

—रन्गेरहादुर मिड

मनार की मुन्दर कृनिया उमे मुहाती है, वह चाहे कही की भी वयो न हों । उमे किमी प्रकार का भेद-भाव नहीं है । हो भी वयो ? जिमका आधार जीवन के प्रति प्रेम है, वह वयो उमे मक्मे स्नेह नहीं करेगा, जो कि जीवन को बरदान बनानेवाले है । उनमे तो शकाब्दियो, मन्कृतिदो और देग की शीमाघो को पार कर लिथा है । घृणा केवल उमेमे है जिमके द्वारा मार्ग रक्ता है । अन्यथा उमे मक्मे प्रेम है । वह अनन्त्य का अनुभव करना

हो सावधान! संभलो ओ ताजतहतवालो !
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है ।

×

तुम बफन चुराकर बँठ गए जा महलो मे
देखो ! गाधी की अर्थो नगी जाती है,
इस रामराज्य के सुधर रेशमी दामन मे
देखो सीता की साज उतारी जाती है,
उस ओर श्याम की राधा वह बून्दावन में
आतिगन-चुवन बेंच पेट भर पाती है ।
होसावधान ! संभलो ओ ताज तरतवालो !
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है ।

—धीरज

क्या सपा हुआ तीर है ! अचूक ! वह अब विनकुल निर्भय है । कंसी मामिकता
है इन शब्दों मे ।

“मानव का रोदन-कदन सुनकर मेरे श्वि की वाणी मुखरित हो जाती है । मैं
मानव के हित ममता को रसधार खोजता हू ।” (देवराज दिनेश)

जो बुद्ध है मनुष्य के सुख के लिए है । मनुष्य सुखी हो जाए । उसकी मुन्दरता
घोर निखर उठे । असतोष मिट जाए । दीनता दूर हो जाए

सृष्टि हो जाये सुरभिमय इसलिए
कटको मे फूल मुस्काता रहा ।

—नीरज

पह है उसकी कल्पना ! वह जानता है कि इस ससार मे—“जो आग ग्रीरो को
जलाती है, वह पहले खुद जलकर अपने तन को राख बनाती है । जो नदी गावो को बहाती
है, वह खुद पहले अपने कगार खा जाती है । हर नफरत को एक मुहब्बत का धूसा
दो । मरतो को जीने का पंगाम दिए आओ ।” (विरवम्भरप्रसाद तिवारी)

नफरत उसकी ज़िदगी का सहारा नहीं बन सकती ।

जीवित रहना है तो उसका आनन्द लेकर ।

“जीवन में सन्तो से गुंफराकर जीना है । सबसुच वही जवान है, जिसने जधानी
जग मे सधर्यों का विय धीकर भी मुस्कराती है ।” (देवराज दिनेश)

किन्तु दर्शन की उदान मे भी वह बिपमताओं को नहीं भूलता । वह उमे हर पल
याद बनी रहती है । एक दिन वह भूख से व्याकुल होकर बहता है

जहाँ कहीं से एक घठनी लानी होगी

शरभील नभ के सुरज-चाँद-सितारो को
पानी का यह घूँघट उगारना ही होगा।

—नीरज

पुरानी कला जो इस सत्य को नहीं देखना चाहती कवि उसका स्वरूप उधारकर सामने रखता हुआ कहता है कि—“वेशमं वामुरी ताशो मे बहुत वज चुकी है, बहुत वज चकी है, उमे बन्द करो।” (वीरेश्वरसिंह)

पुराने शृंगार के भी रूप बदल गए हैं। अब उनके सामने एक नई नैतिकता आ गई है।

“द्विदिन व्यापी प्रेम का अबसान हो गया है। अब तो एक प्रेम में सभी प्रेम की स्मृति के तार समा गए हैं।” (श्याममुन्दर खत्री)

इस प्रेम के लिए ससार को शांति चाहिए। धरंरता इसको ममाप्त कर देती है
फूलों की लारों पर खाते भौरें पछाँड
मुरदा तितलियाँ कफन श्रौंटे हैं बलियों का
चढ़ आया मलय समीरन की काला बुलार
सब खून तपेदिक चूस गई पय-मलियों का।

—नीरज

इसलिए अब तो जो गोपियों ने छीन लिया गया है, वह उन्हें वापस मिलना ही होगा। उसे कोई कब तक छिपाकर रख सकता है

आने दे शीघ्र धरा पर सावन की फुहार
अग्यथा समय की प्यास सिधु बन जाएगी
यदि जल न मिला तो सत्य भान ओ भ्रासमान
यह मिट्टी शोणित के संलाब बुलाएगी।
नीची हो जाती हैं चौदियाँ पहाड़ों की
जब प्यास तड़पकर अपना शीत उठाती है
धोने की पाँच बिबल हो उठते हैं सागर
जब वह निज रेगिस्तानी नहर धुमाती है।

—नीरज

धरंरता का अन्न हींसा तो नया उल्लास जागेगा। कवि उस उल्लास से परिचित है। वह कहता है

“भाज मरपट पर मृजन ने मद स्वर में मृष्टि की मधुरतम मुरली फूक दी है।
मीन की छाया तने सोई हुई बेहीश नहरें फिर उठ रही हैं। भाज इस बलवान क्षण ने
पर्वत को अपनी भजा में बाधकर चूर कर डाला है।” (हरिव्यास)

तू नवस सृष्टि की ऊया की नव सृष्टि अपने धर्मों में भर
बड़वाग्नि-बिलोदित ध्रुवधि की उत्तम तरंगों से गति ले
रघुल रवि - शशि की बंदी कर दृग्-बोयो का रघु बन्दीपर
कौपत्ती लडित को जिह्वा - सी विष - मधुमय दांतों में दावे
तू प्रकट हुई सहसा कंठे मेरी जगती में, जीवन में ?

तू मनोमोहिनी रमा - सी, तू रूपवती रतिरानी - सी
तू मोहमयी उर्वशी सदा तू मानमयी इन्द्राणी - सी,
तू दयामयी जगदम्बा - सी, तू मृत्यु सदा कदु, क्रूर, तिठुर
तू लयकरी कालिका सदा, तू भयकरी रद्राणी - सी
तू प्रीति, भीति, घासक्ति, घृणा की एक विषम सत्ता बनकर,
परिवर्तित होने को धाई मेरे घामे क्षण - प्रतिक्षण में।

—वचन

नागिन का 'कैनवास' बहुत ही बड़ा है।

"तू अपने कन में फुफकार लिए खचल फिरकी-सी फिरती है। तेरी भोषण हुकार
से दिग्गज भी काप उठते हैं। पल-भर में तेरा स्वर और मुद्रा बदल जाती हैं। तेरी हर
चिनवन में स्वर्ग-नरक के द्वार खुलते-मुदते हैं।" (वचन)

किंतु यह गार्भीय हमें सर्वत्र नहीं कविता में ऊभ-चूम करता हुआ नहीं मिलता।
हम जिस व्यापक भूमि में पहुँचे हैं, वहाँ विद्वत्ति भी कम नहीं है, जिससे कवि ढावाडोल
हो उठता है।

"जिदगी पीले गले कागज पर लिखी, कटी-पिटी, मिटी सतरों की तरह है। वह
सूखी के जाले, प्लास्टर के चपाठ, साती कनस्तर, चौकट बिछौने और उधार के समान
है। चिनिया बादाम के छिलके, बुभा 'स्टार' ' यही जिदगी है।" (संयद संपुद्दीन)

जिदगी के लिए कितनी बचोट-भरी बात कही है कवि ने। आज का जीवन
कितना उलझ गया है। तभी वह कहता है कि विज्ञान का विकास सब कुछ हिलाए दे रहा
है। फिर भी वह परिवर्तन को स्वीकार करने को विवश है, "पथ में पर्यर, ककड, काटे
तो बहूधा मिलते हैं। यदा-कदा ही मुक्ताता हुआ फूल मिला करता है। तबे जनम के लिए
कफन का प्यार मिला करता है।" (सकुन्तला सिरोडिया)

पुराने विषय भी फिर से बार-बार लिए जाते हैं। नारी को विभिन्न रूपों में देखा
गया है। परन्तु बहुधा नारी-सम्बन्ध में व्यक्तिगत कुछ प्रकट होती है। वहीं-वही मुदर
चित्र भी मिल जाते हैं। भारत की विधवा की प्रवस्था कंठी दयनीय है :

बलती धोमो,

भग ठहर-ठहर,

जाता है। अब भी कवियों की दृष्टि विविध विषयों की ओर जाती है। 'कोरे कागज से' ऐसी ही एक बहुत मुदर कविता है, इसमें कागज बहुत-से प्रतीकों का एक प्रतीक बन जाता है। ऐसी कविताएँ अगरेजी साहित्य में तो बहुत मिलती हैं, किन्तु हिंदी में कवि-सम्मेलनवाद के कारण प्रायः सस्ती नादुबला काम में आती हैं। कविता यों है

अभी हिमानी के टुकड़े-सा यह जीवन है ज्वेत
 कुन्द कुसुम-सा घबल हृदय, नन उज्ज्वल गंगा-रेत।
 मृदुल लचीला गात ध्वन से उडता सी-सी बार
 जैसे नौड़ खोजता कोई पक्षी पंख पसार
 अभी न घू पाई तुमको है जग की बाली स्याही
 काँट-झोट बदन की तुमपर आई नहीं तबाही
 अभी तुम्हारे जीवन का है छुद बड़ा स्वच्छन्द
 अभी नहीं देखे तुमने हैं कठिन दुखों के फन्द।
 अभी बिरहिणी के न बिरह का तुमपर प्रसित लेख
 अभी न प्राप्त-शोक विषय का तुमने पाया देख
 अभी न अपने को समेट तुम नेव कर सके बंद
 अभी न तुमपर लिखा गया है मधुर मिलन का छंद।
 विप्रकार ने अभी न चित्रित किए वसन्ती कुञ्ज
 प्रतिमान मृदुस्वप्न सद्ग जितपर बिलसरे प्रतिपुञ्ज
 अभी तलाशित कवरी में मृदु गूथ-गूथकर फूल
 किसी सुन्दरी ने न तूफें घूने की की है भून।
 पूर्ण तृप्ति की भाँति अभी तो नुम हो बिकृत मूक
 किसी विषयो के न हृदय से किए गए दो टुक।
 पृथ्वी को मानव ने तिस-लिस कितना दिया विगाड
 तुम कोरे ही ठोक ! करे-करते जो तिल का ताड

—हरिश्चन्द्रदेव रत्ना 'काउक'

इसमें बहुत ही कौमल व्यक्तता है और भावोन्मत्तता बड़ी गहरी है। इसी प्रकार नये कवि ने कौमल्य पर जीवन की गहरी अनुभूति उतार दी है। कौमल्य कासा है। बल्लभा की मूक ने उसे जीवन की मर्मांश दी है।

'कौमल्य' में कवि बहता है

"मैं कासिमा में रँद उज्ज्वल ज्योति तू। मैं अपने-के का कपन छोड़े हुए पावन सपेरा हू।" (मोहनलाल श्रीवास्तव)

'कानाकूमो' एक बहुत ही गहरी अनुभूति का ज्वलत प्रमाण है। ऐसी कविताएँ

भी प्रेम प्राप्त कर रहा है। और कवि ने कहीं भी प्रघार का सहारा नहीं लिया। इसी तरह कवि ने बहुत ही साधारण-सी वस्तु ली है—'दियासलाई की तीली' और कहा है

मुझे विश्वास है अमरा की बेला में
सूरज, सितारे प्रौं चन्दा जब किरनों का वंभव खो
अम्बर के चुन्लू-भर पानी में डूब, मर जाएंगे—तब भी मैं
शात कोकिल-पक्षी कमरे में
धसत की पत्ताश-पताका फहराऊंगी।

×

प्रकाश के गीत अंधेरे के अधरो पर गाऊंगी।

×

आकाश में चमकते-झमकते विशाल सूरज की
धरती पर उतरती हुई प्राणवान् धाती हूँ।

—श्रीराम वर्मा

कोकिल पक्षी कमरा—दूमर्यक है। कोकिल पख-सा काला और नमी से भरे वातावरण वाला। श्रीराम वर्मा की कलम में उगती हुई उत्तेजना है।

यहाँ मैं अभिव्यक्ति के कुछ नये रूप सामने रखता हूँ, जिससे हमारी भाषा की शक्ति प्रकट होती है। इस शक्ति से हमारा भंडार बढ रहा है। इसके साथ ही इसमें जीवन की अनुभूति भी है।

"बहती नदीरेख को अनिमेष मत देख। दु स घ्रीष्म का तापनल तक व्याप रहा- है। हर स्वप्न जलहीन है, दरकी हुई भूमि है। हर स्वप्न जलता हुआ स्वार्थ वादश है।" (जगदीश गुप्त)

"सब कुछ तो बदल गया, पर मुह का भाव नहीं बदला। सघर्ष, घुटन, हारी बाजी, लाचारी है, पर जीवन जीने का चाव नहीं बदला।" (अशितकुमार)

"मरुधल में ती अनुभूति की शिराओं में धनकर आत्मा तक केवल कुछ ही बूँदें भा पाती हैं। जहाँ ज्योति पानी बनकर बहनी है, वहाँ रुक जाओ। रदन ज्योति वा स्वभाव नहीं है, उसे जल मत समझो।" (जगदीश गुप्त)

"मरा और क्या मरे, इसलिए अगर जिए भी तो क्या? जिसे पीने को पानी नहीं है, वह लह का घूट पिए तो क्या हुआ?" (अज्ञेय)

"गहरा नीला धुआ उम छोटे पूरे गाव के मोमात पर जम गया है। खेतों के वरहों में चलता हुआ पानी थम गया है। मटर की भीगी उदास टाठ बंगनी बूटीवाली हरी माटी पहने दूर-दूर तक पसरी है। बढ बेकुल डूबे हुए मूरज के तिनारे एक प्रदनवाचक चिह्न बनकर उलटकर जडवन् सहम गया है। दिन के वे गीत जो हरे तानों जैसे पक्ष

जैसे घृणा और प्यार के जो नियम हैं उन्हें कोई नहीं जानता। यह कमी ताबारी है कि हमने अपनी सहजता ही एकदम बिसारी है। जो भी हो, सधर्म की बात तो ठीक है।" (कीर्ति चौधरी) कवि कहता है—“मुझमें अरक्षण सावन के तरल मेघ-सा जो लहराना है, रह-रहकर धन्य जाना है, उने प्लास्टिक के नपने में मत नापो वह अजब है, अमित है, क्योंकि वह मेरा है, मेरे दर्द में उभरा है। मैं हूँ मेरी घास्या है, इसलिए जो प्रवीक्षित है, वह अवश्य आएगा।” (मलयज)

“मैं वह हूँ जिमने सपन अभावों की डाल पर अपने हाथों अपने जीवन का छत्ता रचा है। बड़ी कठिनाई से थोड़ा-सा मधु इकट्ठा कर पाया हूँ। मेरे सहृद को चुरानेवालो, मैं नुम्हें क्षमा करता हूँ। अपने अस्तित्व की ऊँचाई तक जाने में जिम डगल को पकड़ो, उसको मत तोड़ो।” (पुरुषोत्तम सरे)

“चीखो मत ! चीख के बाद भी दरवाजा बंद न करने दूंगा ! बग पता तूफान की झकझोर से उखड़े, तनिक विश्राम को लनबा रहे दो पाव यहाँ तक आ यहुँचे और दरवाजा बंद पाकर, टूटती हिम्मत फिर साहम बटोरे लोट पड़े।” (कन्हैयालाल नन्दन)

“ओ पागल ! यदि तू सचमुच जीना चाहता है तो साधन नहीं, शक्ति माग। शक्ति से साधन मिल जाएंगे, परंतु साधन तुझे शक्ति नहीं दे सकेंगे।” (सिद्धनाथकुमार)

“ध्याना तट अहा था, बही रहा। धारा ही भाई, प्लावन की बेला में आज मैंने नई उप-संघि पाई है। निश्चय ही समर्पण ही मिट्टि है। जब वर्षा आणी तब स्वामी की एक बूद मोती बन जाएगी। छोटी-नी सीनी ही यह सिखाएगी कि रस का सही ग्रहण किनो बड़ी बात है।” (भारतभूषण अग्रवाल)

“संसार कभी बगारो से नहीं मिलना।” (गंगाप्रसाद पाण्डेय)

“रिमझिम-रिमझिम हो रही है। इद्रधनुष का झिलमिल बूटेशर दुपट्टा मोड़कर साफ़ हिंडोले चढ़ी भूच रही है। किवार खोलकर रह-रहकर बिजली झाककर गरजती-तडनी है।” (चंद्रदेवमिह)

साधुनिक 'प्रेम' पर वह व्यंग्य करता है—“प्लोमय के बगैर इसकी उलबिबि निजात घनभव है।” (कंलासा वाजपेयी)

“गतिरोधो से तो अच्छा है कि पशु हमें ले चले।” (सत्येन्द्र धीराम्भव)

“तुम्हारी अठारहवीं सरी की (आउट आफ डेट) हवेली, पुरानी पीढी के प्रति श्रद्धा के नाम पर अब भी चल रही है। इसका मगला हिस्सा तुडबाकर तुम इन्ने साधु-निव बनाना चाहते हो ? घानेवालो को बाहर ही बाहर नरुतो चेहरा लगाकर भरमाना चाहते हो ?” (नेशचंद्र वर्मा)

“जब पहला मूरख उगा तब मे हम 'बेन्द्र' की सत्ता स्वीकार कर प्रदर्शना कर रहे हैं। हमारे दाए-बाए समृद्धि है, जीवन है, धमनियों का संचय है, पर हम जीवन को

"जिसने भी धनमोल मदिरा पी ली, वह पार हो गया। इसी मदिरा को पीकर कलियो मे भौरे जीते हैं।" (मानन्द मिश्र) "मैं किरण-शक्ति का सिद्धांत हूँ। मैं तिमिर-पट पर लिखा हुआ एक ही अक्षर हूँ।" (निदात केलु) "वे जो मेरे दीपक के हाथों से रोमन पत्रकारों छीनकर उभे अधियारे के जाल में गिरा गए, वे जो मेरी बहार के पावों में प्रसून पायजेब उतार उभे व्यथाओं के दन में हिरा गए, वे जो मेरी ग्राम्या की झालों से अधवनी पुतलिया नोचकर उभे अनास्था के आवल में गिरा गए, वे जो मेरे सपनों के गावों से सत्वों के पुलराज बीन मुझे उजाड पिराती पीर, पिरा गए, वे सब, मेरी रचना-सीताओं के अनजाने शत्रुमीत थे, वे उभे जो 'प्रभु' था, अननुभूते विरा गए।" (राजा दुबे) "रस्मी के जाने-जाने से सिल कट जाती है। मजिल की बाधाओं में, जूने फँक देने से कम से कम तले की चिंता हट जाती है।" (भवानोप्रसाद मिश्र)

आस्था में "समय-व्याध के तीर से जैसे सब कुछ विद्ध है। इस सत्तार में तो जो दर्द को पीते हैं, मौजा पर पीते हैं। जिनकी उदासी का कुहरा गावों पर, फूलों के, पत्तों के, कलियों के, गीतों-सा है, वे रससिद्ध हैं। वे रससिद्ध हैं जो सड़कों के गलियों के कोनों पर सिर पर जल की सन्हाले लैम्पपोस्ट-से जागते हैं। वह व्यथा जिसमें आस्था नहीं, व्याथा है। वह व्यथा, व्यथा का आभास है। वह व्यथा की प्यास है। व्यथा तो घरती की है जिसमें व्यथा को आस्था के साथ धारण करने की असीम क्षमता है। व्यथा के हर रूप के प्रति अगाध ममता है। तप के प्रति निश्चल, निश्छल निष्ठा है।" (शिवकुमार धीवास्तव)

"मामने चलो जहा अर्थ की गहरी खाई है, वहीं भाग का उत्स है, सृजन-क्षण की दोपहरी है। बहा साधना स्वयं साध्य की छहरी छाया है।" (राजेश्वर शुक्ल 'राजेश') "मैं आस्था की चिनगी हूँ। शाश्वत हूँ। बीजों के कण बन खेतों पर बिखरी, माटी का मासक पी मैं सोना बन लिखरी, फलनों की बाली में। धरती के छातों में हरिल लेप बनी। मैंने ही आशा की खिडकी में प्रादि पुष्प मनु के अन्तर में झाका था।" (शरर भेष) "हारे की शर्तों पर अपना नाम मत लिखाओ। उड़नेवाली पालों में पत्थर मत बांधो। जब तुमने नूतानों में दाव लगाए हैं तो उन किरणों का ध्यान करो जो कल आएगी।" (प्रवाण-नारायण शुक्ल) "ओ विचरता की सजाओ! मैं बरेष्य हूँ, किन्तु मुक्त रहने दो। जो विलयन की सभावना की आपणित लेताओ! मुझे अपने छदों से विपुक्त रहने दो। धानपेप की जडना बाधक न हो, अदेय तो कुट्टनही है, परन्तु समर्पण नहीं दूंगा।" (राजेन्द्र किशोर) यह एक अजन्मे जी आवाज है जो मात्म-विषता के बन्ध देखकर कहता है— "तुम सबका दर्द मुझमें देना नहीं जाता। नब्बे दिन का दाकी सफर मुझे नहीं भाता। या! मुझे मुक्त कर दो। मैं अंधेरे से लडूंगा। मैं तुम्हारे द्वार सधेरा लाऊंगा।" (नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी) "देवता हूँ अभी आगे राह कितनी है। कौन देखेगा कि कितनी दूर था चुका हूँ। धीनयालाए मैं शून्य में बिलरा चुका हूँ।" (नन्दलाल पाठक) और वह कहता है—

"डस्ट बोन की गगन गुफा में काते चूहे रहने हैं। 'नातित्री' के नालमोदक में रोज नहाते रहते हैं। एक दिन की बान कही तवीयन सट गई। पर लौटे, पाया अपनी पूछ वही कट गई। तब से अब तक

एक सिरहा एक आसधा कटो पूंछ लहराए जाओ
दया-धरम-कस्तूरी-डिबिया नाभिचक्र सहलाए जाओ
'सग-गच्छम्' महामत्र - बीड़ी का मुडका मारे जाओ,
यही सिदगी, यही धरम है लखचौरासौ तारे जाओ।

दु खेखनद्विग्नमना : सुखेषु विगतस्त्रुह
धीतराग भय क्रोध तामदंमुं निरुष्यते ॥
स्वधर्मो निघन श्रेय परधर्मो भयावह ।

ॐ तत् सत् ।"

तामदं मुनि की गीता कैसी तीखी कचोट लिए है।

साईं हुई गुठली के प्रति भी उसकी ऐसी मजबूरी है कि वह उसे फंकता नहीं। फिर वह कलना करता है कि यह गुठली ठगेगी। उस समय का कितना आकर्षक वर्णन है

हरी घँघरिया पहन यह गुठली इठलाती नाचेंगी

कल परसो नरसो कभी न कभी आभों के अवार लगा देगी।

—सम्राजदेव

'काले वन की शाम' में प्रकृति का नये ढंग का वर्णन है—"सलोनी सोन चिरैया अघकार के जाल में फस गई। तरुजाल में चमकीले कुहरे के विषधर लिपट गए। गोधूली की सजीली छाह में बक-मार्गे लहरा रही है, जंमे किसी वडे पुल के नीचे से नौकाए जा रही हो। खोज कुज में बिखरे मोती, रही ज्योति की रानिया, जोगन की वातास डोलती कट्ठी अजब कहानिया।" (गिरिधर गोपाल)

"ददं धन है, उसे न चहाओ, न भुनावे देकर भुलाओ। राह को राहत वने, उतनी दवा तो ठीक है। दवा का सहारा होता है, ले लो, मगर धर मत बनाओ।"

(जगदीश एम० ए०)

'आरा मशीन' में कुतल मेघ आधुनिक यत्र, मानव-कर्मठता और मानवीय सवेदनाओं का एकत्रीकरण करता है

"आरा मशीन का प्रश्नचिह्न तुम्हें नित आमत्रण देता है—चीरो चीरो दर्द, यवन को और जीर्ण-शीर्ण को काटो-काटो। प्रश्नचिह्न के सम्मुख अपने करकमलों को अर्पित मत होने दो। घन वन मर्मर, चंज मनोहर, सुमन मधवर को जड-चेतन में मट-मटका दो। उन्हे वर्मवक्ष की भेजे, अलमारी, दरवाजे, पलग, चौखटें बनाओ, रेलों के

हम हरी चींटियों-जैसी हैं। हम आदिकाल से सब बिनयों की निपटि घरा को भोसवती दूबो में मण्डित करने गिरिवन, मरुथल, नगर-बूढ़नाप रही हैं।" (नरेश मेहता)

"कोई भी यात्रा अब मुझे बहुत लम्बी नहीं है, कोई भी राह मुझे दुर्गम या दुस्तर नहीं है। हे पीत ! जब तुम साथ हो तो अब और चिंता क्या है। अब बट्टों के काटे मुझे फूलों से षटकर नहीं हैं।" (देवराज)

देवता और धर्म के ढकोमले को देखकर बवि कहता है—“मंदिर के देव को अब उस जगह पहुँचा दो, जहाँ पर ढेर के ढेर देवता पड़े हैं। ये सग्रह की वस्तु हैं, ये भाग्य-विधाता नहीं। ये अब जिंदा नहीं, काल के चरण हैं।” (बशीर पण्डा)

यात्रा अतहीन है। कवि ऊबकर कहता है, “क्या कभी यह एक उजड़ी माग-सी धूल-धूसर राह खत्म होने को न आएगी ? क्या यह सफर की अबुझ-अयाह प्यास एक दिन मुझको पी जाएगी ? क्या मेरे साथ यही सब ऊघते कस्बे, और पुराने पुल आएंगे ? क्या यह धनुष-सी दुहरी पाव में लिपटी हुई नदी मुझे बिल्कुल ही बोध देगी ?” (धर्मवीर भारती)

कवि जितना परिवर्तन चाहता है उतना पा नहीं सका है। साकेतिक व्यक्तित्वता यहाँ युग का प्रतीक बनकर सामने आती है।

“गिरिपर्वत-वन लाघता नया मेघ कुम्हलाए फूलों में नूतन गंध भरने आया है। इसकी नभ में छा जाने दो। यह तुम्हें स्नेह, सौंदर्य, स्वाम्य्य सब बुझ देगा।”

(दयामसुंदर ‘अज्ञान’)

“अब दिवकाल अज्ञान और भय का कारण नहीं है। अतिम रण के लिए नर-नारायण अब वृष्टिबद्ध हो रहे हैं। परम पावन-कारण क्षेत्र अब रणक्षेत्र बनेगा।” (नरेन्द्र शर्मा)

“फागून का अममनपन फँसा है, अलस दुपहरी है। बेमन नीरस ध्वनिया प्रौढा परकीया-सी पसरी है। पत्तीली रण हवाए चल रही है। कहते हैं बसंत बीराया है, पर मुझे लगता है कि मैं जैसे मडकी में जकड़ गया हूँ।” (विद्याभूषण अग्रवाल)

“प्यार स्वतन्त्र है, मगर उसपर बहीन कहीं नियंत्रण भी है, जैसे खन्द कही मुक्ति है तो वही बन्धन।” (नीरज)

“एक पीली शाम ऐसी है जैसे पतझर का ठरा चटका हुआ पत्ता। अब गिरा, अब गिरा वह अटक हुआ आसू साम्य तारक-मा है।”—(धमशेरवहादुर सिंह)

“दोप जलाकर रात गुजार दो, दोपहरी देख अलाकर।” (नेपाली)

“आनेवाला सबेरा होता है, जानेवाली शाम होती है।” (बलवीर सिंह रण)

‘चाद और मेघ’ का वर्णन करते हुए कवि कहता है

“दिशा ने भी दृष्टिया हाथी मजा फेंकी लया, काकी रई-सा नभ को घुना और

इन्द्र भी पहला श्रमिक था,
 वृत्र, जो जनशत्रु था, भ्रमचोर था,
 इन्द्र को उस शत्रु से लड़ना पड़ा था—
 और जन विजयी हुए—भ्रम की विजय थी।
 आज के हम इन्द्र हैं—हैं देवता भ्रम के—
 जान लें, महवान लें सब
 आज के इस अमर, शोषक वृत्र को—
 जो जलाता फसल, मंदिर, नगर, जन के केन्द्र को।

—नरेरा मेहता

घरती जाग रही है।

कवि किसान को बुलाता है। घरती का गुन है कि वह गूजती है। “ओ किसानो! तुम्हारी हरी घरती की भाग ने प्रमथ मानव पल रहे हैं। मुक्ति के नेता! संजग होकर विगुल का निघोष कर दो।” (शिवभूति मिश्र)

अत मे मैं कहूंगा कि अभी बहुत बड़ी शक्ति और उसकी समावना हमारे काव्य मे छिपी हुई है। जनता मे जितना सामीप्य होगा काव्य निखरता आएगा।

“जन-भावना की शिञ्जनी मधुर स्वर मे बज रही है। आगामी मुक्त जगत् की वह कामना है वह स्वर। वह धादनी-सी मधुर है, प्रान काल-सी उन्मेषशक्ती है। वह जगल, गाव, घर, नगर, गलो मे घूमती है। वह ज़िदगी की जीत का दिटोरा पीटती है।”

(हरिव्यास)

इधर ‘प्रभात’ की ‘ऋतवरा’ मे जीवन की बड़ी ही गहन अनुभूति प्रकट हुई है, जिसमे हम जल, पृथ्वी, अग्नि, पवन और आकाश, मानव, प्रजा, नारी और चराचर को एक महान कर्मयज्ञ मे सन्निहित देखते हैं। ‘ऋतवरा’ एक नया नीत का परपर है। आज जीवन बड रहा है

मनु की प्रजा बनी शनघा बिलरी दिशि-दिशि मे भू पर
 धन-गिरि-गह्वर, समतल मे, हिममण्डित ध्रुव के ऊपर।
 यह मानवता की सहस्र धारा अनन्त धविनाशी
 बनने चली विश्व-संस्कृति का जल-निधि जप-विदवासी।
 देशो मे जन बैठे, बनी सरि-सागर को सीमाएं
 घरती बँटी, एक नभ मे पर सबके स्वर सहारा।
 धर्म - जाति - रणों - वर्गों की बनी नई दीवारों
 पर विराट जन-चरण न पय को आधाधो से हारे।
 मिली एक ही नीत गगन से सबको स्वर्गिल दया

प्रतिश्रियावादियो में घृणा है। और जहाँ भी मानव की स्वतन्त्रता का प्रश्न है, वहाँ उसे मानवता मिलती है

मुझे अमरीका का लिबर्टी-

स्टैंडू उतना ही प्यारा है

जितना मास्को का लाल तारा

और मेरे दिल में पेंसिंग का स्वर्गीय महल

मरजा-भदीना में कम पवित्र नहीं

मैं काशी में उन धार्यों का शखनाद सुनता हूँ

जो बोल्गा से आए

मेरी देहली में प्रह्लाद की

तपस्याएँ दोनों दुनियाओं की चौखट पर

मुठ के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं

×

घात्र मैंने गोरों को होरी के प्रांगण में देखा

और ताज के साए में राजर्षि कुंग की पाया

तिज्जिन के हाथ में हाथ दिये हुए

और त्रांससर्तिय मेरे देहाती पपिघ्न होठों से बोल उठा

और अरागो की धार्यों में नया इतिहास

मेरे दिल की कहानी की मुर्खों बन गया

मैं जोश की यह भस्ती हूँ जो नेरुदा की भवों से

जाम की तरह टकरानी है

मैं पंत के कुमार द्यायावादी सावन-भादों की बीट हूँ

हिलोर लेते वष पर

मैं निराला के राम का एक धामू

जो तीसरे महायुद्ध के कठिन लौह पदों को

ऐटमी सूई-सा पार कर गया पाताल तक